विद्वद्रत्नेमिचन्द्रविरचितः

सूर्यप्रकाश ग्रंथः

प्रेरक :

मुनि 108 श्री धर्मनन्दीजी महाराज

प्रकाशक एवं ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

- गणधराचार्य 108 श्री कुन्थुसागरजी महाराज संघ
- श्री महेन्द्र कुमार अखावत

महेन्द्रा स्टोर्स, मन्डी की नाल, उदयपुर-313001 फोन :- 416269

मुद्रक :

संदीप साह

राजू ग्राफिक आर्ट, मनिहारो का रास्ता, मोदीखाना, जयपुर, फोन :- (0141) 313339, 312587

द्रव्य दाता गण

1. श्री मनोजकुमार मदनलालजी जैन, डिग्गी मोहल्ला, ब्यावर, राजस्थान
2. श्री सुमति प्रकाश जैन, सी/61, पद्मनगर, अंधेरी-कुर्ला रोड, अंधेरी (ईस्ट) मुंबई, फोन : 8201942
3. श्री कल्याणमलजी जैन, मुंबई
4. महावीर मेटल, मुंबई
5. सौ. रेणूबेन सुशीलकुमार सेठ, स्वर्गीय मातुश्री सुशीलबेन की स्मृति में
6. स्वर्गीय श्री फुलचंदजी टिमरूवा की धर्मपत्नी श्रीमती कालीबाई, मु. मोडी, उदयपुर, (राजस्थान)
7. श्री ख्यालीलाल भाई फतेलाल जैन, टाया, मोडी हाल. अहमदाबाद
8. श्री पन्नालाल नथ्थुलाल नागदा, उदयपुर हाल मुंबई
9. श्री रविन्द्रकुमार भंवरलाल घडिया मु. मुंबई
10. श्री भंवरलालजी शंकरलालजी कुणावत, शिसवी हाल अहमदाबाद,

आशीर्वाद

प्राचीन ग्रंथों में सूर्य प्रकाश भी एक ग्रथ है। इस ग्रंथ में अनेक विषय इतिहास रूप में हैं। ग्रंथ के अन्दर अनेक विशेषता है। ग्रंथ पढ़ने पर पाठक को रूची होती है। आनन्द आता है, ग्रंथ बहुत अच्छा है। स्वाध्याय करने वाले को ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस ग्रंथ के कर्ता पं. नेमीचन्द ब्रह्मचारीजी हैं। इस ग्रंथ का ज्यादा प्रचलन नहीं है। पहले यह ग्रंथ एक बार छापा। फिर आचार्य 108 श्री विमलसागरजी की प्रेरणा से पुन: छपा। अब मुनिश्री धर्मनन्दीजी के उपदेश से पुन: छप रहा है । ग्रंथ का अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिये । सब लोगों को मूल तत्व का ज्ञान हो इसके लिये यह ग्रंथ पुन: छप रहा है। प्राचीन ग्रंथों का उद्धार होना चाहिये। उद्धार होने के बाद स्वाध्याय करना चाहिये, तब लाभ होता हैं। प्रकाशक को व दान-दाताओं को मेरा आशीर्वाद, महाराज श्री को भी आशीर्वाद।

गणधराचार्य कुन्थुसागर

मुनि 108 श्री धर्मनन्दीजी महाराज का जीवन परिचय व गुरु परम्परा

इस 20 वीं सदी के महा तपस्वी प्रथम आचार्य 108 श्री आदिसागरजी महाराज (अंकलीकर) जो जंगलों में रहकर तप एवं साधना करते थे। आपके पट्ट शिष्य आचार्य 108 श्री महावीरकीर्तिजी महाराज जो महा तपस्वी, समाधि सम्राट, चारित्र चूडामणि एवं 18 भाषाओं के ज्ञाता होने के साथ समस्त भारत में विहार करके जिन शासन की महत्ती धर्म प्रभावना की थी। आपकी कीर्ति गाथा अनेकानेक चमत्कारों से भरी पडी है। ऐसे महायोगी के परम प्रियाग्र शिष्य है 108 गणाधिपति गणधराचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज साहब हैं। आपने 18 वर्ष की अल्पायु में हुमचा सिद्ध श्रेत्र पर मुनि दीक्षा ग्रहण की एवं अपने गुरुवर द्वारा उनके समाधि समय पर गणधर पद प्राप्त किया। आपने पूरे भारत वर्ष में पद विहार करते हुए शताधिक दीक्षाएं प्रदान की एवं अनेकानेक ग्रंथों का लेखन, अप्राप्य दुलर्भ ग्रन्थों का भाषानुवाद कर पुनर्लेखन करके जिनवाणी का उद्धार, प्रचार-प्रसार किया। एकांतवादियों को शास्त्रार्थ की चुनौती देकर उनका मान-मर्दन करके स्याद्वाद् धर्म का परचम फहराया। ऐसे युग प्रमुख संत द्वारा राजस्थान में मेवाड़ प्रान्त के प्राचीन श्री अणिन्दा पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र का जीर्णोद्धार हुआ, नूतन जिनालय निर्माण व वृहत्तर कार्य हुए हो रहे हैं। आप महाप्रभावक गणधराचार्य श्री कुन्थुसागरजी महाराज के शिष्य मुनि 108 श्री धर्मनंदीजी प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन प्रेरक है।

मुनि श्री धर्मनंदीजी महाराज का पूर्व नाम धूलचन्द अखावत था। आपका जन्म वैसाख कृष्णा 11 संवत् 1984 को मेवाड़ (राजस्थान) प्रान्त के वल्लभनगर तहसील अन्तर्गत बाठेड़ा कलां ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम श्री खेमराजजी अखावत व माता का नाम श्रीमती भुरीबाई था। धार्मिक संस्कारों के कारण आपकी शुरु से ही धर्म में रुचि थी। आप नियमित रूप से सपरिवार वर्ष में एकाधिक बार तीर्थ वंदना व मुनि संघो के

दर्शनार्थ जाते रहे जिससे आपकी वैराग्य भावना प्रबल हुई। आपने अणिन्दा पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र पर सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री 108 विमलसागरजी महाराज से पांच वर्ष में गृह त्याग का संकल्प लिया। गणाधिपति गणधराचार्य श्री 108 कुंथुसागर महाराज जी से मुनि दीक्षा अणिन्दा क्षेत्र पर दिनांक 3 फरवरी, 1996 को लेकर यह संकल्प पूरा किया। आपके गृहस्थ अवस्था के दो पुत्र व तीन पुत्रियाँ हैं। दोनो पुत्र उदयपुर में ही रहकर व्यापार का काम देखते हैं। आपने इस प्रकार भरा-पूरा घर बार छोड़कर मुक्ति का मार्ग अपनाया। आपके बड़े भ्राता का नाम मगनलालजी था । इन्होंने भी समाधि सम्राट आचार्य 108 श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के संघ में कई वर्ष तक सपरिवार रहकर संघ की सेवा की व तत्पश्चात् उन्हीं के पट्टाशिष्य भारत गौरव 108 आचार्य श्री सन्मतिसागरजी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप मुनि श्री 108 उदयसागरजी महाराज के नाम से प्रसद्धि हुये। आप श्री की समाधि सोनागिरीजी सिद्ध क्षेत्र पर सन्मार्ग दिवाकर 108 आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज व चतुर्विध संघ के सानिध्य में मार्च सन् 1990 में हुई।

प. पू. मुनि श्री धर्मनंदीजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ ''सूर्य प्रकाश'' के पुनर्प्रकाशन की प्रेरणा दी। श्रावकजन इससे अवश्य ही लाभ उठायेंगे ऐसी आशा है। द्रव्यदाता इसके लिए बधाई के पात्र है, साथ ही प्रकाशक एवं सहयोगी भी। अंत में परम गुरुदेव गणधराचार्य 108 श्री कुंथुसागरजी महाराज व प. पू. मुनिश्री धर्मनंदीजी महाराज के चरणों में बारम्बार नमोऽस्तु करता हुआ प्रेरक की गुरु परम्परा व परिचय सम्बन्धी अपनी बात समाप्त करता हूं। त्रुटि को विज्ञ पाठक सुधार कर पढ़े व क्षमा करे। कोई सुधार के लिए त्रुटि हो तो सूचित करे । त्रूटि से कृपया ग्रन्थ के प्रकाशक को सूचित करें जिससे आगामी संस्करण में शुद्धि की जा सकें।

5 अगस्त, 1999

महेन्द्र अखावत, उदयपुर

दो शब्द

जैन तत्व के इस ग्रंथ सूर्य प्रकाश की भाषा संस्कृत के समान है परन्तु प्रचलित सस्कृत व्याकरण एवं कोष के अनुसार नहीं है। इसमें यह विशेष गुण है कि संस्कृत कम समझने वाले भी इसका अर्थ पढ़ते ही समझ सकते हैं।

साहित्य में चार भाषाएं ऐसी बताई है जिनमें साहित्य लिखने का काम होता है, उन्हीं में से एक अपभ्रंश भाषा है। इस ग्रंथ की भाषा को अपभ्रंश मानना चाहिये। हमारी इस कल्पना को ध्यान में लेकर साहित्य प्रेमी लोग इस ग्रंथ की भाषा पर विचार करेंगे तो बहुत कुछ उपयोग होगा।

यह ग्रंथ पंचम काल में होने वाली जैन धर्म की परिस्थिति पर तथा भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डालकर हेयादेय को दिखाने की इच्छा से निर्माण किया गया है।

इस ग्रंथ के कर्त्ता और निर्माण समय का निश्चय अंतिम प्रशस्ति पर से पाठकों को करना चाहिये। अंत में जो निर्माण काल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यान से पढ़े और मनन करें।

वीर सम्वत 2454 में आचार्यवर्य श्री 108 श्री शान्तिसागरजी महाराज ने अपने संघ के साथ कटनी शहर में चातुर्मास समाप्त किया था- संघ में ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्रजी महाराज भी थे। उन्होंने इस ग्रंथ को हिन्दी व्याख्यान सहित वहाँ पर लिखकर तैयार किया था और उसका वाचन संघ में किया जा रहा था तब संघ के दर्शनार्थ गांधी नेमचन्द मियाचन्द, गांधी खेमचन्द मियाचन्द और गांधी उगर चन्द मियाचन्द बीसा हुमड उतरेश्वर गोत्र वाले आये थे। इस ग्रंथ की नवीनता और विशेषता का वर्णन आचार्यवर्य श्री 108 शान्तिसागरजी महाराज के श्रीमुख से सुनकर इस ग्रंथ को छपाकर प्रसिद्ध करने की स्फूर्ति हुई और यह ग्रंथ सर्वप्रथम छपाकर प्रसिद्ध किया। इसके पश्चात् आचार्य श्री 108 विमलसागरजी ने प्रेरणा देकर प्रकाशन कराया।

यह सूर्यप्रकाश ग्रंथ अनेक नय सहित मिथ्यांधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है और भव्य भावों से सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते हैं और सदैव मान्य करते हैं परंतु दुर्जन इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे।

इस ग्रंथ के श्रवण मात्र से कुमार्ग को पुष्ट करने वाले मनुष्य मूक के समान स्तब्ध रह जायंगे। जैसे सर्प मंत्र से कीलित होकर स्तब्ध हो जाते हैं।

ग्रंथ का नाम सूर्यप्रकाश सार्थक है। समस्त धरा को प्रकाश करने वाला और सुमति का प्रदान करने वाला यह ग्रंथ है। इसलिये इसका पठन-पाठन मोक्ष की सिद्धि के लिये करना चाहिये।

सूर्य प्रकाश नामक यह ग्रंथ सज्जनों को महान हर्ष को बढ़ाने वाला है।

ओरंगाबाद समाज ने वर्ष 1998 में गणधराचार्य 108 श्री कुन्थुसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पार्श्वनाथ मंदिर में स्थापित किया। तब वहाँ के शास्त्र भण्डार का अवलोकन करने पर यह शास्त्र जीर्ण-शीर्ण अवस्था में एक-एक पन्ना बिखरा हुआ मिला। इसको जैसे-तैसे जोड़कर अध्ययन करने पर मालुम हुआ कि इस शास्त्र की इस भौतिक युग में जरुरत है क्योंकि समाज का पढ़ा-लिखा वर्ग धर्म मार्ग से भटक रहा है। इस शास्त्र में पूर्वाचार्यों के प्रमाण है जो देव, शास्त्र और गुरु के दृढ़ श्रद्धानी है वे तो सब समझ जायेंगे और जिनको श्रद्धान नहीं है उनसे हमारा अनुरोध है कि आप भी श्रद्धानी बनें। किसी के चक्कर में न पड़कर तत्व को समझने का प्रयास करें। धर्ममार्ग में आरुढ़ हो।

यही कामना है।

मुनिश्री 108 धर्मनन्दी

भारत गौरव गणाधिपति गणधराचार्य

श्री कुन्थुसागरजी महाराज के परम शिष्य

अनुक्रमणिका

क्र. स.	विषय परिचय	पृष्ठ
1.	ग्रंथ प्रारम्भयते श्रेणिक महाराज का वर्णन व पंचमकाल की धर्माधर्म प्रवृत्ति कैसी होगी ऐसा महावीर स्वामी से प्रश्न-पत्र उत्तर में-अनेक अधर्माचरणों का वर्णन तथा कुन्दकुन्द स्वामी की कथा, विदेह गमन (वैष्णव धर्म की उत्पत्ति गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बरों से कुन्द-कुन्द स्वामी का वाद)	1
2.	अष्ट द्रव्य के पूजन की, अभिषेक की, स्तवन की, जप की, प्रतिष्ठा की महिमा	99
3.	ध्यान की विधि	164
4.	अथ ढूंढक मतोत्पत्ति	183
5.	अथ व्रत प्रकरणम् (श्रावक के दान आदि कर्तव्य तथा सम्यक्त्व का स्वरूप व महिमा)	207
6.	श्री सम्मेदाचल प्रकरण	255
7.	श्री सम्मेदशिखर यात्राया विधि:	270
8.	श्री गिरनारी पर्वत का वर्णन तथा वहाँ पं. श्रीधरसेन मुनि का वर्णन तथा श्रुतावतार कथा	358
9.	ग्रंथ प्रशस्ति	370

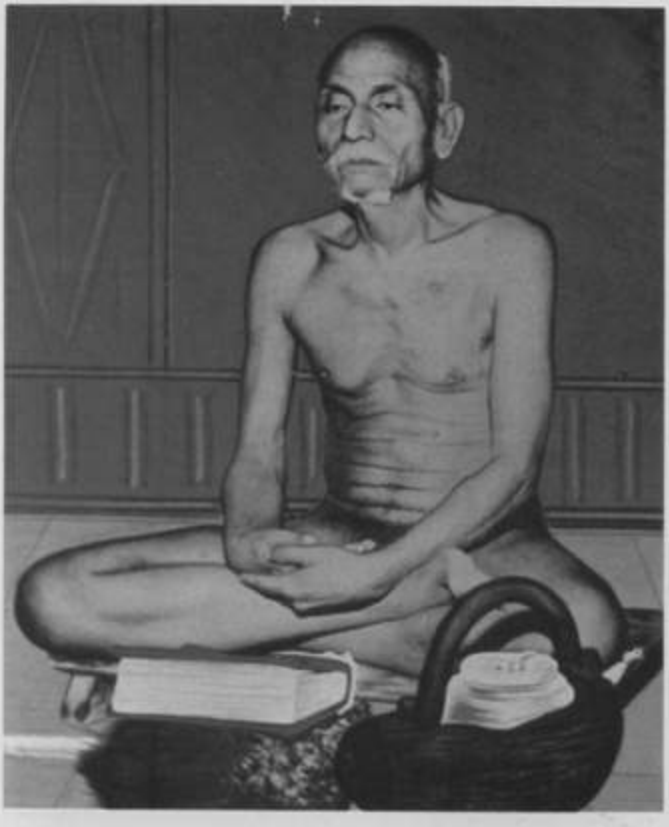

परम पूज्य आचार्य 108 श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

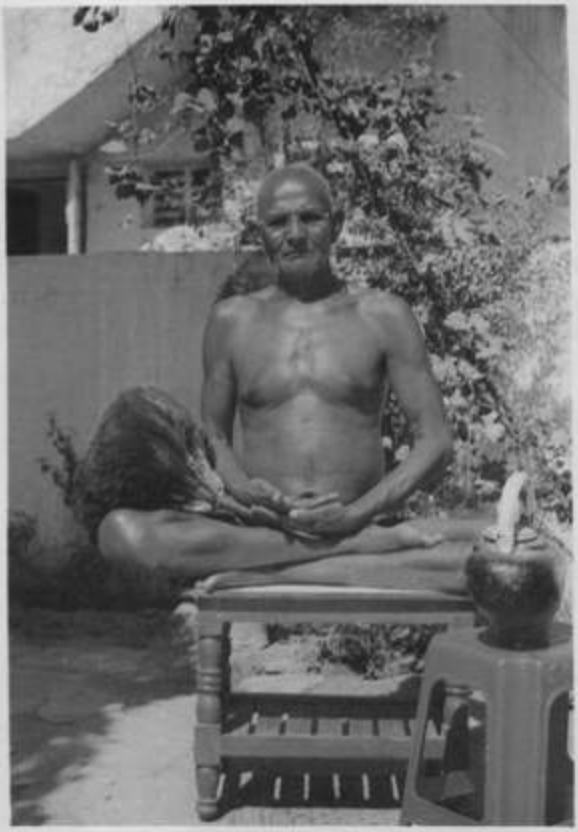

मुनि 108 श्री धर्मनन्दीजी महाराज

गणधराचार्य 108 श्री कुन्थुसागरजी महाराज के शिष्य

(मुनि 108 श्री उदयसागरजी महाराज के भाई)

विद्वद्वरनेमिचन्द्रविरचितः,

सूर्यप्रकाश ग्रंथः प्रारभ्यते

卐 मंगलम् 卐

श्रीमन्तं सर्वयोगीन्द्रवंद्यांन्हि सन्मतिं जिनम्। वंदे प्रारब्धसिद्धयर्थं सिद्धं सिद्धिकरं वरम् ॥ 1 ॥
शर्मदं शर्मभोक्तारं नेमिचंद्रं जिनेश्वरम् । वक्ष्ये सूर्यप्रकाशाख्यं ग्रंथमानंददायकम् ॥ 2 ।
वृषभादिजिनान् सर्वान् पंचकल्याणभूषितान् । ज्ञानाब्धिपारगान् शुद्धान् वंदे भवविहानये ॥ 3 ॥

अर्थ— अंतरंग अनंतचतुष्टयादि लक्ष्मी और बहिरंग समवसरणादि लक्ष्मी से सुशोभित, सर्व योगीश्वरों से पूजित, चार घातिया कर्मों का नाश करने से सिद्ध अवस्था (भाविनयकी अपेक्षा) को प्राप्त हुए, समस्त प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाले, श्रेष्ठ ऐसे वीर प्रभु को मैं, प्रबलतर मोहनीयादि कर्मों के नाश की सिद्धि के लिये, नमस्कार करता हूं। ॥ 1 ॥

भावार्थ—श्री वीर प्रभु के गुणों की अचिंत्य महिमा को प्रकट करने के लिये ग्रंथकर्त्ताने श्रीमंत आदि विशेषणों से यह बतलाया है कि जगत् में आभ्यंतर और बहिरंग लक्ष्मी से प्रभु वीर भगवान् अतिशय प्रभावित हैं। महान् ऋद्धियों के धारक योगीश्वरों से भी पूजित हैं। और समस्त प्रकार रागादि भावों का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे वीर भगवान् को नमस्कार करने से मेरे कार्य की सिद्धि हो ॥1॥

अर्थ—अनंतसुख के स्वामी, अतएव जगत् के जीवों को अनंत सुख के प्रदान करने वाले ऐसे श्री नेमिचंद्र जिनेंद्र भगवान् को नमस्कार कर परमानंद देने वाले इस सूर्यप्रकाश नामक ग्रंथ का वर्णन करता हूं।

भावार्थ— जिस प्रकार सूर्य के उद्योत से अंधकार नष्ट होकर आनंद की प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस सूर्यप्रकाश ग्रंथ से भव्य जीवों का चिरकाल का घोर मिथ्यांधकार नष्ट होकर उनको परम आनंद अवश्य ही प्राप्त होगा ॥2॥

अर्थ- गर्भ जन्म तप ज्ञान निर्वाण ऐसे पंचकल्याणों के द्वारा महान् अतिशय को प्राप्त हुए, समस्त प्रकार के दोषों से रहित, परम विशुद्धता को प्राप्त और ज्ञानरूपी समुद्र के पारंगत ऐसे वृषभादि चतुर्विंशति परम तीर्थंकर परमदेव को मैं संसार नाश करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥ 3 ॥

सर्वान् सिद्धानहं वंदे शर्ममग्रान् सदा खलु। लोकाग्रशिखरारूढान् तेषां सद्गुणसिद्धये ॥ 4 ॥
सूरीन् सर्वानंह वंदे षट्त्रिंशद्गुणभूषितान्। भुक्तिमुक्तिप्रदान् नित्यं नानर्द्धिगुणमंडितान् ॥ 5 ॥
पाठकान् बुद्धिवृद्ध्यर्थं वंदे देवेन्द्रवंदितान् । स्वयं पठंति सर्वाङ्गं शिष्यान् संपाठयंत्यहो ॥ 6 ॥
सर्वान् साधूनहं वंदे त्रिकाले ध्यानकारकान् । योगसंरोधने दक्षान् ध्यानज्ञानादिसिद्धये ॥ 7 ॥
जिनाननात्समुत्पन्नां भारतीं मतिवृद्धये । वंदे भवतु मे देवि । बोधलाभो भवे भवे ॥ 8 ॥
वंदे वृषभसेनादीन् ह्यग्रिपंचगुणान्वितान् । नानर्द्धिमंडितान् शुद्धान् गणाधीशान् सुरार्चितान् ॥ 9 ॥

अर्थ –लोक के शिखर के अग्रभाग में विराजमान और अनंत सुख में निमग्न ऐसे समस्त सिद्ध परमात्माओं को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ 4 ॥

अर्थ– पंचाचारादि छत्तीस गुणों से सुशोभित, अनेक प्रकार की ऋद्धियों से विभूषित, और स्वर्ग मोक्ष के प्रदान करने वाले ऐसे आचार्य परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ 5 ॥

अर्थ— जो ग्यारह अंग चौदह पूर्व को स्वयं पढ़ते हैं और शिष्यों को पढाते हैं तथा देवेन्द्र नरेन्द्र आदि से पूजनीक हैं ऐसे उपाध्याय परमेठी को बुद्धि की वृद्धि के लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ 6 ॥

अर्थ— तीन काल में ध्यान को धारण करने वाले, मन वचन काय का संरोधन करने वाले, इन्द्रियों को वश करने वाले, समस्त प्रकार के परिग्रह और आरंभ से विरक्त ऐसे साधु परमेठी को ज्ञान ध्यान की सिद्धि के लिये में नमस्कार करता हूं ॥ 7 ॥

अर्थ— श्री सर्वज्ञ–वीतराग–अरहंत प्रभु के मुखकमल से प्रकट हुई अनादिनिधन सरस्वती देवी को बुद्धि के विकाश के लिये नमस्कार हो । हे त्रिलोक को जानने वाली सरस्वती देवी ! आपके प्रसाद से मुझे भव भव में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो ॥ 8 ॥

अर्थ— त्रेपन गुणों से सुशोभित महान् अतिशयों को प्रकट करने वाली बड़ी–बड़ी ऋद्धियों से संपन्न, परम विशुद्ध, देवेन्द्रों कर वंदनीक ऐसे वृषभसेन आदि गणधर देवों को मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—28 मूल गुण और 25 उपाध्याय के गुण इस प्रकार दोनों गुण मिलाकर गणधर देव में 53 गुण होते हैं। गणधर देवों के मनःपर्यय ज्ञान होता है और भी अनेक सातिशय ऋद्धियां होती हैं। वे समस्त मुनीश्वरों के स्वामी होते हैं, तथा देव, मनुष्य और अहमिंद्रों को पूज्य होते हैं।

मुनीन्द्रान् जिनसेनादीन् वंदे धर्मप्रकाशकान् । दिशावासोधरान् वीरान् ज्ञानध्यानात्तमानसान् ॥ 10 ॥
जिनेन्द्रं शर्मदातारं सीमंधरमहं मुदा। दत्तं सुदर्शनं पूर्वं कुंदकुंदतपोनिधेः ॥ 11 ॥
पूर्वाख्ये सुंदरे क्षेत्रे विदेहे भव्यसंभृते । वंदेहं मुक्तिभर्त्तारं तत्पदाप्ताय केवलम् ॥ 12 ॥
कलंकनाशने वीरमकलंके दयापतिम् । वंदे बौद्धमतेभानां नाशने सिंहसदृशं (पाटवं) ।। 13 ॥
वंदे सकलकीर्त्याख्यं मुनीन्द्रं पावनं मुदा । चतुरशीतिग्रंथानां कर्तारं तत्पदाप्तये ॥ 14 ॥

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के मुख्य गणधर श्री वृषभसेन थे। इसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थंकरों के गणधर जानने। महावीर स्वामी के मुख्य गणधर गौतम स्वामी थे। ग्रंथकार इन समस्त गणधर देवों को बुद्धि की अतिशयता प्राप्त होने के लिये नमस्कार करते हैं ॥ 9 ॥

अर्थ— परम धर्म के प्रकाशक, दिशा रूपी वस्त्र को धारण करने वाले (भगवती दिगंबरी दीक्षा के धारक) ज्ञान ध्यान में लवलीन ऐसे जिनसेनाचार्यादि मुनीश्वरों को मैं नमस्कार करता हूं ॥ 10 ॥

अर्थ— स्वर्ग मोक्षके सुखों को प्रदान करने वाले, तपोनिधि आचार्यवर्य श्रीकुंदकुंद स्वामी को अपना दर्शन देकर कृतकृत्य करने वाले, भव्यजीवों से परिपूर्ण ऐसे पूर्व विदेह क्षेत्र को अपने अवतार से पवित्र करने वाले, मुक्ति रमणी के स्वामी, ऐसे श्री सीमंधर स्वामी को मैं आनंद के साथ उनके गुणों की प्राप्ति के लिये सदा नमस्कार करता हूं ॥ 11-12 ॥

समस्त प्रकार के कलंकों को नाश करने में साहसिक वीरोत्तम, दया के अधिपति और बौद्धमतरूपी उद्धत गजराज के नाश करने के लिये प्रबल सिंह ऐसे भगवान् अकलंक देव को नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यदि बौद्धराजा के नजर में जैन मत का रथ सबसे प्रथम उस के ही नजर में नहीं निकलता तो जैन धर्म के लिये यह एक बड़ी भारी कालिमा थी। उस कालिमा का नाश करने वाले और ज्वालामालिनी देवी के सहारे से, बौद्धों से स्थापित तारा देवी की अखण्ड शक्ति को नाश करने वाले और शास्त्रार्थ द्वारा जगत में जैनधर्म की प्रभावना स्थापन करने वाले अकलंक भगवान् के लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ 13 ॥

अर्थ— शुद्ध चारित्र के धारक, परमपवित्र और चौरासी ग्रंथों के निर्माणकर्ता यतीश्वर सकलकीर्ति आचार्य के लिये मैं उनके गुणप्राप्त्यर्थ नमस्कार करता हूं ।

भावार्थ—सकलकीर्ति आचार्यने चौरासी ग्रंथ बनाये हैं। यद्यपि इस समय समस्त ग्रंथ देखने में नहीं आते हैं तो भी उनमें से बहुत कुछ मिलते हैं ॥ 14 ॥

मंगलार्थं नमस्कृत्य एतेषां चरणाब्जयों : । वच्म्यहं च शृणुध्वं वै यथोचेमं बुधोत्तमा: ॥ 15 ॥

जंबूद्वीपोऽत्र विख्यातस्तन्मध्ये राजते महान्। क्षेत्रोहि भारतो नाम्ना रिपुखंडविमंडित: ॥ 16 ॥

तस्मिश्च शोभते ह्यार्यखंडो वै आर्यमर्त्ययुक्। देशे च मगधे ख्याते सर्वेषु चोत्तमे खलु ॥ 17 ॥

पूरो वै भाति देवानां नंदद: सज्जनैर्युत: । नाम्ना राजगृहश्चैव संभृतो धनधान्यत: ॥ 18 ॥

अर्थ—उपर्युक्त अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु और सीमंधरादि मंगलोत्तम परमेष्ठियों के चरण कमलों के मंगल कामना के लिये नमस्कार कर यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ कहता हूं। हे भव्योत्तम हो ! आप लोग आत्मकल्याण के लिये इसको सावधानतापूर्वक श्रवण करें ॥ 15 ॥

अर्थ—इस प्रसिद्ध जंबू द्वीप में भारत वर्ष नामका एक सुंदर क्षेत्र है। जो छह खंडों से सुशोभित है ॥ 16 ॥

अर्थ— उस भरतक्षेत्र में एक आर्य खंड है और पांच म्लेच्छ खंड हैं। आर्य खंड में उत्पन्न हुए मनुष्यों को क्षेत्रज आर्य[1] कहते हैं। उस आर्य खंड में एक मगध नामका सुंदर देश है। जो समस्त देशों से उत्तम है ॥ 17 ॥

अर्थ—मगध देश में– देवताओं को भी आनंद देनेवाला, ऐसा राजगृह नामका एक भव्य नगर था। जिसमें सज्जन जन निवास करते थे। और जो धन धान्यादि सुख सामग्री से परिपूर्ण था ॥ 18 ॥

---

1. क्षेत्रज आर्य एक समान नहीं होते हैं। उनमें भी जाति आर्य, कर्म, आर्य चारित्र आर्य आदि अनेक भेद हैं वैसे ही भंगी, चमार, कोली आदि क्षेत्रज आर्य होने पर भी अस्पर्श हैं । क्षेत्रज आर्यों में जिनको नीचगोत्र का उदय प्राप्त हुआ है ऐसे जीव अपने शरीर की स्थिति पर्यंत नीच ही रहते हैं उनके साथ जाति आर्यों का खान-पान संबंध व कन्याविवाहादि संबंध नहीं होता है। ऐसे मनुष्यों को मुनिव्रत धारण करने की योग्यता नहीं होती है। कितने ही कर्मज अनार्य होते हैं। जिनका चारित्र आचारांग शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध होता है। जो स्त्री का पुन:संस्कार (विधवा विवाह) करते हैं, जो विजातीय विवाह करते हैं जो अपने कुल व जाति के योग्य चारित्र के विरुद्ध मांस भक्षणादि करने लग जाते हैं वे भी अनार्य ही हैं।

क्षेत्रज आर्यों की अपेक्षा आर्य जाति अधिक पूज्य है। वे मोक्ष मार्ग के अधिकारी हैं। विशुद्ध कुल और विशुद्ध वंश में जो ऊंच गोत्र के उदय से उत्तम (चारित्र धारण करने योग्य) जाति में उत्पन्न हुए हों उनको जाति आर्य कहते हैं। जाति आर्य में सावद्य कर्म और निरवद्य कर्म आदि के कारण बहुत से भेद हैं। जाति कुल अनादि निधन हैं। और उनका संबंध नीच-ऊंच गोत्र से है । ऐसा नहीं है कि जिसका रोजगार (धंधा) ऊंचा हो वह ऊंच और जिसका धंधा नीचा हो वह नीच हो।

क्षमी दमी कृती पूज्यो निर्जरैर्वा नृभिर्नृपैः । शुद्धक्षायिकसम्यक्त्वराजितस्तेजस्वी गुणी ॥ 19 ॥
श्रीवीरजिनराजस्य सेवार्पितमनाः सदा । भोक्ता बंधुजनैः सार्धं शूरवीराग्रणीः खलु ॥ 20 ॥
त्रिवर्गपालने दक्षः प्रतापजितपूषणः । भुजैश्च खंडिताराती रूपेण मन्मथोपमः ॥ 21 ॥
पुत्रवत्स्वप्रजानां च पालको बुद्धिमान् शुचिः । दुष्टानां नाशकर्ता च न्यायवान् पुरुषोत्तमः ॥ 22 ॥
इत्याद्यन्यगुणैर्युक्तो नाम्ना श्री श्रेणिको नृपः । तस्मिन्नासीद्गुणैः पूर्णः ईदृशैरुज्वलैः परैः ॥ 23 ॥
तस्यासीत् भूपते राज्ञी चेलना शातदायका । नाम्ना शुभगुणैर्युक्ता दंभभावविवर्जिता ॥ 24 ॥
शुद्धशीलव्रतैर्युक्ता रूपेण निर्जिताप्सरा । भर्त्राज्ञापालका नम्रा धर्ममार्गविचक्षणा ॥ 25 ॥
मृगशावसमानेत्रा शुभा क्षायिकदर्शना । ज्ञानविज्ञानसंपन्ना गत्या च करिणीं जिता ॥ 26 ॥

अर्थ— राजगृह नगर का अधिपति क्षमावान् दयालु कृतकृत्य कामादि शत्रुओं का दमन करने वाला, नीति के समस्त कर्तव्यों को जानने वाला, देवताओं से पूज्य अथवा मनुष्य और राजाओं से पूजित, शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला, प्रतापवान्, तेजस्वी, महामना, गुणवान, श्री वीर भगवान् के चरण कमलों की सेवा करने वाला, जैन धर्म का परमभक्त, कुटुंब परिवारों की बहुसंख्या के साथ राज्य का उपभोग करने वाला, शूर-वीरशिरोमणि, धर्म-अर्थ काम पुरुषार्थों के पालन करने में समर्थ, अपने प्रताप कर सूर्य को भी तुच्छ करनेवाला, बलवान्, कामदेव के समान रूपवान्, प्रजा को पुत्र के समान पालन करने वाला, बुद्धिमान्, पवित्र, दुष्ट और दुर्जनों को निग्रहकर्ता (दंड देने वाला) नीति पर चलने वाला इत्यादि अनेक उत्तमोत्तम और पवित्र गुणों से विभूषित ऐसा श्रेणिक नामका राजा था ॥ 19-23 ॥

अर्थ— श्रेणिक महाराज के चेलना नाम की अत्यंत सुंदर गुणवती रानी थी जो कि सब रानियों में मुख्य थी। यद्यपि चेलना में अनेकानेक उत्तम से उत्तम और पवित्र से पवित्र गुण थे जिनकी गणना होनी अशक्य है। तो भी उनमें से मुख्य-मुख्य गुणों का दिग्दर्शन इस प्रकार है। शुद्ध शील और शुद्ध व्रतों को धारण करने वाली, दंभवृत्ति से रहित, रूप से अप्सराओं को जीतने वाली, अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने वाली नम्र, धर्ममार्ग के जानने में अतिशय निपुण, मृगके बालक के समान सुंदर नेत्रवाली, शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाली, ज्ञान और विज्ञान गुणों से विभूषित, गति से हथिनी की गति का भी तिरस्कार करने वाली, मन को हरण करने वाली, स्वामी को आनंद देने वाली, गुणवती, समस्त स्त्रियों में मुख्य, आठ प्रकार के मदों से रहित, धर्मगुरुओं की आज्ञा को अखंड रीति से पालने वाली, क्रोध रहित, श्रेष्ठ क्रियाएं जो श्री जिनेन्द्र

मनोवकहरा भर्तुर्मोदवारविमंडिता। वामासु खलु सर्वासु मुख्या ह्यष्टमदापहा ॥ 27 ॥
गुर्वाज्ञाधारका मन्युवर्जिता सत्क्रियान्विता। जिनार्चनरता भक्त्या वासरं प्रति शर्मणे ॥ 28 ॥
स्वमतस्थेषु वात्सल्पकरा न्यायादिभि: खलु। मुनीशिनां गृहस्थानां वेददानप्रदायका ॥ 29 ॥
यात्राभिश्चैव धर्मस्य वर्द्धका स्यंदनस्य वै। स्वपुरे भ्रामणेनैव सिद्धभूमौ निरालसा ॥ 30 ॥
प्रतिपद्दर्शनीं भूयो तामाप्य शर्मदायकाम् । तया सार्कं च संरेभे पूर्वसुकृतसंचयात् ।। 31 ॥
शर्ममग्नौ गतं कालं न जानंतौ च तस्थतु: अविराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्मं कामार्थदायकम् ॥ 32 ॥
एवं राज्यं प्रकुर्वाण: सावद्यादिविवर्जितम् । यावदास्ते सुखेनैव उदंतं शृणुथापरम् ॥ 33 ॥

देव ने आगम में कहीं हैं उनको पालन करने वाली, आगम के अनुसार अपनी जीवनचर्या को पालन करने वाली, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा भक्ति और सेवा आदि में नित्यप्रति तत्पर रहने वाली, अपने धर्म के अनुयायी गृहस्थों को भोजन पान आदि देकर वात्सल्य अंग को प्रकट करने वाली, व्रती पुरुषों की भक्तिपूर्वक वैयावृत्त्य आदि सेवा करने वाली, मुनीश्वरों को आहार दान-औषध दान-शास्त्रदान और वसतिका दान को भक्तिपूर्वक देनेवाली, जैनधर्मपरायण गृहस्थों की सेवा सुश्रुषा करने वाली, जैनधर्म की उत्कृष्ट प्रभावना प्रकट करने के लिये सदैव रथोत्सव मेला आदि महोत्सव करने वाली और सिद्ध भूमियों की यात्रा प्रतिष्ठादि के द्वारा अपने जीवन को कृतकृत्य मानने वाली और प्रमाद रहित, धार्मिक कार्यों में तत्पर रहने वाली थी। इनको आदि लेकर और भी बहुत से गुण चेलना रानी में थे॥ 24-25-26-27-28 -29-30॥

अर्थ— प्रतिपदा के चंद्रमा के समान आल्हाद करने वाली और सुखों को प्रदान करने वाली ऐसी अपूर्व स्त्री को पाकर श्रेणिक महाराज पूर्व भव के सातिशय पुण्य के योग से उसके साथ मनोहर भोगों का सेवन करता था ॥ 31 ॥

अर्थ—चेलना महारानी और श्रेणिक महाराज ने पूर्व पुण्य के उदय से सुख में निमग्न होकर अपना व्यतीत होता हुआ काल भी नहीं जाना। परंतु समस्त प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाला श्रीजिनेंद्र भगवान् के धर्म का यथावत् पालन करने में यत्किंचिन्मात्र भी प्रमाद नहीं रक्खा ॥ 32 ॥

अर्थ— इस प्रकार श्रेणिक महाराज सावद्य प्रवृत्ति से रहित, सुखपूर्वक राज्य शासन को नीतिपूर्वक पालन कर रहे थे उस समय एक नवीन बात हुई वह श्रवण करना चाहिये ॥ 33 ॥

अथैकदा सभामध्ये आनंदरसनिर्भरः । वनपालः समागत्य भूपं नत्त्वा व्यजिज्ञपत् ॥ 34 ॥
राजेन्द्र शृणु मे वाचं विपुलाद्रौ जिनाधिराट् । महावीरो गुणैर्युक्तः समायातः शुभोदयात् ॥ 35 ॥
तस्य प्रभावतः सर्वे सिंहा नागा दुराशयाः । मातंगा मृगधेन्वाद्याः संजाता भद्रमानसाः ॥ 36 ॥
वसंतर्तं बिना सर्वे नगाः पुष्पफलोत्करैः । भूषितास्तृप्तिकर्तारि आसन्नेत्रमनोहराः ॥ 37 ॥
इत्याद्याश्चापरा शोभा या जाता वर्णिता मया । सा खलु मगधाधीश महदानंददायका ॥ 38 ॥
वनाधिप इति धृत्वा तस्थौ चोपायनं पुरः । तस्यैव कथयित्वा च मोदवृंदेन स तदा ॥ 39 ॥
मगधेशोऽपि तस्मै च दत्वा वै पारितोषिकम् ॥ स्वांगे स्थितं पुनः स्थानादुत्थायासौ मुदा कृती ॥ 40 ॥

अर्थ— अथानंतर-एक दिवस श्रेणिक महाराज सभा में विराजे हुए थे कि वहां पर आनंद से हर्षित एक वनमाली आया और महाराज को नमस्कार कर प्रार्थना करने लगा ॥ 34 ॥

अर्थ—हे राजेंद्र ! मेरे वचनों को कृपा कर श्रवण कीजिये। आपके पुण्य के उदय से विपुलाचल पर्वतपर अनंत गुणों के विकास से परमोत्कृष्ट पद को प्राप्त ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु पधारे हैं ॥ 35 ॥

अर्थ— उनके प्रभाव से दुष्ट अभिप्रायवाले ऐसे सिंह हाथी मृग गाय आदि क्रूर प्राणी अपना-अपना स्वाभाविक वैर भाव तजकर भद्रपरिणामी हो गये हैं ॥ 36 ॥

अर्थ— हे राजेंद्र ! और भी बहुत से चमत्कार हो रहे हैं । बसंत ऋतु के बिना ही समस्त वनावलि फल फूलों से पल्लवित हो गई है। तृप्ति को करने वाली और नेत्रों को प्रिय ऐसी वनराज की अपूर्व शोभा हो गई है ॥ 37 ॥

अर्थ— हे मगधाधीश ! इस प्रकार आनंद के देने वाली अनेक प्रकार की शोभा जो मैने वर्णन की है वह वन में हो रही है ॥ 38 ॥

अर्थ—श्री भगवान् महावीर स्वामी का विपुलाचल पर्वत पर पधारने का शुभ समाचार निवेदन कर और उनके प्रभाव से बिना ऋतु के फले फूले हुए फल-फूल की भेंट रखकर खड़ा हो गया ॥ 39 ॥

अर्थ—वह मगधेश्वर श्रेणिक महाराज उस वनपाल को अपने शरीर पर के समस्त वस्त्राभूषणों को प्रदान कर अत्यंत आनंद के साथ अपने सिंहासन से उठा ॥ 40 ॥

यद्दिशि आगतो वीरः तद्दिशि नमः अभ्यधात् । परोक्षा हि नतिर्लोके मतं सद्दर्शनोपमम् ॥ 41 ॥

पश्चात्स्वनगरे भेरी मानंदरसपूरिताम् । दापयित्वा वरैर्लोकैः स्वस्ववाहनभूषितैः ॥ 42 ॥

प्रयुक्तो वीरयात्रार्थं स प्रियो भव्यभावयुक् । पुष्पदीपादिद्रव्यौघैः संपन्नो नागवाहनः ॥ 43 ॥

आतोद्यैः सकलां काष्ठां रंजयन् पूजनोद्यतैः । चचाल नगरात्स्वस्य ससैन्य इव देवराट् ॥ 44 ॥

आरात् वीरजिनेंद्रस्य सरणं समवादिकम् । दृष्ट्वा गजात्समुत्तीर्य राज्यांकं च निराकरोत् ॥ 45 ॥

पद्भ्यां सकलभव्यौघैः सार्द्धं तन्मस्तकोपरि । गत्वा श्रीजिनस्थानस्य दत्वा प्रादक्षिणां मुदा ॥ 46 ॥

अर्थ—जिस दिशा की तरफ महावीर स्वामी पधारे हुए थे उस दिशा की तरफ मुख करके श्रेणिक महाराज ने वीर प्रभु को नमस्कार किया। सो ठीक ही है, क्योंकि परोक्ष नमस्कार भी लोक में सम्यग्दर्शन के समान माना गया है।। 41 ॥

भावार्थः—परोक्ष नमस्कार करने से विशेष श्रद्धा प्रतीत होती है। बिना विशेष श्रद्धा के परोक्ष नमस्कार हो नहीं सकता। इसीलिये वीर प्रभू को परोक्ष नमस्कार करना विशेष सम्यग्दर्शन के समान बतलाया है।

अर्थः— फिर श्रेणिक महाराज ने परम आनंद की देने वाली ऐसी घोषणा अपने नगर में करवाई और समस्त नगरनिवासियों को वीर प्रभु की वंदना के लिये चलने को कहा। नगरनिवासी अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर तथा वस्त्राभूषणों से सब प्रकार अलंकृत होकर महाराज श्रेणिक के साथ वीर प्रभु की वंदना करने को चले ॥ 42 ॥

अर्थः—श्रेष्ठ भावों से हर्षित महाराज श्रेणिक वीर प्रभु की पूजा के लिये रत्नों के थालों में पुष्प-दीप आदि मनोहर सामग्री लेकर और हाथी पर बैठकर चला ॥ 43 ॥

अर्थः—अपने प्रभाव से समस्त दिशाओं में प्रकाश करता हुआ वह श्रेणिक महाराज सेना सहित और पूजन की सामग्री सहित गमन करता हुआ देवेन्द्र के समान शोभा को प्राप्त हुआ ॥ 44 ॥

अर्थ—श्री वीर भगवान् के समवसरण को समीप आया देखकर श्रेणिक महाराज अपने हाथी से नीचे उतरा और उसने समस्त राज्यचिन्हों का परित्याग किया ॥ 45 ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक संपूर्ण भव्यों के साथ-साथ अपने मस्तक को विनय से नवाकर समवसरण में पैदल ही गये और बड़े हर्ष से श्रीजिनेन्द्र भगवान् के स्थान की प्रदक्षिणा दी ॥ 46 ॥

पश्चाद्धि द्वारमार्गेण प्रवेशमकरोत्स च । भूत्यावलोकनं चक्रे वीरराजस्य राजराट् ॥ 47 ॥
मानस्तंभादिस्तूपानां विज्ञोर्भूतिं व्यलोकयन् । ततः सोपि ददर्शाग्रे चेलनाचित्तरंजधीः ॥ 48 ॥
समाद्वादशमध्यस्थां गंधकुटीं मनोहराम् । पश्चात्तस्योपरि दृष्ट्वा तं जिनं भवनाशकम् ॥ 49 ॥
सिंहविष्टरमध्यस्थं तप्तकांचनभास्वरम् । तुर्यास्यभूषितं शुद्धं सार्व नेत्रमनोहरम् ॥ 50 ॥
वर्द्धमानं महादेवं मानमाया दिवर्जितम् । वागात्मभाग्यातिशयसंपन्नं च निरंजनम् ॥ 51 ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिक ने फिर द्वारमार्ग से समवसरण में प्रवेश किया और वहां पर समवसरण की महान दिव्य विभूति को आश्चर्य के साथ देखा ॥ 47 ॥

अर्थ—चेलना महारानी के चित्त को रंजन करने वाले श्रेणिक महाराज ने समवसरण में सबसे प्रथम मानस्तंभ और स्तूपादिकों की दिव्य विभूती को देखा और फिर, ॥ 48 ॥

अर्थ—बारह सभा के मध्य मनोहर गंधकुटी पर विराजमान और जन्ममरणरूप संसार को नाश करने वाले ऐसे श्री वीर भगवान को देखा ॥ 49 ॥

अर्थ—सिंहासन पर विराजे हुए तपाये हुए सुवर्ण के समान दिव्य कांति के धारक, महान देवों के भी अधिदेव, चतुर्मुख श्रीवर्द्धमान भगवान् देखे। जिनके मान मायादि एक भी विकार नहीं था, जो दिव्यध्वनि शुद्ध आत्मा और अपूर्व पुण्योदय से अत्यंत सुशोभित थे। जो समस्त प्रकार के दोषों से रहित परमविशुद्ध तथा समस्त जीवों के हितकारक थे। जिनके चार मुख थे। नेत्रों को

---

1. टीप- महान विभूति के स्वामी मंडलीक राजा श्रेणिक ने वीर प्रभू के समोसरण की विभूति को बड़े आश्चर्य से देखा । वीतराग सर्वज्ञ श्री वीर भगवान् के अवलोकन को छोड़कर विभूति को देखने का कारण क्या ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि एक तो वीर प्रभु की विभूति दिव्य थी जो राजा महाराजा और चक्रवर्ती के भी नहीं हो सकती है। इतनी महाविभूति के धारक अवश्य महान पुरुष हैं, इस प्रकार का ज्ञान श्रेणिक महाराज को उत्पन्न हुआ। जो बात मनुष्यों में आसाधारण है वह बात श्रीवीर प्रभु में है इस लिये वीर प्रभु जगत के प्रभु हैं । दूसरे— साधारण जनता विभूति आदि के देखने में स्वाभाविक रूप से उत्सुक रहती है। कितने भव्य परिणामी भगवानकी विभूति को देखकर तथा उससे भगवान की लोकोत्तर महिमा को जानकर सम्यग्दृष्टि हुए हैं और फिर भगवान् के गुणों में आसक्त हुए हैं। मंदिरों में आज चवर, छत्र, भामंडल आदि महान शोभा की जाती है उसका भी एक यही अभिप्राय है कि संसारी जीव दिव्य संपदा को देखते हुए श्रीजिनेंद्र भगवान का स्वरूप भी देखते हैं और उससे आत्मकल्याण करते हैं। जो लोग कहते हैं कि मंदिरों में छत्र चमरादि विभूतिकी क्या जरूरत है। वीतराग प्रभुको वह क्यों चाहिये ? उनको जिनधर्म की महिमा को प्रकट करने का तरीका मालुम नहीं है और भगवान का समोसरण कैसा था सो भी मालुम नहीं है।

कोट्यादित्याधिकतेज:कामदं मोहभंजकम् । सर्वदेवाधिदेवं वै शंकरं शरणार्थिनाम् ॥ 52 ॥
इन्द्रोरगनरेन्द्राद्यै: सेव्यांघ्रिं तामसापहम् । प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षितं तारकं वरम् ॥ 53 ॥
ईदृशं लोकपालेशं भूमिपालो हृदि स्फुटं । प्रापानंदं प्रदत्वाहि त्रिप्रभां च प्रदक्षिणाम् ॥ 54 ॥
वस्वंगविधिना तं च नत्वा इज्यां च तस्य वै । कृत्वाष्टशुभद्रव्यौघै: पापालिं नाशितुं स च ॥ 55 ॥
समारेभे पुनस्तस्य स्तवनं कर्तुमादरात् । पूर्वाहौघं कृतं यत्तन्नाशार्थं चाग्रहानये ॥ 56 ॥
तुभ्यं नम: सकललोकहितंकराय । तुभ्यं नम: सकलकर्मविनाशकाय तुभ्यं नम: सकलभूतसुतारकाय । तुभ्यं नमो जिनवरेंद्र सुखांकिताय ॥ 57 ॥
तुभ्यं नम: सकलदोषविवर्जिताय । तुभ्यं नम, सकलमर्मप्रदर्शकाय ॥ तुभ्यं नम: परमसेवकतारकाय । तुभ्यं नमो रतिपतेर्मदनाशकाय ॥ 58 ॥

तृप्तिकारक अतिशय मनोहर थे। जो करोडों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी समस्त प्रकार की कामना को प्रदान करने वाले, मोहका नाश करने वाले, शरणार्थी जनों को सर्व प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाले, इंद्र धरणेन्द्र नरेंद्र आदि महान पुरुषों से पूजित, मोहरूपी गाढ़ अंधकार को सहसा नाश करने वाले, प्रातिहार्यादि दिव्य विभूति से सुशोभित, संसार से तारक और जगत के ईश थे। ऐसे श्री वीर प्रभु को देखकर श्रेणिक महाराज अपने मन में अतिशय प्रसन्न हुआ और भगवान् की तीन प्रदक्षिणा दी ॥ 50-54 ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराज ने श्री वीर प्रभु को अष्टांग नमस्कार किया और पापों के नाश के लिए उत्तम और पवित्र अष्टद्रव्य से भगवान् की पूजा की ॥ 55 ॥

अर्थ— महाराज श्रेणिक ने पूर्व के पापों का प्रक्षालन करने के लिए और आगामी होने वाले पापों की शांति के लिए श्री वीरप्रभु का स्तवन करना प्रारंभ किया ॥ 56 ॥

अर्थ— हे वीर प्रभो ! समस्त जीवों के आप हितकारक हो इसलिए आपको नमस्कार है। समस्त कर्ममल के नाश करने वाले हो एतदर्थ नमस्कार है। समस्त प्राणियों के संसार समुद्र से तारक हो इसलिए नमस्कार है और चंद्रमा के समान सुख को प्रदान करने वाले हे जिनचंद्र !आपको नमस्कार है ॥ 57 ॥

अर्थ:— हे वीर प्रभो ! आप समस्त प्रकार के दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त हैं एतदर्थ आपको नमस्कार है। हे वीर, आप समस्त पदार्थों में सारभूत (समस्त पदार्थों का मर्म) आत्मा के प्रकाशक हो इसलिये नमस्कार है। हे भगवन् !आप अनन्य भक्त सेवकों के शीघ्र ही संसार से तारक हो एतदर्थ नमस्कार है और कामदेव के मद को नाश करने वाले हो इसलिये आपको नमस्कार है ॥ 58 ॥

तुभ्यं नमोऽखिलकषायविवर्जिताय । तुभ्यं नमोऽखिलभवोदधिशोषणाय ॥ तुभ्यं नमः परमकेवलज्ञानदाय । तुभ्यं नमः परमदेवजिनेश्वराय ॥ 59 ॥

तुभ्यं नमः सकलदर्शनधारकाय । तुभ्यं नमः सकलज्ञानप्रकाशकाय ॥ तुभ्यं नमः सकलवीर्यसुधारकाय । तुभ्यं नमः सकलशर्मधराधिकाय ॥ 60 ॥

तुभ्यं नमः सकलसत्त्वहितंकराय । तुभ्यं नमो दशसुधर्मविवर्द्धकाय ॥ तुभ्यं नमः सकल्पापविनाशकाय । तुभ्यं नमः सकलतत्त्वप्रकाशकाय ॥ 61 ॥

तुभ्यं नमः सकलव्यर्तिविनाशकाय । तुभ्यं नमः सकलभूषण भूषकाय ॥ तुभ्यं नमः सकललोकविभासकाय । तुभ्यं नमः परमपूज्यनिरंजनाय ॥ 62 ॥

तुभ्यं नमो हतप्रमादजिनाग्रिमाय । तुभ्यं नमः परमदेवमुनीश्वराय ॥ तुभ्यं नमः परमशांतपदस्थिताय । तुभ्यं नमो वसुगुणांकितशर्मदाय ॥ 63 ॥

अर्थ:— हे भगवन् ! आपने चारों प्रकार के (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायों को नाश किया है एतदर्थ नमस्कार है। चार प्रकार नरक तिर्यंच मनुष्य देवगति रूप संसार समुद्र को शोषण कारक होने से नमस्कार है । परम केवल ज्ञान के प्रदान करने वाले हो इसलिये नमस्कार है । हे जिनेश्वर, हे परम देव, आपको नमस्कार है ॥ 59 ॥

अर्थ:— हे जिनेश ! आप अनंत दर्शन के धारक हो इसलिये आपको नमस्कार है। अनंत ज्ञान के प्रकाशक हो इस लिये नमस्कार है । अनंत वीर्य के धारक हो इसलिये नमस्कार है। और हे जिनराज ! अनंत सुख के स्वामी होने से आपको नमस्कार है॥ 60 ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप सकल जीवों के हित करने वाले दश प्रकार उत्तमक्षमादि धर्म के बढ़ाने वाले हैं, समस्त प्रकार के पापसमूहों के नाश करने वाले हैं। सकल तत्वों के प्रकाश करने वाले हैं। इसलिए आपको नमस्कार है ॥ 61 ॥

अर्थ—समस्त प्रकार की पीड़ा के नाशक-समस्त प्रकार के भूषणों से विभूषित समस्त लोक के प्रकाशक-समस्त दोषों से रहित परमपूज्य हे वीर प्रभो ! आपको बार-बार नमस्कार है ॥ 62 ॥

अर्थ—समस्त प्रकार के प्रमादों के निरवशेष नाशक होने से जिनवर पद को प्राप्त, केवलज्ञान प्राप्त होने से मुनीश्वर पद के धारक, वीतराग होने से परम शांत अवस्था को प्राप्त, और आठ प्रकार के गुणों से युक्त होने से समस्त प्रकार के सुखों के प्रदाता परम देवाधिदेव हे वीर ! आपको नमस्कार है ॥ 63 ॥

इत्याद्यनेकगुणव्यूहयुक्तं त्वां वीरवीरेशमहं नमामि ॥ सुरेन्द्रभूतिर्गणनायकोऽपि क्षमो हि नो वक्तुमहो गुणान् ते ॥ 64 ॥

गुणान् जिनाधीश कथं हि मंदः शक्नोमि ते वक्तुमहो सुरार्च्यः ॥ शरण्ययोग्यं मयि नाथ दीने दयां कुरूत्तारक तारय त्वम् ॥65 ॥

जनार्दनो वा खलु ब्रह्मणो वा शिवस्तथा केवल नामयुक्ताः । बारं बहु दृष्ट दयोज्झितो वै त्वं नो कदाचिदापि वीक्षितोऽपि ॥ 66 ॥

वरं न याचे सविधे तवापि त्रिलोकराजस्य जिनेंद्रदेव । किंतु हृदि स्वद्गुणसंततिर्हि मेस्तु सदा चिन्मय आशिषा ते ॥ 67 ॥

पुत्कारमेवं श्रृणु वीरनाथ करोमि देव सदयो भव त्वम् । अन्योहि देवो भवनेषु नास्ति त्वत्सदृशो दोषविकारहीनः ॥ 68 ॥

अर्थ—इत्यादि अनंत गुणों के समूह से सुशोभित हे वीर प्रभो ! आपको मैं नमस्कार करता हूं। हे वीर ! आपके समस्त गुणों का वर्णन करना मुझसे अशक्य है क्योंकि समस्त विद्या के पारगामी इन्द्र गणधर देव भी आपके समस्त गुणों को कहने के लिए असमर्थ हैं ॥ 64 ॥

अर्थ— हे जिनाधीश ! आपके गुणों का गान करने में मैं मंदबुद्धि सर्वथा असमर्थ हूं। भला जिन गुणों का गान इंद्र भी नहीं कर सका उनका मैं कैसे करू ? मात्र एक यही प्रार्थना है कि हे नाथ, मुझ दीन-अनाथ को शरण योग्य बनाइये और हे तारक, मुझे संसार समुद्र से पार करिये ॥ 65 ॥

अर्थ—हे भगवान् ! जगत में विष्णु ब्रह्मा-शिव शंकर आदि जितने देव हैं वे केवल नाम मात्र से ही विष्णु ब्रह्मा-शिव कहलाते हैं-उनमें ब्रह्मा विष्णु के गुण नहीं है। दयारहित मैंने उनको अनेक बार देखा परंतु कुछ भी लाभ नहीं। परंतु हे भगवान ! आप कभी देखे नहीं ॥ 66 ॥

अर्थ—हे स्वामिन्, जिनेंद्रदेव, त्रिलोकके नाथ, आपके समीप मैं कुछ वर नहीं मागता हूं। किंतु हे चिरदानंद, मेरे हृदय में आपके आशिर्वाद से आपके समस्त गुण विराजमान रहें ॥ 67 ॥

अर्थ—हे स्वामिन् वीर प्रभो ! अब मैं अपने भव भव के दारुण दुख से अत्यंत क्लेशित होकर दीनता के साथ पुकार करता हूं। हे प्रभो ! अब तो मेरी प्रार्थना को सुनिये । और मुझ पर दया कीजिये । क्योंकि संसार में आपके समान दोष और विकार से रहित अन्य कोई देव नहीं है । 68 ॥

अतो जिनाधीश क्षयं कुरु मे पापस्य, मोक्षस्य पदं प्रदेहि। संतारिता पापकलंकमग्ना ये चांजनाद्याश्च नराः त्वया च ॥ 69 ॥
इत्थं स चेलनाकांतः स्तुत्वा वीरं गणाधिपं ॥ गौतमादीन् मुनीन्नत्वा नृकोष्टेषु ह्युपाविशत् ॥ 70 ॥
वीतरागमुखोद्गीतां वाणीं संसारतापहाम् । समाप परमं मोदं श्रुत्वा श्रेणिकभूमिराट् ॥ 71 ॥
पुनः प्रश्नमिति चक्रे सर्वभूतहिताप्तये । स्वात्मनोऽज्ञाननाशाय तत्वानां च प्रकाशकम् ॥ 72 ॥
तीर्थाधिप महावीर संशयो मे प्रवर्तते। तस्य त्वं नाशकर्ता स्याः किंचित्पृच्छामि मैं वद ॥ 73 ॥
पंचमें कीदृशा भूताः का चेष्टा कीदृशी क्रिया। भविष्यंति कथं तेहि संज्ञन्यंति नवाच ते ॥ 74 ॥
इति मैं संशयो वीर हृदि हि वर्ततेतराम् । नाशेऽस्य त्वदृते स्वामिन्नन्यो देवो क्षमो नहि ॥ 75 ॥

अर्थ— हे जिनाधीश ! इसलिये मेरे पापों का क्षय करिये और अनंत सुखों का स्थान ऐसा मोक्ष पद प्रदान कीजिये । क्यों कि आपने अंजन आदि अनेक पापीजन संसार समुद्र से पार कर दिये ॥ 69 ॥

अर्थ :—इस प्रकार चेलना महारानी का स्वामी महाराज श्रेणिक गणों के अधिपति श्री वीर भगवान का स्तवन कर और गौतम गणधर देव एवं अन्यान्य मुनीश्वरों को नमस्कार कर मुनष्य के कोठे में बैठा ॥ 70 ॥

अर्थ:—श्रेणिक महाराज संसार के समस्त पाप समूह को नाश करने वाली ऐसी श्री वीतराग देव के मुखकमल से प्रकट हुई जिनवाणी को सुनकर परम आनंद को प्राप्त हुआ ॥ 71 ॥

अर्थ—फिर श्रेणिक महाराज ने समस्त जीवों के हित के लिये तथा अपने अज्ञान को नाश करने के लिये और समस्त तत्वों को जानने के लिये नीचे लिखा प्रश्न किया ॥ 72 ॥

अर्थ—हे तीर्थाधिप ! हें महावीर प्रभो ! मेरे हृदय में कुछ संदेह हो रहा है आप ही उसके नाश करने वाले हो इसलिये उस संदेह को दूर करने के लिये मैं कुछ पूछना चाहता हूं। दयाकर मुझसे कहिये ॥ 73 ॥

अर्थ— हे वीर प्रभो ! पंचमकाल में जीव कैसे होंगे। उनकी कैसी चेष्टा होगी। उनकी कैसी क्रियाएं होंगी। उनके आचरण कैसे होंगे। उनके विचार कैसे रहेंगे। उनको सुबोध प्राप्त होगा या नहीं ? सो सर्व खुलासा कहिये ॥

अर्थ— हे वीर प्रभो ! मेरे हृदय में यही संदेह जम रहा है। हे प्रभो ! आपके बिना अन्य किसी से उसका नाश नहीं हो सकता। क्योंकि आपके समान त्रिलोकका ज्ञाता सर्वशक्तिशाली अन्य कोई देव नहीं है ॥ 75 ॥

वदतांवर वीरेश तारक कल्मषापह । संशयस्य तिरस्कारं कुरु तीर्थाधिराट् प्रभो ॥ 76 ॥
इति प्रश्ने तदा वीरो दिव्येन ध्वनिना जनान् । मोदयन् सकलान् वक्तुं बीरराट् स प्रचक्रमे ॥ 77 ॥
शृणु त्वं भावितीर्थेश वर्णनं पंचमस्य वै । समासंख्यां तथा चेष्टामायुःकार्य क्रियां नृणाम् ॥ 78 ॥
पंचमाभिधकालस्य अब्दसंख्यां नराधिराट् । दुःखदां त्वं च ज नीहि सहस्रभूकरप्रमाम् ॥ 79 ॥
तावत्प्रमांच षष्ठस्य पुनः षष्ठस्य तत्प्रमाम् ॥ पंचमस्यापि भो भूप ! बुद्धस्व खलु तत्प्रमाम् ॥ 80 ॥
मुनिहस्तप्रभाः काया हायनं प्रतिहानिका: नो भविष्यंति यस्मिन् वै केवलाढ्य मुनीश्वरा : ॥ 81 ॥

अर्थ— हे वदतांवर ! हे वीरेश हे संसार तारक हे पाप नाशक हे तीर्थाधिराट् हे सर्वज्ञ, मेरे उक्त संशय को दूर करिये ॥ 76 ॥

अर्थ:—श्रेणिक महाराज के इस प्रकार प्रश्नों को सुनकर श्री वीर भगवान् समस्त द्वादश सभा को हर्षित करते हुए दिव्य ध्वनि के द्वारा उत्तर कहने लगे ॥ 77 ॥

अर्थ:— हे मगधेश श्रेणिक महाराज, हे भावि तीर्थेश ! पंचम काल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की चेष्टा धर्माचरण विचार आयु-काय और उनकी क्रियायें तथा वर्ष प्रमाण कहता हूं उसको सावधान होकर श्रवण कर ॥ 78 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! पंचम काल 21 हजार वर्ष का है। वह अतिशय दुःखकर है। इस श्लोक में (शब्द संख्यां का अर्थ वर्षों की संख्या और सहस्रभूकरप्रमां का अर्थ 21 हजार है[1]।) ॥ 79 ॥

अर्थ— हे राजन् इक्कीस हजार वर्ष का ही फिर छट्ठा काल होगा अवसर्पिणी के छठे काल के बाद फिर भी इक्कीस हजार का छठा काल उत्सर्पिणी का आवेगा। उसके बाद उत्सर्पिणी का पंचम काल भी 21 हजार वर्ष का आवेगा। इस प्रकार ये चारों ही काल इक्कीस इक्कीस हजार वर्ष के होंगे ॥ 80 ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम काल में मनुष्यों का शरीर 7 सात हाथ का ऊंचा होगा । वह भी प्रतिवर्ष घटता ही जायगा। और उस पंचम काल में केवलज्ञान के धारक मनीश्वर उत्पन्न नहीं होगें।

1—भू का अर्थ पृथ्वी है जो एक है, कर हाथों को कहते हैं जो दो होते हैं । तथा अंकानां वामतो गतिः । संख्या बांई ओर से लिखी जाती है। इस हिसाब से भू कर का अर्थ 21 होता है। तथा सहस्र साथ में होने से इक्कीस हजार अर्थ होता है।

यस्मिन् काले भविष्यंति भूता ये पापमंडिता: चल'चित्ता: क्रियाभृष्टा मिथ्यामार्गस्य पोषका: ॥ 82 ॥

अन्नकीटा: कुरूपाढ्या वीर्यहीना मदोद्धता: । मिथ्यामार्गरता: क्रूरा देवगुर्वादिनिंदका: ॥ 83 ॥

भावार्थ—पंचमकाल में उत्पन्न हुए मनुष्यों को केवलज्ञान नहीं होगा । हां चतुर्थ काल में जन्म लेकर पंचम काल में केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है ॥ 81 ॥

अर्थ—जिस पंचम काल में उत्पन्न हुए मनुष्य बड़े पापी होंगे । जिनका मन बड़ा चपल होगा । उनके आचरण बड़े भ्रष्ट होंगे । उनके विचार और उनकी बुद्धि मिथ्यामार्ग को ही पुष्ट करने वाली होगी ॥ 82 ॥

अर्थ—पंचमकाल के मनुष्य अन्न के कीड़े होंगे कुरूपी होंगे वीर्यहीन होंगे, । तो भी मदोनमत्त होंगे । मिथ्या मार्ग में रत होंगे । क्रूर परिणामी ओर देवगुरू आदि पूज्य पुरुषों के निंदक[2] होंगे ॥ 83 ॥

भावार्थ— पंचम काल के मनुष्यों को पापाचरण की नीति प्यारी लगेगी । और पापाचरण को सदाचार बतलावेंगे । ऐसी राजनीतिके कानून बनावे जांयगे जिनसे पापों की वृद्धि हो । मनुष्य अपने पापों को पोषण करने के लिये ऐसे ग्रन्थों की रचना करेंगे जिन में भगवान की पवित्र आज्ञा के विरुद्ध अनेक प्रकार की मलिन बातों का संग्रह किया जायगा । जिनसे वे स्वयं भ्रष्ट होवें और धर्मात्मा भाइयों को भ्रष्ट करेंगे तथा मिथ्या मार्ग की पुष्टि करेंगे ।

---

1 मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकेदंशनम् । तस्यापि भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

भावार्थ—मर्कट-बंदर का मन बड़ा चपल होता है । यदि उस बंदर को शराब पिलादी जावे तो फिर क्या कहना । बंदर का चपल मन सौगुण अधिक चपल हो जायगा । और फिर मदिरापान किये हुये बंदर को बिच्छूओं से कटवा दिया जाय तो फिर उसके मनकी चपलता का क्या ठिकाना ? फिर उस पर एक भूत लगा दिया जाय तो चपल बंदर जो न कुछ करै वही गनीमत है । ठीक इसी प्रकार कुशिक्षा से चंचलचित्त मनुष्यों को नेता पदवी मिल जाय तो वे स्वयं तो क्रियाभृष्ट होते ही हैं और सारी समाज को क्रियाभृष्ट पापी बना डालने का प्रयास करते हैं । ऐसे दंभी चंचलचित्त नेता कदाचित् धर्म का भेष धारण कर लेवें तो फिर उसका कुछ भी ठिकाना नहीं रहता । समस्त धर्मशास्त्र की पवित्र आज्ञा पर पानी फेर कर अपनी मनमानी कल्पना को धर्म-शास्त्र बनाकर दुनिया को ठगते हैं । लोगों को भ्रष्ट करते हैं । खोटे उपदेश द्वारा मिथ्यामार्ग बढ़ाते हैं और अपने धर्म की, अपने धर्म-शास्त्र की, अपने गुरुओं की निंदा (अवर्णवाद) कर खुश होते हैं ।

2—पंचम काल के मनुष्यों के उत्तम संहनन और श्रेष्ठ संस्कारों का अभाव होने से मन और शरीर की कमजोरी इतनी अधिक होगी कि उनसे तपश्चर्यादि उत्तम आचरण (उपवासादिक) नहीं हो सकेंगे । इतना ही नहीं बल्कि उपवासादि पवित्र कर्मों का निषेध करेंगे । स्वयं अन्न के कीड़े होंगे । शक्तिहीन होने पर भी बड़े मदोन्नत होंगे । धर्म कार्यों में स्वतंत्र विचार फैलायेंगे और अपने अभिमान से मिथ्यामार्ग को बढ़ायेंगे । तथा देवशास्त्र गुरु की निंदा करेंगे— कोई देवको सर्वज्ञ नहीं मानेगा । कोई अष्टद्रव्य से पूजा का निषेध करेगा, कोई जिनदेव की मूर्ती को अस्पृश्य शूद्रों से पूजा प्रक्षालन करने का उपदेश देगा । कोई शास्त्रों की समालोचना अपने स्वतंत्र विचारों से युक्ति और आगमविरुद्ध करेंगे । और इस बहाने से अपना मतलब बनायेंगे । अपनी निज बुद्धि को आचार्यों की बुद्धि से उत्तम मानेंगे । मुनियों के सत्यस्वरूप की निंदा करेंगे । उनमें मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे और धर्म के स्वरूप में भी इसी प्रकार मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे । धर्म की पवित्रता नष्ट करेंगे । विवाहादिक धार्मिक क्रियाओं को व्यवहार कार्य बतलाकर शीलव्रत की महिमा को नष्ट करेंगे । विधवा विवाह करेंगे करेंगे । जाति पांति का लोप करेंगे । सदाचार की क्रियाएं नष्ट कर शूद्रों के साथ खानपान करायेंगे । इस प्रकार पंचमकाल में अनेक प्रकार देवशास्त्रगुरुओं की निंदा कर मिथ्या मार्ग बढ़ायेंगे ।

शिवविष्णुपरा ब्रह्मसेवाभक्तिपरायणा: । सर्वोत्कृष्टमंत स्वस्य त्यक्त्वा चान्यमते रता: ॥ 84 ॥

संसारार्णवसंमग्ना मोहमग्ना दुराशया: । निर्दया वैरसंयुक्ता स्वस्यैव पक्षनाशका: ॥ 85 ॥

आर्तरौद्रे सदा लीना निर्विचारा: क्रियोज्झिता: । नि:शीला निस्त्रपा दुष्टा दिवानिशिपमक्षका: ॥ 86 ॥

कंदमूलाशना: चर्मआज्यभक्षणतत्परा: । जंतुनिकायभूतानां घातका: कर्मवर्जिता: ॥ 87 ॥

अर्थ— पंचमकाल के मनुष्य-अपने सर्वोत्कृष्ट और पवित्र जैन धर्म को छोडकर अन्यमत के शिव, विष्णु, ब्रह्मा और कुगुरुओं की सेवा में लग जायंगे।

भावार्थ—पंचम काल के मनुष्य सत्य और असत्य की परीक्षा रहित होवें। जिससे उनको हिताहित का विचार नहीं होगा। वे सत्य जैन धर्म को छोड देंगे और मिथ्या धर्म को ग्रहण करेंगे ॥ 84 ॥

अर्थ—पंचमकाल के मनुष्य संसार रूपी समुद्र में ही निमग्न होंगे, मोह में निमग्न होंगे और दुष्ट अभिप्राय को अपने हृदय में धारण करेंगे। निर्दय होंगे। वैर को धारण करने वाले होंगे। तथा अपने धर्म का अपने आप नाश करने-वाले होंगे।

भावार्थ—पंचमकाल के मनुष्य संसार के बढाने में ही अपना धर्म समझेंगे। और संसार की उन्नति मानेंगे। हृदय में बडे भयंकर दुष्ट अभिप्राय रक्खेंगे। तथा जैनी भाई ही अपने जैन धर्म का नाश स्वत: करेंगे ॥ 85 ॥

अर्थ—पंचमकाल के मनुष्य-आर्त रोद्र ध्यान में ही लवलीन रहेंगे। विचार रहित होंगे। क्रिया रहित होंगे। शील रहित होंगे। लज्जा रहित होंगे। दुष्ट होंगे। और रात्रि दिवस भक्षण करने वाले होंगे।

भावार्थ— पंचम काल के मनुष्यों में सदाचार संस्कार-धर्म दान पूजादि शुभ क्रिया और भोजनपानादि उत्तम आचरणों का विचार नहीं रहेगा। धर्म का भेष धारण कर अधर्म को बढाने वाले होंगे। जो निर्लज्ज होकर विधवा विवाहादि अधर्म कैलावेंगे। और जैनधर्म को धारण कर जैनधर्म के विषय में ही दुष्ट अभिप्राय रक्खेंगे ॥ 86 ॥

अर्थ—पंचमकाल के मनुष्य कंदमूल आदि अभक्ष्य भक्षण करने वाले होंगे। चर्म में रखे हुए घृत आदि अपवित्र पदार्थ के सेवन करने वाले होंगे। छह प्रकार के जीवों के घातक होंगे। तथा धर्मकर्म और चारित्र से रहित होंगे ॥ 87 ॥

द्वाविंशतेरभक्षाणां भक्षका ज्ञानवर्जिता: [1]। आत्मशंसे कृताभ्यासा: परनिंदनचातुरा: ॥ 88 ॥

किंचिद् द्रव्यं च संप्राप्य मानाद्रिमस्तके स्थिता: । विभूतिहानिमालोक्य सदा शोके रता: खलु ॥ 89 ॥

जिनवाक्य[2]विहीनांगा: स्ववाक्यपोषणे रता: । मनोभिमतसंलीना: । पाखंडमतधारका: ॥ 90 ॥

अर्थ— हे राजन्! पंचमकाल के मनुष्य बाईस अभक्ष के सेवन करने वाले होंगे। धार्मिक श्रेष्ठ ज्ञान से रहित होंगे। जिनको अपनी आत्मा के प्रशंसन का ही लक्ष्य बना रहेगा, और धर्मात्मा बनकर दूसरों की मिथ्या निंदा करने में बड़े चतुर होंगे ॥ 88 ॥

अर्थ—पंचम काल के मनुष्यों के पुण्य कर्म के उदय से कुछ धन प्राप्त हो जावे तो वे फिर मान के पहाड़ पर बैठकर सच्चे धर्मात्माओं की निंदा करायेंगे और पाप कर्म के उदय से कदाचित धन की हानि हो गई तो सदैव शोक में आर्तरौद्र ध्यान करेंगे ॥ 89 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज! पंचम काल के मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवान के सत्य और प्रामाणिक वचनों की आज्ञा को पालने वाले नहीं होंगे। उनका श्रद्धान श्री जिनेन्द्र भगवान के वचनों में नहीं होगा परन्तु अपने असत्य और कल्पित वचनों को जनता में सत्य बतलायेंगे तथा अभिमान से अपने ही वचनों की पुष्टि करेंगे। अथवा कल्पित वचन गढकर नवीन मत का प्रचार करेंगे और अनेक प्रकार के ढोंग फैलाकर अंत में मिथ्यामार्ग की पुष्टि करेंगे।। 90 ॥

1—दर्शन मोहनी कर्म के तीव्र उदय से जीवों के श्रेष्ठ ज्ञान नहीं होता है। यद्यपि उनको ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से मिथ्याज्ञान अधिक होता है। भव्यसेन मुनि ग्यारह अंग का पाठी था तोभी उसको दर्शन मोहनी कर्म का उदय होने से उसको विवेक नहीं था-हिंसक व्यापार करने में उसको जरा भी ग्लानि नहीं हुई। इसी प्रकार वर्तमान समय में लोगों को कुज्ञान अधिक होता है। परंतु सत्यज्ञान नहीं होता। जिससे वे अपने कुज्ञान के मद में मदमाते होकर मदिरापान् करते हैं, मांस भक्षण करते हैं, होटलों में अभक्ष पदार्थों का भक्षण करते हैं। बाजार की अपवित्र वस्तुओं का सेवन करते हैं, नीच और म्लेच्छ लोगों के साथ खाते हैं। ऐसे लोग जूता पहनकर खाते हैं। जिनको अपनी आत्मा का स्वत: विश्वास (श्रद्धान) नहीं परंतु ढोंगी धर्मात्मा बनकर सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ और विद्वानों की निंदा करते हैं, मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका आदि चतुर्विध संघ की निंदा करने में बड़े चतुर होते हैं।

2—पंचमकाल के कितने ही ऐसे भी मनुष्य होंगे जिनका जिनवाणी में अंतरंग श्रद्धान सर्वथा नहीं होगा तो भी वे अपने को बड़े चतुर और धर्मनेता कहकर अपने मिथ्या वचनों को सिद्ध करेंगे। जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो। तथा ननगढंत जैनमत के समान नवीन मत स्थापित करेंगे। जिससे उनका मतलब सिद्ध होता हो वही उनका धर्मशास्त्र होगा। वे लोग अपने स्वार्थ और विषय कषाय की सिद्धि के लिये श्री जिनेन्द्रभगवान के वचनों का अर्थ भी उलटा ही करेंगे तथा सत्य और यथार्थ अर्थ को छिपाकर सदा अनीति और असदाचार ही फैलावेंगे।

साधुगुणविहीनांगा पैशून्या मानधारका: ॥ पूजका: कुपरस्थानां कुस्वना न्यायवर्जिता: ॥ 91 ॥
मतिहीन वसुहीना दाने ज्याव्रतविच्युता: । सातहीना गुणैर्हीना दंभयुक्ताऽक्षपोषका: ॥ 92 ॥
तैलधान्यं तथा हिंगुसामुद्रजाद्यनेकधा । वस्तुविषयसंलीना दयाव्रतविवर्जिता: ॥ 93 ॥

अर्थ:- हे राजन् ! पंचमकाल में ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिन में अपने पद के योग्य गुणों का अभाव होगा। वे लोग अपने स्वार्थ के लिये चुगली करेंगे। अभिमान को धारण कर धर्म का नाश करेंगे। तथा मिथ्यादृष्टि नीच आदि की वे लोग पूजा करेंगे। न्याय मार्ग का परित्याग करेंगे। और बहुत बकवाद कर[2] दंभ फैलायेंगे ॥ 91 ॥

भावार्थ—पंचमकाल के ऐसे भी श्रावक बहुत होंगे जिनसे भगवान की पूजा करना-दान देना-और व्रत पालन करना आदि एक भी पुण्य कर्म नहीं होगा। दांभिकरूप से वे अपना जीवन विषमय-कथाओं की पुष्टि में ही व्यतीत करेंगे ॥ 92 ॥

अर्थ— पंचमकाल के मनुष्य बुद्धिहीन, द्रव्यहीन, दान-पूजा व्रत आदि रहित, सुख रहित, गुण रहित, दांभिक और केवल इन्द्रियों के पुष्ट करने वाले होंगे।

अर्थ—पंचमकाल के मनुष्य अतिशय लोभ के कारण जीवों की हिंसा का विचार नहीं कर तैल, हींग, मछली, चर्बी, हाड़ आदि कुत्सित पदार्थों का व्यापार करेंगे-जिनको दया का जरा भी विचार नहीं होगा ॥ 93 ॥

1—वर्तमान जैन समाज में कितने ही दंभी श्रावक ऐसे भी है कि जो किसी न किसी बहाने से जिनेन्द्र भगवान की पूजा को ही उठा देना चाहते हैं। उनका इतना ही दुष्ट अभिप्राय नहीं किंतु भगवान की मूर्ति तक को मानने को तैयार नहीं हैं उनमें कितने ही तो दान देना नहीं चाहते। और स्वतः दान न देकर दूसरों की दान की परिपाटी मेंटते मुनिनिंदा-धर्मनिंदा शास्त्रनिंदा आदि निंदाओं के द्वारा पूज्य पुरुषों के महत्व को गिराकर मिथ्या मार्ग अथवा अन्याय में दान दिलाकर वाहवाही लुटना चाहते हैं।

2—वर्तमान समय में यह हो रहा है। कितने ही मनुष्य धर्म का भेष धारण कर लेते हैं परन्तु उनमें अपने पद के योग्य गुण नहीं होते हैं। गुणों का रहना दूर रहा किंतु उनके जैन धर्म का पूर्ण श्रद्धान भी नहीं होता है। तो भी वे लोग अपने स्वार्थ की सिद्ध और विषय कषाय का पोषण करने के लिये अनेक प्रकार धर्म के ढोंग फैलाते हुए देखे जाते हैं। परस्पर चुगली कर धर्म की निंदा कराते हैं और अपने मिथ्याभिमान को पुष्ट करने के लिये अधर्म और अनीति की वृद्धि करते हैं। ऐसे दंभी और मायाचारी लोग भोले लोगों को अपने चुंगल में फंसा कर अधर्म कराते हैं। मिथ्या मार्ग को बढ़ाते हैं।

समाज में आज अधर्म और अनीतिकी वृद्धि ऐसे ही ढोंगी पाखंडी और विषय कषाय सेवन करने वाले लोगों से हो रही है। धर्म का नाश करने में ही इनको शांति मालूम होती है। यह सब पंचमकाल की बलिहारी है।

वव्हारंभधराश्चैव परवंचनचातुरा: । राज्ञ: सेवाकरा: कृष्यारंभधारणतत्परा: ॥ 94 ॥

परेषां दु:खदा नीचा: क्रियाधर्मोशवर्जिता: । क्षत्रियाश्च द्विज वैश्या: स्वस्वधर्मविवर्जिता: ॥ 95 ॥

इत्याद्यगुणसंपन्ना मनुजा वा स्त्रियोऽपि च । अनुक्रमेण सर्वे ते मगधेश्वर निश्चयात् ॥ 96 ॥

नीचा हि राज्यभोक्तार: कुलजा: सत्त्ववर्जिता: । कृपणास्तेपि तस्मिश्च भविष्यंति न संशय: ॥ 97 ॥

अर्थ :— हे राजन् ! पंचमकाल के मनुष्यों के बहुत सा आरंभ होगा। ये लोग अपनी चालाकी से भोले लोगों के ठगने में बड़े निपुण होंगे। कितने ही तो राजा की सेवा करेंगे और कितने ही खेती आदि हिंसक आरंभ के करने में ही तत्पर होंगे ॥ 94 ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकाल के मनुष्य दूसरों को दु:ख देने वाले बड़े नीच होंगे। उनके आचरण धर्म के अंशरहित होंगे। पंचमकाल के क्षत्रिय अपने छात्र बल को खो बैठेंगे। ब्राह्मण अपने पवित्र कर्म और श्रेष्ठ आचार विचार को भूल जायंगे। वैश्य नीति का त्यागकर अनीति पथ से धन संचय करेंगे। उच्च वर्णों में धर्म की मर्यादा नष्ट हो जायगी ॥ 95 ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर श्रेणिक महाराज पंचमकाल के मनुष्यों में तथा स्त्रियों में इत्यादि अनेक प्रकार के दुर्गुण क्रम से बढ़ते जायंगे ॥ 96 ॥

अर्थ— हे राजन् ! पंचमकाल में नीच मनुष्य, जिनके धार्मिक संस्कार व विचार नहीं है और जो सदाचार की पवित्र नीति को मान्य नहीं करते हैं, राज्य करेंगे जिससे प्रजा में सदाचार और नीति का लोप हो जायगा। उच्च कुलीन क्षत्रियों में बल (क्षात्र धर्म) नहीं रहेगा। अथवा वे कृपण और लोभी हो जायंगे जिससे वे प्रजा को लूट-लूट कर अन्याय और अधर्म फैलायेंगे ॥ 97 ॥

जिनधर्मस्य[1] हानिर्हि समये समये घना । भविष्यति च उद्योतो खद्योतवत् नरेश्वर ॥ 98 ॥
कुकुला द्रव्यभोक्तारो न्यायहीनाश्च भूमिपाः । एधिष्यत्येव म्लेच्छानामुद्योतः प्रति वासरम् ॥ 99 ॥
शीलहीना भविष्यंति वामास्तस्मिन्दोद्धताः । त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यंति कालदोषतः ॥ 100 ॥
लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी होका नराधिराट् । शुद्धशीलधरा नापि भविष्यंति न संशयः ॥ 101 ॥
पंचमाम्निधकालस्य स्त्रियोऽपि मगधेश्वर । भविष्यंति रता नूनं भंडगानेषु निस्त्रपाः ॥ 102 ॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकाल में जैन धर्म की हानि समय-समय पर बहुत होगी। परन्तु फिर भी कभी-कभी खद्योत के समान जैन धर्म का उद्योत होता रहेगा ॥ 98 ॥

अर्थ— हे राजन्! पंचमकाल में नीच पुरुषों के घर पर लक्ष्मी बढ़ेगी। राजा लोग न्याय रहित हो जायंगे और म्लेच्छ लोगों का साम्राज्य जन धन कनक आदि संपत्ति प्रतिदिन बढ़ती रहेगी।

अर्थ— हे राजन्! पंचमकाल की स्त्रियां भी शील भ्रष्ट होंगी। धन कुशिक्षा और जवानी से मदमाती बनेंगी तथा काल दोष से अपने सुंदर पति को छोड़कर नोकर लोगों के साथ कुकर्म करेंगी ॥ 100 ॥

अर्थ— हे राजन्! पंचमकाल की लाखों करोड़ों स्त्रियों में एक स्त्री शीलवती होगी और शुद्ध शील का पालन करने वाली तो होंगी ही नहीं ॥ 101 ॥

अर्थ— हे मगधेश्वर! पंचमकाल की स्त्रियां लाज रहित होकर भंड गीत गाने में तत्पर हो जायंगी ॥ 102 ॥

1—पंचमकाल में यद्यपि अन्यमतावलंबियों से और मिथ्यामार्गी जैन भाइयों से भी जैन धर्म की समय-समय पर बहुतसी हानि होगी। जैन राजाओं के अभाव हो जाने से लोग निरंकुश बनेंगे, अपने आप ही अपने धर्म की हानि करेंगे और खुश होंगे। परन्तु फिर भी कभी-कभी मुनियों के प्रताप से और भव्य विद्वानों के प्रभाव से जैन धर्म खूब प्रभाव प्रकट करेगा और वह पंचमकाल के अंतपर्यंत नियम से रहेगा। जो लोग यह कहते हैं कि यदि जैन धर्म की रक्षा करना है तो विधवा विवाह-जातिपांति लोप और विजातीय विवाह चालू कर देना चाहिये अन्यथा पचास वर्ष में जैन धर्म का सर्वथा अभाव हो जायगा। ऐसी मिथ्या भीति बतलाते हैं वे लोग अपने विषय कषाय की पुष्टी के लिये धोखा देते हैं और समाज को भ्रम में डालते हैं। परंतु विचारशील मनुष्यों को यह दृढ श्रद्धान है कि जैन धर्म पंचम काल के अंत पर्यंत नियम से रहेगा और मुनि और विद्वानों के द्वारा खूब उन्नति भी करेगा। कितने ही मनुष्य यह भी कहते हैं कि शुद्ध वंश और शुद्ध रजवीर्य से उत्पन्न हुए मनुष्यों का शीघ्र ही अभाव हो जायगा, उनको भी इन जैन वचनों का दृढ श्रद्धान करना चाहिये। शुद्धवंश-शुद्ध जाति और शुद्ध वर्ण का अभाव कभी किसी काल में सर्वथा नहीं होता है।

प्रभूणां गानविद्यासु लज्जाधारणचातुरा: । विवाहे चान्यघस्रे वा त्यक्त्वा लज्जां च स्वेच्छया ॥ 103 ॥
भंडगानं च पितरौ सान्निध्येच नृणां तथा । विगीष्यंति कुतस्तेषां शीलरत्नंच दुर्लभम् ॥ 104 ॥
नश्यति भंडरागेण व्रतदान क्रियाफलम् । तीर्थयात्राफल सर्वं जाप्यादिकं च भो स्त्रिय: ॥ 105 ॥
भंडरागेण ना वामा षंडत्वं लभते तथा । निर्धवा यौवने स्याद्धि नानादु:खभोगका ॥ 106 ॥
ये दु:खाश्च जायंते स्त्रीणां दौर्भाग्यकादय: । ते ते सर्वेच भो भव्य भंडरागस्य कारणम् ॥ 107 ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) नवकोटि से पालन किया जाता है। नवकोटि से शील पालन करने वाली स्त्रियां कम होंगी जिनकी सीता के समान अग्नि में शील की परीक्षा होसके। परंतु काय से शील को पालन करने वाली स्त्रियां बहुत होंगी। यह नहीं है कि शील को धारण करने वाली स्त्रियों का पंचम काल के अंत तक अभाव हो जावे। शीलका सर्वथा अभाव किसी काल में भी नहीं होता है। हां कुशिक्षा और अज्ञानता से उनका अधिकांश भाग भ्रष्ट हो जावेगा।

अर्थ— हे राजन्! पंचम काल की स्त्रियों को श्री जिनेंद्रदेव (भगवान्) के गुण गाने में लाज आवेगी और विवाहादिक दिवसों में कुत्सित गान स्वेच्छा पूर्वक करेंगी उस समय लाज सब जाती रहेगी ॥ 103 ॥

पंचमकाल की स्त्रियां अपने माता पिता के सामने भी कुत्सित गान गायेंगी। और जन समूह में भी गायेंगी इसलिये उनका दुर्लभ शीलरत्न किस प्रकार रह सकता है। भावार्थ—प्राय: कुत्सित गाने वाली स्त्रियां अपने बड़ों के सामने ही भ्रष्ट हो जायंगी ॥ 104 ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि हे राजन्! इस कुत्सित गान के फल से इन स्त्रियों का व्रत-दान आदि पवित्र आचरण सब नष्ट हो जायगा तथा तीर्थयात्रा जप तप आदि सर्व व्यर्थ जायगा ॥ 105 ॥

अर्थ—इस भंडराग से स्त्री और पुरुष दोनों ही नंपुसक हो जायंगे और स्त्रियां यौवन अवस्था में ही नाना दु:खों का प्रदान करने वाले वैधव्य को प्राप्त हो जाया करेंगी ॥ 106 ॥

अर्थ—हे भव्य! दुर्भाग्य के प्रदान करने वाले जो जो दु:ख स्त्रियों को प्राप्त होते हैं वे सब भंडराग के गान के फल से ही होते हैं ॥ 107 ॥

अतो भो ललना यूयं भंडरागस्य सर्वदा । त्यागमेव कुरुध्वं वै केवलानर्थहान ये ॥ 108 ॥

कुलोत्तमं च संमाप्य भंडरागस्य या वधू: । गानं करोति वैवाहे सा मता चंडकामिनी ॥ 109 ॥

यदीच्छा रागगानस्य तद्धि गायंतु नंदये । मंगलाद्या: शुभा गीता प्रभोर्गुणमवास्तथा ॥ 110 ॥

नेमिनाथस्य वा चान्ये आदिवीरस्य वा गुणा: । विवाहस्यैव तेषां हि विवाहमंगलाप्तये ॥ 111 ॥

गूढच्छंदं तथा गद्य वरां प्रहेलिकां पुन: । पठथ कुरुथ चोचै: प्रश्नोत्तरमेहा स्त्रिय: ॥ 112 ॥

भंडरागे कुतो धर्मो धर्मादृते कुत: सुखम् । अतस्त्यक्त्वा मदं यूयं गायथ जिनसद्गुणान् ॥ 113 ॥

अर्थ:— इसलिये हे स्त्रियों, तुम केवल अपने अनर्थों को दूर करने के लिये इस भंडराग के गाने का सर्वथा परित्याग करो ॥ 108 ॥

अर्थ—उत्तम कुल को प्राप्त कर जो स्त्री विवाह आदि शुभ मांगलिक कार्यों में भंडराग का गान करती है, वह स्त्री चंडकामिनी के समान है ॥ 109 ॥

अर्थ:—हे स्त्रियों ! जो तुमारी इच्छा गान करने की हो तो श्रीजिनेंद्र भगवान् के मंगलगान और शुभ गीतों को खुशी से गाओ। जिससे पुण्य की प्राप्ति हो और पाप कर्म का नाश हो ॥ 110 ॥

अर्थ:—इसलिये स्त्रियों को विवाहादि शुभ मंगलीक अवसर पर श्री देवाधिदेव आदिनाथ भगवान् या नेमिनाथ भगवान् आदि पुण्य पुरुषों के विवाह आदि के शुभ और मंगलीक गीतों को गाना चाहिये ॥ 111 ॥

अर्थ:—गूढ छंद-गद्य-पद्य-प्रहेलिका आदि शुभ और पवित्र धार्मिक गीतों को पढ़ो और धार्मिक प्रश्नोत्तरों को आत्मकल्याण के लिये खूब करो ॥ 112 ॥

अर्थ:— इसलिये भंडरागों के गाने में धर्म कहां है और धर्म के बिना सुख कहां ? अतएव सुख की प्राप्ति के लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सद्गुणों का गान करना चाहिये और कुत्सित गान का नाद छोड़ देना चाहिये ॥ 113 ॥

प्रभोर्गुणानुवादाच्च जायते मानसे मुद: । पापहानिर्यशो लोके पुण्यस्य संतति: खलु ॥ 114 ॥

प्रभोर्गुणानुवादेन समं पुण्यं न भूतले । चापरं स्वर्गराजोहि सदा गायंति तद्गुणं ॥ 115 ॥

भंडरागस्य या नार्यो त्यागं कुर्वंति ता: पुन: । दिवि सौख्यं च संपाप्य लभंते चाक्षयं पदम् ॥ 116 ॥

भंडरागमभावेन हत्वा शीलं पुनश्च ता: । अग्रे दु:खमनेकं हि पाप्नुवंति न संशय: ॥ 117 ॥

द्वयोर्हि रागयोर्भव्या: फलं ज्ञात्वा सुखाप्तये । मा श्रृणुध्वमहो तं च भंडरागं कुदु:खदम् ॥ 118 ॥

अर्थ:—भगवान् के परमोत्कृष्ट और पवित्र गुणानुवाद के गान करने से मन में अतिशय हर्ष होता है। जिससे पाप की हानि, यश की प्राप्ति और पुण्य की वृद्धि होती है ॥ 114 ॥

अर्थ—प्रभु के गुणानुवाद के समान अन्य किसी में पुण्य नहीं है। स्वर्ग के देवगण भी पुण्य की प्राप्ति के लिए प्रभु के गुणों का गान करते हैं ॥ 115 ॥

अर्थ—भंडराग का जो स्त्रियां परित्याग करती हैं वे स्वर्ग में अपूर्व सुख को प्राप्त होती हैं और क्रम से अक्षय पद को प्राप्त होती हैं ॥ 116 ॥

अर्थ— भंडराग से कितनी ही स्त्रियां अपने पवित्र शीलरत्न का नाश करती हैं और फिर उससे नरक के दु:खों को प्राप्त होती हैं ॥ 117 ॥

अर्थ—धार्मिक पवित्र गीत और कुत्सित भंडराग दोनों प्रकार के गीतों के शुभाशुभ फल को जानकर सुख की प्राप्ति के लिये धार्मिक गीतों का गान करना चाहिये और भंडराग को दु:खकारी समझकर नहीं गाना चाहिये तथा श्रवण भी नहीं करना चाहिए ॥118 ॥

अर्थ— हे राजन् ! जिस पंचमकाल में प्राय: बहुत से स्त्री पुरुष दुष्ट अभिप्रायवाले और धर्म से बहिर्भूत होंगे। उत्तम व्रत तथा उत्तम पवित्र श्रावक की क्रियाओं को पालन करने वाले भद्र परिणामी (सरल परिणामी) विशुद्ध हृदय वाले स्वल्प संख्या में होंगे।

यस्मिन् काले नराधीश नरा नार्यो घना: खला: । भद्रा हि स्वल्पसंख्याश्च क्रियाव्रतधरा वरा: ॥ 119 ॥

शिथिलाचाराश्च केचित् केचिदाचारवर्जिता: । केवलाभिधसंपन्ना यस्मिन् वै श्रावका: खलु ॥ 120 ॥

आचारधारका: केचित् तेषां निंदा भविष्यति । कालांते जिनधर्मोयं यत्र कुत्रैव स्थास्यति ॥ 121 ॥

द्रव्ययुक्ता नरा: केचिस्वात्मनि हर्षपूरिता: । भविष्यंत्यन्यमानुष्यं गणिष्यंति तृणोपमम् ॥ 122 ॥

अर्थ—हे राजन् उस पंचम काल में कितने ही मनुष्य शिथिलाचारी होगें तथा आचार रहित होगें। उस पंचमकाल में श्रावकजन केवल नामधारी जैनी होंगे। इन दोनों श्लोकों का अभिप्राय यह है कि कुशिक्षा और व्यामोह से मनुष्यों में मायाचारी और पापिष्ठता बढ़ जायगी। जिससे उनके परिणाम सदैव दुष्ट रहेंगे । इस अज्ञान और दुष्टता से वे अपने स्वार्थ और विषय कषायों को सिद्ध करने के लिये सदाचार पर पानी फेरेंगे । धार्मिक मर्यादा का नाश करेंगे। पवित्र आचरणों में शिथिलता करेंगे और उपदेशों के द्वारा करावेंगे जिससे शीलव्रत संयम चारित्र में लोग शिथिल होते जायंगे। परिणामों से सरलता नष्ट हो जायगी। और कदाचार बढ़ता जायगा। सदाचार और धर्म की मर्यादा की पुष्टि करने वाले सच्चे धर्मात्मा भद्र परिणामी मनुष्य बहुत ही स्वल्प संख्या में रह जायंगे। श्रावकगण केवल नाम मात्र के जैनी रह जायेंगे ॥ 119-120 ॥

अर्थ—हे राजन् पंचम काल में श्री जिनदेव के आगमानुसार आचार का पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भाइयों की कुशिक्षित लोग निंदा करेंगे तथा हे राजन् ! पंचम काल के अंत में यह जिन धर्म कहीं कहीं पर ही स्थिर रहेगा ॥ 121 ॥

अर्थ:—हे राजन् ! पंचम काल में धनिक लोगों में अभिमान बढ़ जायगा जिससे वे अपने धन के हर्ष में गहले बन जायंगे और अन्य मनुष्यों को तृण के समान समझेंगे ॥ 122 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! पंचमकाल में वे धनिक लोग अपने धन के मद में अंधे होकर विचार रहित हो जायंगे। जिससे वे अपने गृह में नीच और अकुलीन नौकर-चाकरों को रखेंगे और उनके हाथ से भोजन पान करेंगे। जिस समय कुसंगति या कुशिक्षा से धनवान लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है उस समय उनका विचार भी गंदा हो जाता है। उन्हें हिताहित का विवेक नहीं रहता जिससे वे धर्म और सदाचार की पवित्र मर्यादा का विचार नहीं कर अपने घर में नीच मनुष्यों को (दास-दासी) रखकर उनके हाथ का भोजन करने लग जाते हैं।

धनांधास्ते गृहे स्वस्य दीसीदासान् कुलोज्झितान् ॥ रक्ष यप्यंति पानार्थं न्यादार्थं च खलाशया: ॥ 123 ॥

शुद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षांत ते कथं मता: । खानपानादि कर्मार्थं श्रावकास्तत्समा: खलु: ॥ 124 ॥

नीच मनुष्यों के हाथ का भोजन पान करना धर्मशास्त्र की पवित्र आज्ञा से विरूद्ध है और सदाचार का लोप करने वाला है। जो लोग नीच मनुष्यों के हाथ का भोजन पान करते हैं वे जैन नहीं है। उनके धर्म की श्रद्धा नहीं है अतएव वे नाम मात्र के ही जैन हैं ॥123॥

जो लोग अपवित्र साधनों के साथ समुद्र यात्रा कर नीच लोगों के हाथ का अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपने को सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं वे श्रीजिनेन्द्र भगवान के आगम के श्रद्धानी नहीं हैं। तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषों का हाथ का अभक्ष्य भोजन कर अपने को पंच अणुव्रतधारी बतलाते हैं वे बनावटी जैनी हैं।

अर्थ—जो धनिक लोग अपने गृह पर शूद्र लोगों से खान-पान आदि धार्मिक क्रियायें कराते हैं वे श्रावक शूद्र के समान ही हैं।

भावार्थ—भोजन पान आदि केवल व्यवहार मार्ग नहीं है कि जिस तिस प्रकार शुद्ध अशुद्ध का विचार नहीं कर नीच लोगों का भोजन पान कर लिया जाय। परंतु भोजन पान की क्रिया को धार्मिक सदाचार चारित्र की पवित्र और उत्कृष्ट क्रिया माना है। मुनीश्वर भोजन क्रिया के समय भी विशुद्ध भावों से सातवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं और इसीलिए ही वे शुद्ध और विधि पूर्वक भोजन करते हैं। श्रावक लोगों के भोजन पान की क्रिया की विधि जिनागम में बतलाई है। अतएव वह विधि जिनाज्ञा रूप होने से धार्मिक ही मानी गई है। जो मनुष्य धार्मिक भोजन पान विधि को जिनागम की आज्ञा के विरुद्ध बतलाते हैं और शुद्रों के हाथ का भोजन पान करते हैं वे जैन धर्म की आज्ञा न मानने के कारण जैन धर्म से रहित समझने चाहिए।

जो लोग मुसलमान, भंगी, चमार, म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यों को नाम मात्र का जैन बनाकर उनके हाथ का भोजन करना चाहते हैं और उनसे कन्या का विवाह कराना चाहते हैं वे जैन मत की पवित्र आज्ञा से पराङमुख हैं क्योंकि जिनागम में बतलाया है कि शुद्र- भंगी चमार आदि नीच गोत्र कर्म के उदय से उत्पन्न हुवे मनुष्य चाहे जैन मत को अपने आत्म कल्याण के लिये भले ही पालन करें परंतु उनके हाथ का भोजन पान व कन्या-दान, दान आदि व्यवहार "मुनिधर्म" और "सज्जाति" का लोप करने वाला है। जैन धर्म को तिर्यंच घोड़ा, गधा आदि सभी पशु पाल सकते हैं परंतु उनके साथ मनुष्य धात नहीं खाने लगते। धर्म का पालन करना आत्मकल्याण के लिये है परंतु भोजन पान और कन्या व्यवहार यह सज्जातीयता की रक्षा करने के लिये है। यदि सज्जातिकी रक्षा न की जाय तो मुनि धर्म और श्रावक धर्म दोनों में से एक भी स्थिर नहीं रह सकेगा ॥ 24 ॥

शूद्राणां न विवेकोस्ति मरणे जन्मनि रजो- । मद्यमांसादिखाद्ये च रोमचर्मे बुधा: खलु ॥ 125 ॥

यत्र नास्ति क्रियाशुद्धि: क्रियालेशोऽपि नास्ति च । अतो धर्मस्य रक्षार्थं पालयध्वं वरां क्रियाम् ॥ 126 ॥

अर्थ— शुद्र लोगों के जन्म-मरण और ऋतुधर्म पालन का तथा सूतक पातक का विवेक नहीं होता तथा मद्य मांस आदि अभक्ष्य का भक्षण करने में विवेक नहीं होता है तथा रोम (कंबल पर भोजन पान करना) चाम आदि मलिन पदार्थ पर भोजन करने में विवेक नहीं होता है। इसलिये शुद्र के हाथ का भोजन पान करना आगम विरुद्ध है।

भावार्थ—सोलह संस्कार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण में ही होते हैं। जिन जीवों में सोलह संस्कार नहीं उनके मोक्ष मार्ग भी नहीं है। भोग भूमि के जीव कितने उत्तम होते हैं परंतु उनमें सोलह संस्कार नहीं होते अतएव वे मोक्ष के अधिकारी नहीं होते हैं। सौधर्म इन्द्र ग्यारह अंग को धारण करने वाला और सम्यक्त्वी तथापि सोलह संस्कार नहीं होने से मोक्ष का अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार शुद्र लोगों में सोलह संस्कारों का अभाव होता है तो फिर वे शुद्र लोग जिन धर्म को पालन कर लेने पर भी मोक्ष के अधिकारी किस प्रकार हो सकते हैं ? त्रिवर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में ही संस्कार होते हैं इसलिये त्रिवर्ण में ही मोक्ष मार्ग का अधिकार है। यदि शुद्रों जिनके संस्कार नहीं हैं के हाथ का भोजन पान त्रिवर्ण में कराया जाय और कन्यादान आदि व्यवहार धर्म चालू कर दिया जाय तो त्रिवर्ण के संस्कारों का लोप हो जायगा और संस्कार के लोप होने से मोक्ष मार्ग का लोप हो जायगा। इसलिए शुद्र जैन धर्म को धारण कर लेवे तो भी उसके साथ रोटी-बेटी व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥ 125 ॥

अर्थ— जिन पुरुषों के (शुद्र लोगों के) क्रिया की शुद्धि नहीं है तथा जिनके संस्कारादि धार्मिक क्रियाएं नहीं हैं उनके साथ खान-पान आदि व्यवहार नहीं करना चाहिए। अत: धर्म की रक्षा के लिए हे भव्य जीवों, आगमोक्त उत्तम और पवित्र क्रियाओं का पालन करो अर्थात् भोजन-पान आदि पवित्र क्रियाएं शूद्र के हाथ से मत कराओ अन्यथा शुद्ध क्रियाओं का पालन होना अशक्य है ॥ 126 ॥

ते सर्वे पानचूर्णादि कार्य स्वम्यैव नैव च। हस्तेन निर्विवेका हि करिष्यंति मदोद्धता: ॥ 127 ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदोहि नैव तेषां मतो निशि। धनांधा हि क्रियाहीना निर्द्रव्याश्च क्रियारता: ॥ 128 ॥
भविष्यंति गृहे तेषां स्त्रियोऽपि मदमंडिता: । क्रियाकर्मोज्झिता मूढा: परासूयरता: सदा ॥ 129 ॥
पंचाक्षपोषणे लीना धर्ममार्गविवर्जिता: । स्वात्मशंसे कृताभ्यासा मिथ्यात्वपथ सेविका: ॥ 130 ॥
स्वस्य हस्तेन किंचिद्य गृहकार्यं क्रियोद्भवं । न करिष्यंति ता: भूप मदमात्सर्यसंभृता: ॥ 131 ॥
शूदहस्तेन तत्सर्वं भाद्रमासे व्रतेषु च । नूनं कारापयिष्यंति अन्नपानादिजां क्रियां ॥ 132 ॥
निंद्यं स्यात् सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु। शूदकरेण संस्पृश्यं सदाचार विनाशकम् ॥ 133 ॥

अर्थ:— उस पंचम काल में विवेक रहित और मदोन्मत पुरुष ही खाने पीने पीसने पानी भरने आदि घर के कामों को अपने हाथ से नहीं करेंगे अर्थात् ऐसे लोग शूद्रों से ही सब काम करावेंगे ॥ 127 ॥

अर्थ—जो धनिक लोग शूद्र के हाथ का भोजन पान करते हैं उनके खाद्य और अखाद्य का विचार सर्वथा नहीं होता है। वे लोग रात्रि में भोजन करते हैं। इसलिये कितने ही धनांध कुशिक्षित तथा कुसंगति में लगे हुए क्रियाहीन होते हैं और निर्द्रव्य (गरीब) लोग क्रियावान होते हैं ॥ 128 ॥

अर्थ—क्रियाहीन धनिक लोगों की स्त्रियां भी मतवाली बनकर खान-पान की विशुद्ध क्रियाओं से रहित होंगी। मूर्खिणी होंगी तथा दूसरों से ईर्षा द्वेष करने वाली होंगी ॥ 129 ॥

अर्थ—धनवानों की कुशिक्षिता स्त्रियें पांचों इन्द्रियों के विषयों को पुष्ट करने में रात्रि दिवस मग्न रहेंगी । धर्ममार्ग से रहित होंगी। जिनको अपनी आत्मा का भी विश्वास नहीं होगा। केवल मिथ्यात्व मार्ग का ही सदैव सेवन करेंगी ॥ 130 ॥

अर्थ:— मद ओर ईर्षा द्वेष से भरी हुई धनवानों की कुशिक्षिता स्त्रियां अपने गृह के खानपान और आचार विचार की धार्मिक क्रियाओं को अपने हाथ से बिलकुल नहीं करेगी ॥ 131 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! धनवानों की कुशिक्षिता स्त्रियां भाद्रपद मास (पयुषण पर्व) और व्रतों के दिवसों में भी भोजनपान शूद्र के हाथ से करायेंगी। उनको पवित्र व्रतों की मर्यादा और पवित्र विधि का भी विचार नहीं रहेगा ॥ 132 ॥

अर्थ:—भोजन पान की क्रिया और विशुद्ध खान-पान की सामग्री शूद्र के हाथ से कराना सदा ही निंद्य है क्योंकि उससे सदाचार समूल नष्ट हो जाता है ॥ 133 ॥

मद्यमांसमधूनां यदशनाद्दोषो जायते । वै स्यात्तद्धस्तसंपर्कवस्तुभक्षणतो बुधाः ॥ 134 ॥
ये पुनः शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे वतेषु च । चूर्णोदकाज्यं खादंति ते नरास्तत्समा मताः ॥ 135 ॥
शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात् । शूद्राऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रतः सोपि तत्समः ॥ 136 ॥
श्वपचो जिनधर्मेण कथितः श्रावकोत्तमः । भूपपुत्रोऽपि संप्रोक्तो तं विना श्वपचसमः ॥ 137 ॥
ह्यलको व्रतयोगेन देवत्वे जायते खलु। देवो ह्याधर्मदोषेण श्वयोनौ भो बुधोत्तमाः ॥ 138 ॥

अर्थः—हे विद्वानों, जो दोष मद्य मांस और मधु के सेवन करने से उत्पन्न होता है वही दोष शूद्र के हाथ से संबंध किये हुए पदार्थों के भक्षण करने से होता है।

भावार्थः— शूद्र स्त्रोत मद्य मांस और मधु का सेवन करते हैं। उनके हाथों में उन मलिन और अस्पृश्य पदार्थोंका संस्कार बना रहता है। यदि उस शूद्र के हाथ से स्पर्श किये हुए भोजन पान का सेवन किया जाय तो उस वस्तु के सेवन करने में मद्य मांस भक्षण करने का दोष अवश्य ही लगेगा क्योंकि शूद्र के हाथों का अक्सर अपने भोजन पान में अवश्य ही आवेगा।

अर्थः— जो पर्युषण पर्व और व्रतादि पुण्य दिवसों में भी शूद्र के हाथ का आटा पानी और घी आदि भोजन पान सामग्री का सेवन करते हैं वे शूद्रों के समान ही माने गये हैं ॥ 135 ॥

अर्थ— शूद्र और श्रावक में यदि भेद है तो मात्र इतना ही है कि शूद्र के सोलह संस्कार के अभाव से व्रतों का पालन–भोजन पान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है और श्रावक में होता है। जो श्रावक अपने भोजन पान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओं को भूल जावे–नहीं करे तो वह शूद्र के समान ही है ॥ 136 ॥

अर्थ—यदि धांडाल जिन धर्म की आज्ञा के अनुसार जैन धर्म को धारण करता है तो वह श्रावकोत्तम माना जाता है। और जो राजपुत्र होकर भी जिनधर्म की आज्ञा के अनुसार नहीं चलता तो वह धांडाल के समान माना जाता है ॥ 137 ॥

अर्थ—हे उत्तम बुद्धिमानों, देखो सम्यग्दर्शनादि व्रतों के धारण करने से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप कर्म करने से देव भी कुत्ता हो जाता है। इसलिये हे बुद्धिमानों ! जिन क्रियाओं से सम्यग्दर्शन स्थिर रहे ऐसी व्रतादि धार्मिक क्रियाओं का पालन करो ॥ 138 ॥

वर्चस्वे भुमिपालोपि कीटत्वं लभते खलु। कीटोपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम् ॥ 139 ॥
अतो भो सज्जना यूयं मा कुरुध्वं कदाचन । मान प्रमादमात्सर्यं यदीच्छा शर्मसंततेः ॥ 140 ॥
मानेन बहवो नष्टा रावणाद्या नरोत्तमाः । संप्राप्य परमं दुःखं गतास्ते नरकावनौ ॥ 141 ॥
मानं दुर्गतिकारणं बुधजनैर्हेयं च निंद्यं खलु। मानाद्धि खचरेश्वरो दशमुखो रामेण वै नाशितः ॥
स्वस्यैवाखिलदुःखशोकनिचयं संप्राप्य वै निंद्यतां । ह्याप श्वभ्रनिकेतनं बुधजनास्तं हि जहीध्वं ह्यतः[1] ॥ 142 ॥
अन्नादिशोधने पानगालने न्यादपाचने । प्रमार्जने महद्यत्नं कर्तव्यमंजसा खलु ॥ 143 ॥

अर्थ—पाप से राजा भी कीड़ा (कीटक) हो जाता है और धर्म से कीट भी देव हो बन जाता है ॥ 139 ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! जो सुख को प्राप्त करने की इच्छा है तो जिन धार्मिक आचरणों के पालन करने से सम्यग्दर्शन की स्थिरता होती है ऐसे पवित्र आचरणों के पालन करने में मान या आलस मत रखो और मात्सर्य मत करो ॥ 140 ॥

अर्थ—धार्मिक चारित्र का यदि सत्ता और धन के अभिमान से लोप किया जाय तो रावण आदि महान पुरुषों के समान नरकादिकों के भयानक दुःख भोगने पड़ेंगे ।। 141 ॥

भावार्थ—हम बड़े हैं हम राजा हैं हम धनवान हैं इस प्रकार अभिमान में आकर यदि हम धार्मिक पवित्र आचरणों का पालन नहीं करेंगे तो हमारी अवश्य ही दुर्गति होगी । रावण ने अपने राजसत्ता और बल के अभिमान से ही सीता जैसे पवित्र धार्मिक आचरण को नष्ट करना चाहा इसलिये ही वह दुःख को प्राप्त हुआ । अतएव धार्मिक क्रियाओं को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ 141 ॥

अर्थ—मान दुर्गतिका कारण है, विद्वानों को छोड़ने योग्य है और निंद्य है । मान से ही विद्याधरों का ईश रावण राम लक्ष्मण के द्वारा नाश को प्राप्त हुआ अथवा अपने आप ही दुःखों को प्राप्त होकर नाश को प्राप्त हुआ और अंत में नरकादिक दुखों का पात्र हुआ। इसलिए भव्य जीवों को मान करना छोड़ देना चाहिए ॥ 142 ॥

अर्थ—अन्नादिक पदार्थों के शोधन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। पानी छानना और भोजनपान आदि चौके की क्रिया में महान् सावधानी और यत्न रखना चाहिए । भोजन बनाना, पानी छानना, सड़े हुए धान्य को बीन छानकर आटा बनाना,

1—इन तीन श्लोकों का मतलब यह है कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से कुत्ता-कीटक और चांडाल आदि नीच पर्याय को धारण करने वाले प्राणी भी देवादि शुभ गति को प्राप्त होते हैं। जो जीव सम्यग्दर्शन सहित चांडाल हों तो भी मरकर देवपर्याय को प्राप्त होते हैं व्रत और सम्यग्दर्शन का माहात्म्य ही ऐसा है।

ह्यशोध्यं शाकपुष्पं च विद्धान्नं नवनीतकं । दधितक्रद्विदलान्नं त्याज्यं व्रतास्रये सदा ॥ 144 ॥

हदृचूर्णाज्पहिंगुं च चर्मतैलं दयास्रये । न ग्राह्यं सर्वदा भव्यैः कंदमूलोत्करं खलु ॥ 145 ॥

यत्नेन जायते धर्मो बिना यत्नेन नो खलु। अतः सर्वत्र कार्येषु दयाभावो विधीयते ॥ 146 ॥

वस्त्राणां धोवनं चापि गालितेन जलेन च । कर्तव्यं व्रतरक्षार्थं दया सर्वेषु ह्युत्तमा ॥ 147 ॥

यच्चित्त हि दया नास्ति स पुपान् राक्षससमः । अतो भव्याः सदा कार्या सर्वभुतेषु सत्कृपा ॥ 148 ॥

शरीर और वस्त्र को शुद्ध कर रसोई घर में जाना (चौका) को शूद्रादि लोगों से स्पर्श न कराकर स्वतः उसको साफ करना आदि बातों में प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह सब सोलह संस्कार का फलरूप धार्मिक चारित्र है। जो मनुष्य इस विषय में प्रमाद कर अन्यथा करता है या दूसरे शूद्रादि लोगों से यह कार्य कराता है वह धर्म मार्ग से भ्रष्ट समझा जाता है ॥ 143 ॥

अर्थ—बिना शोधे पदार्थ पुष्पादि खाने के पदार्थ सड़ा धुना हुआ अन्न लोनी (मक्खन) और दही छाछ के साथ चना मूंग आदि द्विदल को व्रत की शुद्धता के लिए ग्रहण नहीं कर ॥ 144 ॥

अर्थ:—अपने चारित्र को शुद्ध रखने के लिये व दया धर्म पालन करने के लिये बाजार का आटा, बाजार का अशुद्ध घी, हींग, चाम में रखा हुआ तैल और कंदमूल आदि पदार्थ सर्वथा ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ 145 ॥

अर्थ:—अपने संयम और पवित्र चारित्र की रक्षा के लिये भोजन पान को यत्नाचार से शोधकर सेवन करो। अशोधित अन्नपान का सेवन मत करो। क्योंकि यत्नपूर्वक शोधने से ही उत्तम प्रकार से धर्म का पालन होता है, बिना यत्न के नहीं । इसलिये समस्त कार्यों में दया रखनी चाहिये ॥ 146 ॥

अर्थ:— व्रती पुरुषों को अपने वस्त्र भी छने हुए पानी से धोना चाहिये क्योंकि उसके बिना दया धर्म का पालन होना अशक्य है। जिनके यत्नाचार पूर्वक आचार-विचार हैं उनके ही दयाधर्म का पालन होता है ॥ 147 ॥

अर्थ:—जिन मनुष्यों के मन में दया नहीं है वे राक्षस के तुल्य हैं । इसलिये हे भव्य जीवों ! सब जीवों पर दया करनी चाहिये ॥ 148 ॥

दयासमो न धर्मोस्ति क्षमातुल्यं तपश्च न । दानसमं न भूषास्ति त्रयस्ते मोक्षदायका: ॥ 149 ॥

कुलजा बुद्धिहीनाश्च संभविष्यंति कुकुला: । भूपते बुद्धिवेत्तार: स्वस्वधर्मपरान्मुखा: ॥ 150 ॥

जैनादिषड्मता: ख्यातास्तेषां मध्ये नरेश्वर । भविष्यंति घना भेदा: स्वस्वमतिविकल्पत: ॥ 151 ॥

धार्मिकाणां भविस्यति हानिस्तु समयं प्रति। गुरोर्निंदां करिष्यंति श्रावका व्रतवर्जिता: ॥ 152 ॥

अर्थ:—दया के समान अन्य धर्म नहीं है । क्षमा के समान अन्य तप नहीं है । दान के समान अन्य कोई भूषण नहीं है। संसार में दया, क्षमा और दान ये तीनों मोक्ष के प्रदान करने वाले रत्नत्रय हैं ॥ 149 ॥

अर्थ— इस पंचमकाल में कुलीन पुरुष बुद्धिहीन होंगे और कुकुलीन राजाओं के मन भावते होंगे तथा धर्म से रहित होंगे ॥ 150 ॥

अर्थ— हे राजन् ! पंचमकालक षट मत के धारक मनुष्य होंगे तथा जैन मत में भी विपरीत मत अपनी-अपनी मन की कल्पना से गढ़कर श्वेतांबरादिक बहुत भेद होंगे। जो अपने को जैन मत के धारक बतलायेंगे परंतु उनका मत मिथ्या मत के समान तीव्र मिथ्यात्व से परिपूर्ण होगा॥ 151 ॥

अर्थ— उस समय धर्मात्मा पुरुषों की हानि होगी और व्रत रहित (असदाचारी) श्रावक गण ही अपने धर्मगुरुओं की निंदा करेंगे। मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे ॥ 152 ॥

टीप—कुशिक्षित और असदाचारी लोगों से सच्चे धर्मात्मा पुरुषों की बड़ी भारी हानि होगी। ये लोग अपने विषय कषाय की पुष्टि के लिये और अपने कुशिक्षा के मिथ्याभिमान से धर्मात्माओं को सब प्रकार के कष्ट देंगे। निर्दयता से कार्य करेंगे । वात्सल्य और बंधुत्व भावना को भूलकर अपने धर्म का सत्यानाश करने के लिये सच्चे धर्मात्माओं को शत्रु मानेंगे तथा वीतराग सर्वथा निरपेक्ष-परम पवित्र सर्व प्रकार के दोष से विरहित और सब प्रकार की आशा को छोड़कर ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले धर्म गुरु (मुनि-आचार्य- ऐलक आर्यिका) की ये व्रत और चारित्र विहीन श्रावक निंदा करेंगे। तथा निर्लज्जता के साथ निंदा करते हैं। ये लोग स्वयं पापी, सदाचार रहित, कुशिक्षा से विषयों का पोषण करने वाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरु का चारित्र-विचार- एवं मन की भावना अत्यंत पवित्र और उत्तम होगी। उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे, उनकी इच्छा रहेगी कि यदि सच्चे धर्मात्मा पंडित और धर्मगुरु हमारे मत के अनुकूल हो जावें तो हम समस्त समाज में अपने विषय कषायों की प्रवृत्ति करा सकते हैं। विधवाओं का घरेजा कराकर सहज रीति से कुमार्ग का प्रचार कर सकते हैं । तभी समाज में विषय कषायों की सिद्धि होगी। ऐसी कुत्सित धारणा से ही ये लोग सच्चे गुरु और सच्चे धर्मात्माओं से पाप की प्रवृत्ति कराना चाहेंगे । परंतु अपने जीवन की परवाह नहीं करने वाले धर्मगुरु और सच्चे धर्मात्मा ऐसे धर्म विरुद्ध पापों की प्रवृत्ति कभी नहीं करेंगे। बस ऐसे ही कारणों से ये धर्मात्माओं की हानि और धर्मगुरुओं की निंदा करेंगे।

सहस्राद्धेषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुन: । भविष्यंति पुनर्धर्ममार्गजैनप्रभावका: ॥ 153 ॥

भद्रबाहुस्तथा भूप जिनसेनऋषीश्वर: । समंतभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातंगसिंहम: ॥ 154 ॥

इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यंति निश्चयात् । दिशावासधरा: पूज्या देवमानववृंदत: ॥ 155 ॥

पञ्चाद[1]भ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर । कुंदकुंदाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चित: ॥ 156 ॥

अर्थ—हे राजन् इस पंचमकाल में–500 पांच सौ वर्ष व्यतीत होने पर क्रम से धर्म की हानि होती जायगी और पांच सौ वर्षों में जैन धर्म का माहात्म्य अतिशय प्रभावना के साथ बढ़ेगा । भावार्थ, हजार वर्ष के आधे भाग में क्रम से जैन धर्म घटता चला जायगा और उत्तरार्द्ध भाग में जैन धर्म क्रम से बढ़ता जायगा। किसी को यह नहीं समझना चाहिये कि अब जैन धर्म बढ़ेगा ही नहीं। यह बात त्रिलोक प्रज्ञप्ति से मालुम होती है कि हजार वर्ष व्यतीत होने पर एक कलकी होगा जो धर्म का नाशक होगा और आगे के पांच सौ वर्ष व्यतीत होने पर उपकलकी मुनि होगा जो धर्म का स्थापन करने वाला होगा। बस इनके योग से धर्म की हानि और वृद्धि होगी ॥ 153 ॥

अर्थ—हे राजन् परम दिगंबर (निग्रंथ) देव मानवों से पूज्य, बोद्धादि मतरूपी हाथियों को सिंह के समान नाश करने वाले, पूर्ण योगी ऐसे भद्रबाहु जिनसेन समंतभद्र आदि अनेक मुनीश्वर जैन धर्म के स्थापक होंगे ।। 154 /155 ॥

अर्थ— हे मगधेश्वर ! हमारे (श्रीवीर निर्वाण संवत से) चार सौ सत्तर वर्ष के बाद देवों से पूजित कुंदकुंद स्वामी नाम के यतीश्वर होंगे ॥ 156 ॥

1—अभ्रका अर्थ आकाश है और आकाश से संख्या में शून्य लिया जाता है तथा मुनिशब्द से सात संख्या ली जाती है। और जाया शब्द से चार संख्या ली जाती है। इस प्रकार 'अंकानां वामतो गति:' इकाई दहाई बांई ओर लिखी जाती है। इस न्याय से 470 वर्ष होते हैं।

मुनेस्तस्य श्रृणुध्वंच वृत्त'मानंददायकम् । एकाग्रमनसा भूप कर्मेन्धनहुताशनम् ॥ 157 ॥

अर्थ—हे राजन्! उन कुंदकुंद स्वामी का आनंद प्रदान करने वाला वृत्तांत एकाग्र मन से श्रवण करो जिस पवित्र वृत्तांत के श्रवण करने से कर्मरूपी इंधन भस्मीभूत हो जाता है ॥ 157 ॥

1—हमारे पास (एलक पन्नालाल दिगंबर जैन सरस्वती भवन, मुंबई में) एक गुटका है जिसमें श्री कुंदकुंद भगवान का जीवन हिंदी भाषा में लिखा है। वह यहां पर उपयोगी होने पर अविकल रूप से अक्षरशः रखते हैं:

सं. वीर संवत् 470 की साल में वारा नगर में श्री कुंदकुंद मुनिराज थे। तिन का व्याख्यान करिये हैं। सेठ कुंद और कुंदलता सेठानी के पांचवां स्वर्ग का देव चयकर गर्भ में आये तिस दिन से सेठ का नाम प्रख्यात भया। नव महीने पश्चात् पुत्रजन्म भया। तिस समय स्वेतांबर आम्नाय विशेष होय रही थी। दिगंबर आम्नाय में कुछेक विशेष पढ़ गया था। एक जिनेन्द्र चंद्र मुनिराज रामगिरी पर्वत पर रहें। ताके दर्शन सेठजी करवो करेसो याके पुत्र आठ वर्ष का हुआ और श्री जिनेन्द्र चंद्रमुनिका आयुकर्म नजीक आया। कुमार कुंदकुंद नित्य मुनि के दर्शनार्थ आया करता था। सो पूर्व संस्कार से कुंदकुंद कुमार दीक्षा लेता भया। आचार्य तो देवलोक सिधारे और कुंदकुंद मुनि ने आचार्यों का मार्ग विशेष जाण्या नाही सो अपने गुरु स्थापना के निकट ही ध्यान करते भये। इनके ध्यान के प्रभाव से सिंह व्याघ्रादिक शांतभाव को प्राप्त भये। श्रीस्वामी के ऐसा ध्यान प्रगट भया। तीन ज्ञान के अगोचर श्री सीमंधर स्वामी पूर्वले विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर तिन का ध्यान स्वामी ने शुरू किया। आदि में समवसरण की रचना विधि पूर्वक चित्तरूपी महल में बनायी। ताके बीच गंधकुटी रची। और बारह सभा सहित रचना बनाया, सिंहासन ऊपर चार अंगुल अंतरीक्ष श्रीमंधर स्वामी को विराजमान देखकर श्री कुंदकुंद मुनि नमस्कार करता भया। वे ही समय में श्री सीमंधर भगवान ने मुनिराज को धर्मवृद्धि दीनी। तदि चक्रवर्ती आदि महंतपुरुषों के बडो विस्मय उत्पन्न भयो। अभी कोई इन्द्र देव या मनुष्य कोई भी आया नहीं। और स्वामी ने धर्मवृद्धि दीनी ताका कारण कहा। तदि महापद्म चक्रवर्ती आदि सब ही राजा उठ कर स्वामी को नमस्कार कर पूछते भये। भो सर्वज्ञ देव या धर्म वृद्धि आप कौन को दीनी। ये वचन सुनकर स्वामी ने दिव्य ध्वनि से व्याख्यान किया कि हे महापद्म! भरत क्षेत्र के आर्यखंड में रामगिरी पर्वत पर श्री कुंदकुंद मुनि तिष्ठे हैं उनने अभी मन वचन कायक शुद्धताकर मुझे नमस्कार किया तदि धर्मवृद्धि दीनी। ऐसा वचन स्वामी का सुनकर सब लोकांके अचरज हुओ। भो भगवान आपकी दिव्यध्वनि पहले हमने सुनी थी कि भरत क्षेत्रादिक के दशक्षेत्र में धर्म का मार्ग नहीं। पाखंडी हैं। जैन धर्म को नाममात्र जानता नहीं। विपरीत मार्ग चालेगा पाखंडी लोगों की मान्यता ज्यादा होगी। गुरुद्रोही लोग हो जायंगे। स्वकल्पि ग्रंथ बांधेंगे। अनेक पाखंड चलेंगे। जिनराज का मार्ग आगिया सम्मान कहीं कहीं दिखेगा। पाखंडी के मत जगह जगह पायेगा। व्यंतरादि देवनिका चमत्कार प्रति भासेगा। स्व स्व धर्म को छोड़ करि सर्व ही लोग उन्मत्त मार्ग में धसेंगे। अब ऐसा ऋद्धिधारी मुनिराज का नाम सुन्या सो हमारे बडो आश्चर्य है। तदि केवली वर्णन करते भये-ऐसे मुनिराज विरले होते हैं। आगिया का चमत्कारवत होते रहेंगे। आर्यखंड में वे स्वर्गवासी देवका जीव है। या सभा में रविप्रभ नाम का देव है इनका वह अगले भव का भाई है। ऐसा शब्द होते ही दोय देव श्रीभगवान् के निकट आये। नमस्कार कर सकल व्याख्यान पूछते भये। और मुनिराज का दर्शन करने वास्ते रामगिरी पर्वत पर आवते भये। ता समय रात्रि थी। तदि मुनिराज को नमस्कार कर बैठ गए। मुनिराज बोले नहि। मुनि के शिष्य वहां पर बिना ध्यान तिष्ठते थे तिनका दर्शन भया उनसे ही वार्तालाप हुआ। देवां कही श्री सीमंधर स्वामी इनकी धर्मवृद्धि दीनी। तदि हम यहां आए। और स्वामी बोलते नहीं सो हम भगवान् के समोसरण में पीछे जावा हैं। जाते हैं या कहकर देव भगवान् के समोसरण में गए। और प्रभात का समय भया। तदि प्रभात का समय भया देखा सर्व शिष्यन ने नमस्कार किया। और रात्रि का सर्व संबंध श्री सीमंधर स्वामी संबंधी सर्व विधिपूर्वक मालुम किया। और कही, दो देव आपके दर्शन करने को आया। आपके दर्शन कर पीछे ही समोसरण सभा में गया। ये समाचार सुनिकर श्री कुंदकुंद मुनि

विशेष आनंदकूं प्राप्त भया। और थोडे में ऐसा शब्द प्रकाश ते भये कि अब श्रीसीमंधर स्वामी का दर्शन साक्षात् करेंगे तदि आहार आदि के लेवेंगे। या कहकर स्वामी फिर गौन धारण करी। ध्यान में मग्न भये। ऐसा ध्यान आवे जदी वैसा कारण होय। फिर दो चार दिन में चित्त की स्थिरता से ऐसा ही ध्यान प्रकट भया। अर समोसरण बनाया। और साक्षात श्रीसीमंधर स्वामी को नमस्कार करता भया। ये ही समय फिर धर्मवृद्धि भगवान की हुई और प्रश्न भया। भगवान् कही जो देव गया छां था सो पाछा आया। अब उसको नियम हुआ कि दर्शन बिना सर्व त्याग है। तदि देवा कही भो स्वामी वे आये नहीं। तब भगवान आज्ञा करी तुम वे समय गए। देव पूछते भये वे समय कौनसा ? तब भगवान् कही। यहां रात्रि होय है वहां दिन होय है। वहां रात्रि है यहां पर दिन है। सूर्य का गमन ऐसा है। सो तुम वहां दिवस में जाओ तो उनका आगमन होवेगा। ऐसा वचन सुन कर वे दोनों मध्यान्ह समय आये। मुनिराज का दर्शन हुआ। परस्पर वचनालाप हुआ। देव हाथ जोड नमस्कार कर विनंती करी। आप विमान में विराजो। सीमंधर स्वामी का दर्शन करो। या बात सुनकर प्रसन्न हुए। आप विमान में विराजे। आकाश मार्ग जायता स्वामी के सामायिक का समय आ गया तो सामायिक करते वखत पीछी हाथ से गिर पडी अर पवन का वेग अत्यंत लागा। तब स्वामी कही हमारा गमन नहीं। क्योंकि मुनिराज का दाना बिना मुनिराज पिछाणा नहीं जाय। तब देव पीछी ढूंढने का बड़ा यत्न किया। पीछी पाई नहीं। तब गिद्ध पक्षी के पंख वहां पर पड़े हुए देवों ने देखे। उनको अति कोमल देख पीछी बनाय श्री मुनिराज को सौंपी। तदि आप कोमल जान अर धर्मकार्य करने निमित्त अंगीकार करी। फिर आगे गमन किया। इस हेतु से गृद्ध पिच्छाचार्य नाम पड़ गया। विदेह क्षेत्र में जाय पहुचे। श्रीसीमंधर स्वामी का समोसरण मानस्तंभ की विभूति को देखकर प्रसन्न हुए। आप अंतरंग की शुद्धता धार विमान से उतर भगवान के समोसरण में प्रवेश किया। श्री सीमंधर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा करी। नमस्कार किया स्तुति करी। अहो तुम्हारी महिमा अगम है। अगोचर है। आप सकलवस्तु सदैव देखो हो। आप जगत गुरु हो। परमेश्वर हो। आपके नाम से अनेक जन्म के पाप विलय हो गए हैं। आप केवल ज्ञानी सर्व प्रतिभासी हो। आप पूज्य हो। आप ब्रह्म हो। महेश हो। परब्रह्म रूप हो। चतुर्भुख हो। गणधरादिक देव तुम्हारे गुनगान करते थक गए, हमारी कहां सामर्थ्य। आज हमारा शरीर सफल भया। आज हमारी मोक्ष भई माने है। इत्यादि स्तुति कर पश्चात देव इनको भगवान की गंध कुटी की कटनी पर चढावते भये। वहां के मनुष्यों का शरीर 500 धनुष्य का और ये सात (छह ?) हाथ के। इस कारण से उस समय चक्रवर्ती आयो। गंधकुटी पर नजर गई। तब कुंदकुन्द मुनि को अपनी हथेली में उठाया विचार करता भया। यह कौन सा आकार है। छह खंड में यह आकार कहीं देखा नहीं ऐसा आकार कहां से आ गया। ऐसा आकार कौन का है। तब चक्रधर भगवान को पूछता भया हे जिनेन्द्र ! यह मनुष्य के आकार का कौन-सा जीव है। तब भगवान की दिव्यध्वनि हुई। ये भरत क्षेत्र के मुनिराज हैं। तुम पहले धर्मवृद्धि का कारण पूछा था सो यह अब दर्शन निमित्त आये हैं। ऐसा शब्द सुनकर चक्रधर प्रसन्न होय मुनिराज को कटनीपर विराजमान किये। नमस्कार करता भया। और मुनिराज का नाम एलाचार्य प्रगट किया। और भगवान की आज्ञा भई इनको सकल संदेह का निवारनेवाला सिद्धांत सिखलाओ और ग्रंथ लिखावो। अब कुंदकुंद मुनि के जो संदेह था सो भगवान के पास से सब निवारण किया। निस्संदेह भये। एक दिन चक्रधर विनंती करी। आप आहार करने निमित्त उतरो। तब आप कही जोग्यता नाही। काहेते ? यहां जब दिन है तब हमारे क्षेत्र में रात्रि है। हम वहां के उपजे यहां आहार कैसे अंगीकार करें। सात दिवस तक मुनिराज वहां पर (विदेह क्षेत्र में) निराहार रहे। भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर तृप्त रहे। क्षुधा बाधा न देती भई। चार शास्त्र लिखाये। ग्रंथों के नाम ये हैं :— मतांतर निर्णय 84000, सर्वशास्त्र 82000, कर्म प्रकाश 72000, न्याय प्रकाश 62000 ऐसे चार ग्रंथ लेकर भगवानसूं आज्ञा मांगी। देव विमान में बैठाकर रामगिरी पर्वत पर आये। देव अपने स्व...न को गये। अब सब ही आज्ञा मानते भये। अगणित प्राणियों को धर्ममार्ग में लगाया। लाखों प्राणियों ने श्वेतांबर धर्म छुड़ाय दिगंबर किये। धर्ममार्ग प्रवर्ताया। हजारों व्रती भये। हजारों को मुनि कुंदकुंद स्वामी का चमत्कार से संसार से वैराग्य हुआ और दीक्षा धारण की। कितने ही राजाओं ने जैन धर्म स्वीकार स्वामी की आज्ञा पाली। कुंदकुंद स्वामी के संघ में 594 मुनियों की संख्या हो गई।

भारतेस्मिन् पुरे वारे ख्याते भव्यनृभिर्मते। कुंदाव्हो भव्यभावाढ्य: श्रेष्ठी श्रेष्टगुणान्वित: ॥ 158 ॥

कुंदा शीलसुभृषाढ्या भविष्यति शुभा प्रिया। तस्प धर्मरतस्यैव नाम्ना स्त्री तिलकोपमा ॥ 159 ॥

तस्य कुक्षौ सुरै: पूज्यकुंदकुंदाभिध: सुत: । भविष्यत्सद्मधर्मस्य वर्द्धनैकदिवामणि: ॥ 160 ॥

निधनाब्दे स कौमारे पूर्वसंस्कारयोगत: । जिनचंद्रमुने: पार्श्वे जातरूपं ग्रहिष्यति ॥ 161 ॥

शब्दालंकारकाव्यादीन् सन्निधे स्वगुरो: स च । तथा हि मुनिमार्गं च ज्ञात्वा वै नूतनऋषि: ॥ 162 ॥

धरणीभूषणाद्रौ च ध्यानं स्वर्मोक्षकारणम् । धरिष्यति महाभीमें स्वाघघाताय ह्यात्मवित् ॥ 163 ॥

अर्थ— हे राजन ! इस भरत क्षेत्र में भव्य नीतिमान राजा से शासित और प्रसिद्ध वारा नगर में भव्यात्मा, अनेक श्रेष्ठ गुणों से विभूषित कुंद नाम का एक प्रसिद्ध सेठ होगा ॥ 158 ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस सेठ की स्त्री का नाम कुंदलता होगा। जो शीलवती–अतिशय मनोहर अपने पति की प्रिय और तिलक के समान हृदय हारिणी होगी ॥ 159 ॥

हे राजन् उस कुंद नाम के प्रसिद्ध धर्मात्मा सेठ की महाशीलवती स्त्री कुंदलता के कोख से मुख्य दिगंबर जैन धर्म को बढ़ाने के लिए सूर्य के समान, देवों से पूजित और दिव्य शक्ति के धारक श्री कुंदकुंद नाम के पुत्र रत्न उत्पन्न होंगे ॥ 160 ॥

अर्थ— हे राजन् ! वह कुंदकुंद आठ वर्षीय बालक पूर्वभव के पुण्योदय से (रामगिरि पर्वत पर) श्री जिनचंद्रमुनीश्वर के पास नग्न दिगंबर भगवती जिनदीक्षा को धारण करेंगे ॥ 161 ॥

अर्थ— हे राजन् ! वे कुंदकुंद नाम के बालयती अपने गुरु के समीप शब्दशास्त्र (व्याकरण) काव्यशास्त्र और अलंकार शास्त्र आदि शास्त्रों का अभ्यास करेंगे। इस प्रकार मुनिमार्ग (यत्याचार) को भी जान लेंगे।

अर्थ— हे राजन् ! इसलिये अब उनका विधाभ्यास का होना बंद हो जायगा और आत्मा के ज्ञाता वे अपना समय महाभयानक धरणी भूषण (रामगिरी) नामक पर्वत पर अपने पापों को नाश करने के लिये स्वर्ग मोक्ष का कारणभूत ऐसा उत्कृष्ट ध्यान लगायेंगे ॥ 163 ॥

हृत्पंकजे यतिः सोपि ध्यानज्ञः स्मरसोवशी। श्रीसीधरदेवस्य प्राधिदिग्नायकस्य वै ॥ 164 ॥
यथाविधि नराधीश सद्मनस्तस्य मोद्भृत् । कृत्वा च रचनां पश्चात् गांधकुट्यां मनोहराम् ॥ 165 ॥
संस्थाप्य पस्या भक्त्या तदोपरि मनोहरम् । हरिविष्टरं महोत्तुगं नानाशोभासमवितम् ॥ 166 ॥
तदोपरि जिनाधीशं सं मंधरमधा पहम् । महाकायं मनोज्ञं च निस्सही निस्सही पुनः ॥ 167 ॥
जय त्रीणि इति प्रोच्य त्रिप्रपां वै प्रदक्षिणां। साष्टांगविधिना पश्चात् नमस्कारं करिष्यति ॥ 168 ॥
तदा हि धर्मवृद्धिं च दास्यति तत्र भूमिराट्। चक्रवर्त्यादयो भूपाः श्रुत्वा तां हर्षदायकाम् ॥ 169 ॥
प्रापुर्वै विस्मयं पश्चाच्चकी चानम्य तं जिनम् । कोपि नात्र समायातो दत्ता कस्मै त्वया प्रभो ॥ 170 ॥
इत्युत्तरं तदा तस्मै सीमंधरजिनाधिराट् दाम्यति मगधाधीश तस्य संदेहहानये ॥ 171 ॥

अर्थ— कामदेव को वश करने वाले और ध्यान की खूबी को जानने वाले वे यति श्री कुंदकुंद स्वामी अपने हृदय कमल में यथाविधि समवसरण की रचना कर उसमें एक मनोहर गंधकुटी की रचना करेंगे। उस गंधकुटी पर अनेक प्रकार की शोभा से युक्त महोन्नत और सर्वांग सुंदर ऐसा दिव्य सिंहासन स्थापन करेंगे। उस सिंहासन पर समस्त प्रकार के पापपंक को दूर करने वाले त्रिलोक के ज्ञाता सर्वज्ञ महा मनोज्ञ अनंतगुणों के स्वामी श्री जिनेंद्र भगवान पूर्वविदेह के नायक श्रीसीमंधर स्वामी को बड़ी भक्ति से स्थापन करेंगे। फिर तीन बार निस्सही-निस्सही ऐसा शब्द का उच्चारण करेंगे ॥ 164 से 167 ॥

अर्थ— फिर वे कुंदकुंद मुनि तीन बार जय-जय शब्दों का उच्चारण कर तीन प्रदक्षिण देंगे। फिर विधिपूर्वक अष्टांग नमस्कार करेंगे और उधर विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि में धर्मवृद्धि होगी। उस धर्म वृद्धि को श्रवण कर चक्रवर्ती आदि अनेक राजा और सभा के देव मनुष्य आश्चर्य को प्राप्त होंगे। उसी समय चक्रवर्ती प्रभु श्री सीमंधर स्वामी का नमस्कार कर प्रश्न करेगा कि हे स्वामिन् इस समय समवसरण की द्वादश सभा में कोई भी देव मनुष्य नहीं आया है। आप की दिव्य ध्वनि में धर्म धर्मवृद्धि किसके लिये खिरी ? ॥ 168 से 170 ॥

अर्थ— उस समय प्रभु सीमंधर स्वामी ने चक्रवर्ति आदि महान पुरुषों के संदेह को दूर करने के लिये कहा ॥ 171 ॥

तस्याश्च कारणं सर्वं धर्मप्रभावकं शुभम् । एकाग्रमनसा त्वंच सार्वभौमाधिराट् श्रृणु ॥ 172 ॥

अस्मिन् सार्द्धद्वयद्वापे क्षेत्रा: संति मनोहरा: । खमु नसोमसंख्याऽऽढ्या भव्याभव्यनृभिर्भृता: ॥ 173 ॥

खऋतुचंद्रक्षेत्रेषु समय: शाश्वतो मत: वृद्धिन्हास: कदा नास्ति शाश्वत: पुरुषोत्तम ॥ 174 ॥

धर्मो हि शाश्वतो ह्यत्र नो कुदेव: कुलिंगिन: । नास्त्यत्र मतमन्यद्धि वीतरागमतात्परम् ॥ 175 ॥

समय: पंक्तिक्षेत्रेषु वृद्धिन्हासयुत: सदा । वर्तते ऋतुभेदेन स स्वामी ह्याह तान् प्रति ॥ 176 ॥

भोगभूमिगते तत्र वृषभादिजिनेश्वरा: । अतीता मादृशा: सर्वे त्वत्तुल्या: पुरुषोत्तमा: ॥ 177 ॥

अधुना पंचम: कालस्तत्रैव वर्त्तते खलु । मत्यादिज्ञानहीनांगा मर्त्या : कुज्ञानमंडिता: ॥ 178 ॥

अर्थ— भगवान् श्रीमंधर स्वामी ने कहा कि धर्म का शुभ प्रभाविका उत्पादक उस धर्म वृद्धि का कारण है। सार्वभौम चक्रेश्वर ! सावधान मन से श्रवण कर ॥ 172 ॥

अर्थ—ढाई द्वीप क्षेत्र में कर्म भूमि के एक सौ सत्तर मनोहर क्षेत्र हैं जिन में भव्य अभव्य बहुत से मनुष्य रहते हैं॥ 173 ॥

अर्थ—उनमें एक सौ साठ तो ऐसे क्षेत्र हैं जो सदा सर्वदा शाश्वते रहते हैं, जिन में काल चक्र के द्वारा परिवर्तन (घटती-बढ़ती) नहीं होता है। जिन क्षेत्रों में सदा तीर्थंकर परमदेव शाश्वत विराजमान रहते हैं ॥ 174 ॥

जिस विदेह क्षेत्र (एक सो साठ क्षेत्र) में कुदेवों का प्रकाश सर्वथा नहीं है न कुलिंगी गुरु ही किसी भी काल में होते हैं। वहां पर सदैव एक जिनधर्म ही शाश्वत धर्म रहता है। अन्य धर्म नहीं रहता ॥ 175 ॥

अर्थ:—श्रीसीमंधर स्वामी ने चक्रवर्ती आदि भव्य जीवों को कहा कि भरत और ऐरावत में छह समय के कारण वृद्धि और हास होता है ॥176 ॥

अर्थ:—भरत और ऐरावत में भोग भूमि का चक्र नष्ट होने पर वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर मेरे समान पुरुषोत्तम हो गये और तेरे (चक्रवर्ती) के समान चक्रवर्ती भी हो गये ॥ 177 ॥

अर्थ:—हे चक्रिन् ! इस समय भरत क्षेत्र में पंचमकाल प्रकट हो रहा है । जिससे वहां के जीव बुद्धिहीन और कुज्ञानी हो रहे हैं ॥ 178 ॥

श्रावकाश्च क्रियाहीना यत्याचारपरान्मुखाः । मुनीश्वरा नराधीश यत्रत्या यत्र निश्चयात् ॥ 179 ॥
यत्र भूपा हि धर्मस्य नाशका वा द्विजाः खलाः । वर्तंते भो धराधीश कालदोषप्रभावतः ॥ 180 ॥
ह्यधुना जिनधर्मस्य धारकः स्वर्गजो मुनिः । कुंदकुंदसमाख्यातो ध्यानमात्रपरिग्रहः ॥ 181 ॥
धरणीभूषणाद्रौ हि ध्यानलीनो हि मां स च । भक्तिपूर्वं कृतो भूप नमस्कारस्ततो मया ॥ 182 ॥
धर्मवृद्धिः प्रदत्ता हि तस्मै शुद्धात्मने वरा । इति श्रुत्वा समालोकाश्चक्रवर्त्यादयो घनाः ॥ 183 ॥
महद्धर्षं च संप्रापुः कृत्वा च विस्मयं हृदि । ह्यधुना भारते क्षेत्रे ऋषिः स्याद्येदृशो महान् ॥ 184 ॥
देवेंद्रा निर्जराः सर्वे भूमिपाश्च यतीश्वराः । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य तस्मै कुर्नंति तदा ॥ 185 ॥
प्रभो केनाप्युपायेन तस्य चागमनं भवेत् । तदा श्रीमञ्जिनाधीशः कारणं ध्वनिनावदत् ॥ 186 ॥

अर्थ:—हे चक्रधर ! पंचमकाल में वहां के श्रावक क्रियाहीन होंगे तथा वहां के यतियों में यत्नाचार का परिज्ञान नहीं होगा ॥ 179 ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकाल में भरतक्षेत्र के राजा गण ही धर्म के नाशक होंगे और ब्राह्मण लोग जैन धर्म का द्वेष करने वाले क्रूर स्वभाव वाले होंगे ॥ 180 ॥

अर्थ—चक्रधर, इस पंचम काल के भरत क्षेत्र में अब भी स्वर्ग से अवतार लेने वाले, जिन धर्म के धारक ध्यान मात्र परिग्रह को धारण करने वाले महा प्रभावशाली कुंदकुंद नाम के मुनिने धरणी भूषण नाम के पर्वत पर ध्यान में सलीन होकर मेरा (सीमंधर स्वामी का) एकाग्र मन से चिंतवन किया है और भक्तिपूर्वक मुझे (सीमंधर भगवान का) नमस्कार किया है। अत एव मेरी दिव्यध्वनि में स्वभावरूप से उस शुद्धात्मा कुंदकुंद मुनिराज को धर्मवृद्धि प्रकट हुई है। श्रीसीमंधर स्वामी से इस बात को सुनकर द्वादश सभा में स्थित संपूर्ण भव्यजीव आश्चर्य को प्राप्त हुए और विचार किया कि अब भी भरत क्षेत्र में ऐसी दिव्य विशाल शक्ति के धारक महान् तपस्वी मुनि है तत्काल ही समस्त इन्द्रदेव, मनुष्य और चक्रवर्ती आदि राजाओं ने कुन्दकुन्द मुनिराज को अपने दोनों हाथ जोडकर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ॥ 181/182/183/184/185 ॥

अर्थ—सीमंधर स्वामी को उसी समय किसी ने पूछा कि हे प्रभो ! उन मुनिराज का आगमन यहां पर किसी प्रकार हो सकता है ! तब सीमंधर स्वामी ने दिव्यध्वनि के द्वारा कहा–

रविकेतुस्तथा चंद्रकेतुर्द्वौ निर्जरौ वरौ। पूर्वमित्रे मुनीन्द्रस्य प्रेषणीयौ तदा भवेत् ॥ 187 ॥

चामरौ पूर्वसंबंध श्रुत्वा नत्वा जिनेश्वरम् । आगमिष्यतो राजेन्द्र तदानयनसिद्धये ॥ 188 ॥

आयास्यतश्च तौ रात्रौ दृष्ट्वा मौनीश्वरं वरम् । ध्यानमग्नं महाशांतं नत्वा तत्पादपंकजम् ॥ 189 ॥

ब्रूयुर्वै नैव रात्रौ च ध्यानस्था हि यतीश्वराः । स्थित्वा कियत्प्रमं कालं पश्चात्तत्रैव यास्यतः ॥ 190 ॥

प्रभाते तस्य शिष्या हि कथयिष्यंति रात्रिजम् । निर्जरौ द्वौ समायातौ स्वामिन् ते दर्शनाय वै ॥ 191 ॥

अस्यावां पूर्वजौ मित्रे कथयित्वा च तौ गतौ । सीमंधरसभास्थानादागतौ वै तदाशये ॥ 192 ॥

अर्थ:—हे राजन् ! इस सभा में बैठे हुए रविकेतु और चंद्रकेतु नाम के दो देव श्रीकुंदकुंद मुनिराज के पूर्व भव के मित्र हैं। अर्थात् कुंदकुंद मुनिराज का जीव स्वर्ग से चयकर आया है सो स्वर्ग के दो देव जो सीमंधर स्वामी की सभा में बैठे हुए हैं वे दोनों ही उनके मित्र हैं ये दोनों उनको यहां पर ला सकते हैं ॥ 187 ॥

अर्थ—वे दोनों देव अपना संबंध श्रवण कर तत्काल ही श्रीसीमंधर स्वामी को नमस्कार करेंगे और वे धरणीभूषण पर्वत पर उनको (कुंदकुंद स्वामी को) लेने के लिए आवेंगे ॥ 188 ॥

अर्थ—वे दोनों देव रात्रि में वहां पर (कुंदकुंद मुनिराज के पास) आवेंगे उस समय यहां शांत मुनिराज मौन में स्थित ध्यान में संलग्न होंगे। वे देव उन मौनी मुनीश्वर के चरण कमल को नमस्कार कर कुछ कालपर्यंत बैठेंगे ॥ 189 ॥

अर्थ—मुनीश्वरों के रात्रि में नियम से मौन व्रत होता है। अतएव कुंदकुंद स्वामी के भी मौन व्रत होगा। और वे मौन व्रत सहित ध्यान में लवलीन होंगे। इसलिए देवों को यह मालुम होगा कि मुनिश्वर बोलते ही नहीं। अब यहां पर बैठे-बैठे क्या करेंगे, चलो पीछे चलेंगे, ऐसा विचार कर वे दोनों ही देव वहां से पीछे चले आएंगे।

अर्थ—हे राजन् ! प्रातःकाल श्री कुंदकुंद स्वामी के शिष्य, स्वामी से रात्रि के समय में देवों के आने का जो वृत्तांत हुआ था उसे कहेंगे। और यह भी कहेंगे कि वे देव श्रीसीमंधर स्वामी की द्वादश सभा में से आये थे। आपके पूर्व भव के मित्र थे। और आपके दर्शन के लिये आये थे। परंतु आपको मौन देखकर पीछे चले गये ॥ 192 ॥

तदास्मात्सर्ववृत्तांतं श्रुत्वा योगीश्वरोऽपि सः । करिष्यत्येव तत्रोद्यौर्दुर्घटं नियमं तदा ॥ 193 ॥
यावन्मे दर्शनप्राप्तिः नभवेत्तस्य निश्चयात् । वेदप्रमस्य न्यादस्य त्यागः स्यान्नात्र संशयः ॥ 194 ॥
निर्जरौ तौ समागत्य तत्रापृच्छ्य जिनेश्वरम् । ज्ञात्वा तत्कारणं भूप चायास्यतः पुनश्च तौ ॥ 195 ॥
अत्र रात्रिर्दिवा तत्र स्वेभ्रमणतः खलु। विपर्ययं च जानीहि सदा नैवात्र संशयः ॥ 196 ॥
वासरे तौ समागत्य नत्वा तत्पादपंकजम् । प्रकथ्य सर्ववृत्तांतं तदग्रे तौ च स्थास्यतः ॥ 197 ॥
तदविमाने समासह्य यास्यति स मुनीश्वरः । केवलं धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरितः ॥ 198 ॥
भूधरान् जिनसद्माढ्यान् नानाश्चर्यान् मुनिश्च सः ॥ चकार गमनं चाग्रे पश्यन् हि सकलां महीम् ॥ 199 ॥

अर्थ—अपने शिष्यों से उपर्युक्त वृत्तांत को सुनकर श्री कुदकुंद स्वामी तत्काल ''जब तक मुझे श्रीसीमंधर स्वामी का प्रत्यक्ष दर्शन न होगा तब तक मेरे चारों ही प्रकार के भोजन का सर्वथा त्याग है ।'' इस प्रकार का बड़ा भारी दुर्घट नियम करेंगे ॥ 193/194 ॥

अर्थ—हे राजन् ! उधर देव पीछे लौटकर सीमंधर भगवान के समवसरण में जायेंगे और वहां पर श्रीसीमंधर स्वामी को नमस्कार कर पूछेंगे कि हे स्वामिन् वे मुनिराज यहां पर क्यों नहीं आये स्वामीजी अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहेंगे कि ॥ 195 ॥

अर्थ—हे देवगण ! कुन्दकुन्द स्वामी मौनस्थ क्यों रहे और तुम्हारे साथ क्यों नहीं आये इसका कारण यह है कि जब यहां पर दिवस होता है तब वहां पर भरत क्षेत्र में रात्रि होती है। क्योंकि सूर्य के भ्रमण से काल का परिवर्तन होता है। इस लिये रात्रि में मुनि बोले नहीं और तुम्हारे साथ आये भी नहीं। समय की विपरीतता ही इसका मूल कारण है ॥ 196 ॥

अर्थ—फिर वे देव दिवस में भारत में जब दिवस था आयेंगे और मुनिराज को नमस्कार कर और सर्व वृत्तांत कहकर स्वामी के सामने बैठ जायंगे ॥ 197 ॥

अर्थ—वे कुंदकुंद स्वामी उन देवों के विमान में बैठकर विदेह क्षेत्र जायंगे–वे मुनिराज पूर्व पुण्य से प्रेरित होकर केवल धर्म कार्य की सिद्धि के लिये ही विदेह क्षेत्र को विहार करेंगे ॥ 198 ॥

आगे ग्रंथकार उस कथन के अनुसार स्वयं वर्णन करते हैं ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामी ने विमान में से हिमालयादि पर्वतों पर विचित्र शोभायुक्त कृत्रिम जिन मंदिरों को देखते हुए और संपूर्ण पृथ्वी की विचित्र शोभा को देखते हुए आकाश में विहार किया ॥ 199 ॥

विभोरास्थानमाराद्य दृष्ट्वा यानाद्य तैः सह । उत्तीर्यानंदसंयुक्तो विवेश शर्मदायकम् ॥ 200 ॥
सदने नंदते तस्य चकार सुरनिर्मिते । यातायातनृमिर्युक्तेऽच्युतोपमविराजिते ॥ 201 ॥
निस्सही त्रीणि त्वं नाथ जय त्रीणि दयापते । इत्यादिशुभशब्दौघान् कुर्वन् वै यतिराट् वरान् ॥ 202 ॥
तप्तहाटकसादृश्यं सभाद्वादशमंडितम् । महाकायं महातेजः शाम्यरूपमनौपमम् ॥ 203 ॥
जातरूपधरं धीरमनिमेषं निरामयम् । दांतं सार्वं मनोहारं निराभरणभास्वरम् ॥ 204 ॥
प्रातिहार्यादिभूल्योपलक्षितं रागवर्जितम् । वसुचंद्रमहादोषवर्जितांगं निरौपमम् ॥ 205 ॥
पद्मासनसमासीनं शतेन्द्रपूजितं वरम् । वेदाग्न्यतिशयैर्युक्तं कोटिमार्तंडयुत्प्रभम् ॥ 206 ॥
तारकं हारकं शुद्धं सीमंधरं जिनेश्वरम् । ईदृशं सर्ववेत्तारं हरिविष्टरसंस्थितम् ॥ 207 ॥

अर्थ—श्रीसीमंधर तीर्थंकर का समोसरण समीप आया हुआ देखकर श्री मुनि कुंदकुंद उन दोनों देवों के साथ विमान से नीचे उतरे और उन्होंने सुख देने वाले समोसरण में प्रवेश किया ॥ 200 ॥

अर्थ—वह सीमंधर स्वामी का समोसरण अतिशय आनंद का प्रदाता देवों का निर्माण किया हुआ और मनुष्यों के आवागमन से खचाखच भरा हुआ स्वर्ग के समान शोभा दे रहा था ॥ 201 ॥

अर्थ—मुनि कुंदकुंद स्वामी ने समोसरण में निःस्सही निःस्सही निःस्सही इस प्रकार तीन बार शब्दों को उच्चारण कर जय जय जय शब्दों को बोलकर प्रवेश किया ॥ 202 ॥

अर्थ—तपाये हुए सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीर को धारण करने वाले, द्वादश सभा से विभूषित, विशाल काय से मंडित, महातेजस्वी, साम्यरूप, अनुपम, जातरूप (दिगंबर), धीर वीर, नेत्रों के टिमकार रहित, रागरहित, दांत, सर्व जीवों के हितकारक, मनोहर, बिना ही आभूषणों के सुशोभित, सूर्य से भी अधिक प्रभा वाले, प्रातिहार्यादि विभूति से मंडित, रागरहित अठारह दोषरहित, निरुपम, पद्मासन विराजे हुए सौ इन्द्रों से पूजित, चौतीस अतिशय युक्त, संसार के तारक, महा मनोज्ञ, परमविशुद्ध, सर्व तत्वों को जानने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत चतुष्टय मंडित, सिंहासन पर विराजे हुए, शरणार्थी पुरुषों को सुख के करने वाले, मुक्त कांता के पति, भव्यों को सिद्धि प्रदान करने वाले, बारह प्रकार की सभा के मध्य विराजे

आबालब्रह्मचर्यस्थं शंकरं शरणार्थिनाम्। मुक्तिकांतावरं सिद्धं भव्यानां सिद्धिकारकम् ॥ 208 ॥
समाद्वादशगर्भस्थं तत्र सकलनंददम् ॥ सार्द्धा ग्रकरदेहाढ्यां वेदाननाविभूषितम् ॥ 209 ॥
चतुरंगुलमस्पृश्य भ्राजमानं महोज्वलम् । स मुनि: कुंदकुंदाख्यो ददर्श तं मुदा न्वत: ॥ 210 ॥
अधोमध्योर्ध्वभ्रमणोद्वीतचित्तो मुनीश्वर: ॥ त्रीश्च प्रदक्षिणा भ वात् ददौ स्वस्थधहानये ॥ 211 ॥
कृतार्थं मन्यमान: स्वं धन्योद्य प्रभुदर्शनात् । जातोऽस्मि कर्मनिर्मुक्त: स मुनिर्मोदनिर्भर: ॥ 212 ॥
साष्टांगेन महानंदात् नत्वा तत्पादपंकजम् । स पुन: कर्तुमारेभे स्तवं तस्य तदाप्तये ॥ 213 ॥
भव्यांभोजस्वे त्वं हि जय नंद जिनाधिराट् । दयाधीश नमस्तुभ्यं त्राहि मां शरणागतम् ॥ 214 ॥

हुए, संपूर्ण जीवों को आनंद प्रदान करने वाले, अपने हाथ से साढे तीन हाथ के शरीर की उंचाई को धारण करने वाले, चार मुख वाले, सिंहासन पर चार अंगुल अंतरीक्ष विराजमान, महाउज्वल, परमशांत, निर्विकार, ऐसे श्री सीमंधर स्वामी को कुंदकुंद भगवान ने देखा ॥ 203/204/205/206/207/208/209/210 ॥

अर्थ—मुनिराज श्री कुंदकुंद स्वामी का शरीर 7 हाथ का था और विदेह क्षेत्र में पांच सौ धनुष्य का शरीर होने से मुनिराज को विचार हुआ कि मैं इतने उच्च विशाल काय के मनुष्यों के मध्य किस प्रकार प्रदक्षिणा दूं। कदाचित किसी के नीचे दब गया तो ? इस विचार से मुनिराज उर्ध्व अध: नीचे और मध्य क्षेत्र को देखा फिर उन्होंने भावों से पाप से नाश करने के लिये तीन प्रदक्षिणा दी ॥ 211 ॥

अर्थ—प्रभु श्री सीमंधर स्वामी के दर्शन से अपने को कृतकृत्य मानते हुए मुनिराज कुंदकुंद ने अपने को धन्य माना और हर्ष से प्रफुल्लित होकर अपने को कर्म रहित समझ लिया ॥ 212 ॥

अर्थ—भगवान् श्री सीमंधर स्वामी के चरणकमलों को महान हर्ष से साष्टांग नमस्कार कर भगवान के गुणों की प्राप्ति के लिये भक्ति से प्रभु का स्तवन प्रारंभ किया ॥ 213 ॥

अर्थ:— हे भव्यकमलों को प्रकाश करने के लिये सूर्य ! जयवंत हो। नंद, चिरंनंद, हे जिनाधिराट् हे दयाधीश आपको नमस्कार है। हे प्रभो मुझ शरणागत की रक्षा करो ॥ 214 ॥

वीतराग महादेव नमस्तुभ्यं चिदात्मने । निर्विकार जिनाधीश पूज्यपाद नमोस्तु ते ॥ 215 ॥

भवसिंधोर्महावीर तारय तारक प्रभो। त्वदृते कः समर्थोस्ति भवदुःखविघातने ॥ 216 ॥

द्रव्याढ्योऽपिच निर्द्रव्यं करोति स्वात्मसदृशं। त्वतुल्यं मां जिनादित्य किं न करोषि दीनराट् ॥ 217 ॥

मिथ्यांधतमसो नाशं कुरु कर्मारिणां विभो। शुद्धरत्नत्रयप्राप्तिर्भवतु तव दर्शनात् ॥ 218 ॥

यदंहोपार्जितोनंतः क्षयमस्तु तदप्यहो । शिवदा निर्जरा मेस्तु सर्वेषां कर्मणां प्रभो ॥ 219 ॥

अनंतानंतसमये भ्रमितोऽपि जिनेश्वर । नालोकितो हि त्वं देव मया मोहितचेतसा ॥ 220 ॥

अर्थः— हे वीतराग ! हे महादेव ! हे चिदात्मा सीमंधर स्वामी, आप को नमस्कार है। हे निर्विकार, हे जिनाधीश, हे पूज्यपाद आपको नमस्कार है ॥ 215 ॥

अर्थः—हे महावीर सीमंधर देव ! हे तारक प्रभो ! मुझे संसार समुद्र से पार करो। आपको छोड़कर अब कोई भी संसार के दुःखों का नाश करने के लिये समर्थ नहीं है ॥ 216 ॥

अर्थः— लोक में ऐसा देखा जाता है कि धनाढ्य लोग अपनी भक्ति करने वाले को अपने समान धनवान् बना लेते हैं। तो हे प्रभो, हे दीनानाथ ! आप मुझ दीन को अपने समान क्यों नहीं बनाते ? ॥ 217 ॥

अर्थः— हे विभो ! मिथ्यात्व अंधकार का नाश करो। और कर्म रूपी शत्रुओं का भी नाश करो । हे प्रभो आपके पवित्र दर्शन से शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति हो ॥ 218 ॥

अर्थः— हे भगवान् ! जो मैंने अनादि काल से अनंत पाप उपार्जन किये हैं उनका नाश हो। और मोक्ष का प्रदान करने वाली समस्त कर्मों की निर्जरा हो ॥ 219 ॥

अर्थः— हे प्रभो ! मैं अनंतानंत संसार में चिरकाल से भ्रमण करता फिरा परंतु मुझ मोही को आज तक आपके पवित्र दर्शन नहीं हुए ॥220॥

किंचित् मोहप्रघातेन मया त्वं केवलेक्षण। ईक्षितोपि दयाधीश अद्य सुमतिधारक ॥ 221 ॥

त्राहि तीर्थेश भो स्वामिन् चाद्य मोहंच मे हन । स्मरारे भो सरोजाक्ष कर्मसंताननाशक ॥ 222 ॥

गुणानां नैव पारोस्ति ते प्रभो रत्नराशिवत् । अब्धौ यथा निरालंबं देहि मां त्वत्पदं वरम् ॥ 223 ॥

सीमंधर जिनाधीश शरणागतवत्सल । महापूज्य महाभाग पाहि मां भवत: खलु ॥ 224 ॥

चित्तसंदेहनाशं में कुरु वै चित्तभाववित्। त्वदृते नैव हानि: स्यात् संशयस्य दयापते ॥ 225 ॥

इत्यादिशुभनामौघे: स्तुत्वा तीर्थाधिपं सच । मुहुर्मुहु: प्रणम्योर्वैर्विनम्रो भक्तिमंडित: ॥ 226 ॥

पश्चात्सर्वमुनीन्द्रौघान् नत्वा नानर्द्धिमंडितान् । तैर्दत्तमाशिषं लब्ध्वा मनसि चिंतयेदिति ॥ 227 ॥

अर्थ— हे प्रभो आज मेरे मोह का उदय किंचित प्रघात हुआ है इसलिए मुझ को आज आपके पवित्र दर्शन प्राप्त हुए हैं। हे केवलज्ञानिन् हे दयाधीश हे जिनराज ! सुमति को धारण करने वाले हे तीर्थेश हे स्वामिन् हे कर्मसंताननाशक हे स्मरारे आज मेरा मोहकर्म नाश कीजिए और मेरी रक्षा कीजिये ॥ 222 ॥

अर्थ— जिस प्रकार समुद्र में रत्नराशि का पार नहीं है उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके अचिंत्य गुणों का पार नहीं है। और जिस प्रकार समुद्र में निरालंबता है उसी प्रकार संसार समुद्र में आपके सिवाय सर्वत्र निरालंबता है। इसलिए हे नाथ ! आप अपना उत्तम पद मुझे दीजिये ॥ 223 ॥

अर्थ—हे सीमंधर प्रभो हे जिनाधीश हे शरणागतवत्सल हे महापूज्य ! हे महाभाग इस संसार से मेरी रक्षा करो ॥ 224 ॥

अर्थ—हे मेरे चित्त के अभिप्रायों को जानने वाले मेरे मन के संदेह को दूर करो। हे दयानिधे आपके सिवाय अन्य किसी से यह कार्य हो नहीं सकता है ॥ 225 ॥

अर्थ—इस प्रकार तीर्थंकर सीमंधर प्रभु की मनोहर स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर और भक्ति से प्रभु को वारंवार नमस्कार कर वे मुनिराज बहुत ही नम्र हुए ॥ 226 ॥

अर्थ:—फिर सभा में विराजे हुए अनेक ऋद्धियों से मंडित समस्त मुनीश्वरों को नमस्कार कर और उनकी दी हुई शुभाशीर्वाद को प्राप्त कर मुनिराज कुंदकुंद स्वामी अपने मन में यह विचार करेंगे ॥ 227 ॥

ह्यत्र सर्वे नरा अग्रखपंचचापकायभा: । मे तनुर्मुनिमात्रो हि क्व तिष्ठामि सभावनौ ॥ 228 ॥

क्व इमे भूधराकारा: क्व तनुर्मे लघुरियम् । अतो हि स्वामिपीठाधोभागे बाधाविवर्जिते ॥ 229 ॥

तिष्ठामि चेति संकल्पाद्यातिष्ठत् तत्र योगिराट् । तस्मिन्नेव वरे काले चक्री आयातवान् खलु ॥ 230 ॥

वंदनावसरे चक्री दृष्ट्वा तं च करे मुदा । गृहीत्वाऽचिंतयच्चित्ते कोयं कोयमहो खलु ॥ 231 ॥

नग्नो व कुंडिकाकेकीपिच्छेन मंडितं वरम् । एतादृशो मया क्वापि न दृष्ट: सकलावनौ ॥ 232 ॥

पुरुषाकारसंयुक्त: तुच्छकायोऽपि सुंदर: । सन्निधे वीतरागस्य ह्यत्र किं कारणं महत् ॥ 233 ॥

मनसि चेति संध्यात्वा भूमिराट् स जिनेश्वरं । नत्वा स्तुत्वा पुन: प्राख्यत् चित्तद्वापरहानये ॥ 234 ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामी ने विचार किया कि इस सभा में विराजे हुए समस्त मनुष्यों का शरीर पांच सौ मनुष्य ऊंचा है और मेरा शरीर मात्र 7 हाथ का ही है इसलिये मनुष्य के कोठे में कहां बैठूं ? ॥ 228 ॥

अर्थ—यहां के मनुष्य तो पर्वत के समान विशालकाय हैं और मेरा शरीर एकदम लघु है। यदि मैं इन मनुष्यों के मध्य बैठा तो अवश्य ही दब जाऊंगा इसलिए मनुष्यों के कोठे में बैठना उचित नहीं । ऐसा विचार कर समस्त प्रकार की बाधा से रहित भगवान की वेदी के नीचे, बैठने का विचार कर वे श्री कुंदकुंद स्वामी भगवान की वेदी के नीचे बैठ गये। इतने में ही वहां पर चक्रवर्ती भी भगवान के दर्शन करने को आया ॥ 229/230 ॥

अर्थ—श्री सीमंधर स्वामी की वंदना करते समय स्वामी की वेदी के नीचे बैठे हुए कुंदकुंद मुनि को देखकर और कौतुक से अपने हाथ पर रखकर यह कौन है यह कौन है ? इस प्रकार हर्ष से विचार करने लगा ॥ 231 ॥

अर्थ—मुनिराज कुंदकुंद स्वामी को अपने हाथ में रखकर चक्रवर्ती ने विचार किया कि यह नग्न है और कमंडलू तथा मयूर पीछी लिए हुए है। ऐसा जीव तो मैंने सारे संसार में नहीं देखा ! यह देखो यह पुरुषाकार है परन्तु अत्यंत तुच्छ काय है तो भी देखने में परमसुंदर है। यह श्री भगवान के समवसरण में कहां से आया ? और यहां पर आने का कारण क्या है चक्रवर्ती ने ऐसा अपने मन में विचार कर और श्री जिनेन्द्रदेव श्रीसीमंधर भगवान को नमस्कार कर अपने संदेह को दूर करने के लिए पूछा ॥ 232/233/234 ॥

त्रिकालज्ञ दयाधीश कोयं भो भूतभाविवित् । धेदृशोहि मया भूतो नैव दृष्टः क्वचिदपि ॥ 235 ॥
तदेत्थमाह भो चक्रिन् मेघगंभीरया गिरा। शृणु पूर्वं हि यत्प्रोक्तं सोस्ति भारतजो मुनिः ॥ 236 ॥
विभोर्वाचमिति श्रुत्वा भूमीशोऽपि तदा मुदा। भक्तया तत्पादपद्माग्रं नत्वा तुष्टो बभूव सः ॥ 237 ॥
मुहुर्निरीक्षणं कृत्वा पश्चात्तं स्वामिनः पुरः । मोदेन स्थापयामास तुच्छकायभयात्स च ॥ 238 ॥
वीतरागमुखोद्गीतामनेकान्तमयीं वराम् । सिद्धांतगर्भितां शुद्धां भेदाभेदकरां घनाम् ॥ 239 ॥
नयभेदप्रयुक्तां च सर्वभाषामयीं तथा। त्रिकालकथकां चैव पुरुषार्थप्रपादकाम् ॥ 240 ॥
इत्याद्यनेकभेदाढ्यां दिव्यवाणीं च स मुनिः । श्रुत्वा हृदि घनानंदमाप तत्समये वरे ॥ 241 ॥

अर्थ—हे त्रिकालज्ञ ! हे दयाधीश हे भूतभाविवित् । यह मेरे हाथ पर रखा हुआ कौन सा प्राणी है। ऐसा प्राणी तो मैंने कभी कहीं पर देखा नहीं है ॥ 235 ॥

अर्थ—तब स्वामी सीमंधर ने मेघ समान गंभीर वाणी से कहा कि हे चक्रधर सुन। प्रथम जिसको मैंने दिव्यध्वनि द्वारा धर्मवृद्धि दी थी वही यह भरतक्षेत्र का मुनिराज है ॥ 236 ॥

अर्थ:—भगवान श्री सीमंधर स्वामी के वचनों को सुनकर चक्रधर अति प्रसन्न हुआ और कुंदकुंद मुनि के चरणकमलों को बारंबार नमस्कार कर परम हर्ष को प्राप्त हुआ। मुनिराज को पुनः पुनः बारंबार निरिक्षण कर और ये अत्यंत लघु काय हैं, गिर पडे तो दब जायंगे ऐसे भय से उसने स्वामी की वेदी के नीचे हर्ष से रख दिया ॥ 238 ॥

अर्थ:—श्री वीतराग-परम देव श्री सीमंधर स्वामी के मुख से प्रकट हुई, अनेकांतमयी, परमोत्कृष्ट, परम सिद्धांत के रहस्य को प्रकट करने वाली, परम विशुद्ध, अनेक भेद प्रभेदों से विभूषित, नयप्रमाण से युक्त, समस्तभाषामयी, त्रिकालवर्ती पदार्थों के स्वरूप को एक साथ प्रत्यक्ष प्रतिभास करने वाली, परमपुरुषार्थ के स्वरूप को यथावत् प्रकाशित करने वाली समस्त प्रकार के दोषों से रहित और परम आनंद को प्रदान करने वाली ऐसी (दिव्य ध्वनि रूपी) जिनवाणी को सुनकर वे कुंदकुंद मुनीश्वर अपने मन में अत्यंत हर्ष को प्राप्त हुए ॥ 239/240/241 ॥

पुनः प्रश्नमिति चक्रे स्वामिन् तीर्थाधिराट् प्रभो। मिथ्यान्धतमोनाशैकदिवामणिः कृपाधिराट् ॥ 242 ॥
भारते नाथ सर्वे हि लोका मिथ्या त्वपोषकाः। हरिब्रह्मादिदेवानां युक्तानां केवलाख्यया ॥ 243 ॥
दृश्यंते दोषमग्नानां मूर्तयोऽपि च भो प्रभो। किमस्ति कारणं तत्र सर्वत्र नो जिनालयाः ॥ 244 ॥
तुच्छा मुनीश्वरा देव पाखंडमतधारकाः। पुरुषाः सघनाः संति नानाभेदमतांतराः ॥ 245 ॥
श्वेतवासधराः स्वामिन् स्वमतस्थापने रताः। मिथ्यात्वपोषका मानमायामात्सर्यसंभृताः ॥ 246 ॥
स्वकल्पोक्तप्रयोगेन परवंचनचातुराः। स्वेच्छाचाररताः क्रूरा मुनिद्वेषा क्रियो ज्झताः ॥ 247 ॥
जैनग्रंथा न दृश्यंते यत्र मिथ्यात्वनाशकाः। तीर्थाधिप त्रिकालज्ञ तस्यैव कारणं च किम् ॥ 248 ॥
मिथ्यात्वका जिनाधीश रामभारतकादयः। ग्रंथा हि बहवः संति केवलानर्थसंभृताः ॥ 249 ॥
इत्यादिप्रश्नं स योगी कृत्वा संदेहहानये। मौनं कृत्वा पुरस्तस्योऽतिष्ठत् श्रोतुं प्रभोर्ध्वनिम् ॥ 250 ॥

अर्थ—कुंदकुंद मुनिराज ने फिर नीचे लिखे हुये प्रश्न श्री सीमंधर स्वामी से किये—

हे स्वामिन्। हे तीर्थाधिराट् हे प्रभो हे त्रिकालज्ञ हे मिथ्यात्वांधकारनाशक हे ज्ञान के सूर्य हे कृपालो हे नाथ भरत क्षेत्र में समस्त मनुष्य मिथ्यात्व के पोषक क्यों हैं ? नाम मात्र से (गुणों से रहित) हरि ब्रह्मा विष्णु महादेव आदि कुदेवों की इतनी बडी मान्यता क्यों हुई ? ऐसे मिथ्यात्वी और असत्य देवों की मूर्ति कैसे स्थापित हुई इसका कारण क्या ? हे प्रभो ! भारत में सर्वत्र जिनालय क्यों नहीं हैं। हे नाथ ! भारतवर्ष में परमपूज्य सत्य यथाजात (नग्न दिगंबर) स्वरूप को धारण करने वाले मुनिश्वर स्वल्पसंख्या में क्यों हैं। हे देव पाखंड स्वरूप के धारक कुगुरुओं की बढवारी क्यों है ? हे सर्वज्ञ ! अनेक मत मतांतर वहां पर क्यों हैं । हे प्रभो ! अपने मत के स्थापन करने में प्रवीण–मिथ्यात्व का उपासक–मान माया और मात्सर्य से परिपूर्ण अपने कल्पित मीठे वचनों के द्वारा जगत को ठगने वाला परन्तु हृदय में अतिशय क्रूर स्वेच्छाचारी, सत्य दिगंबर जैन मुनियों से अंतरंग में द्वेष रखने वाला और श्रेष्ठ क्रिया से रहित ऐसा श्वेतांबरी मत कब उत्पन्न हुआ ? हे भगवन् संसार में सत्य स्वरूप को प्रकट करने वाले जैन शास्त्र देखने में नहीं आते और मिथ्याशास्त्र बहुलतासे देखे जाते हैं सो क्यों ? हे त्रिकालज्ञ इन सबका कारण कहो। उपर्युक्त प्रश्नावली को कहकर मुनि कुंदकुंद मौनस्थ होकर प्रभु के सामने बडी भारी नम्रता से बैठ गये और अपने प्रश्नों के उत्तरों को सुनने के लिये अति उत्सुक हुए ॥ 242 –250 ॥

तदा सीमंधरस्वामी वारिवाहसमागिरा। तं प्रत्याह शृणु भव्य एकाग्रमनसा खलु ॥ 251 ॥
आद्यं दैगंबरं ख्यातं सर्वत्रैव महोन्नतम्। मीमांसाद्या मता: पंच ततो जाता ह्यनर्थका: ।1 252 ॥
वृषभनाथदीक्षाया: कालात् वीरांतिमे खलु। जैनमार्गबहिर्भूता: खाद्याखाद्यविवर्जिता: ॥ 253 ॥
पाखंडा बहुधो भूतास्तेषां मध्ये मतोक्तिजा:। प्रत्येकं द्व्यष्टका ज्ञेया: स्वस्यैव धर्मनाशका: ॥ 254 ॥
भद्रदो: समये पश्चादभूद्वै स्वेतवासमां। मत: कापट्यमग्नानां द्वापरार्पितचेतसाम् ॥ 255 ॥
षण्मते च भविष्यंति भेदा: स्वमतिकल्पिता: । ऋतुरंध्रप्रमा भव्य स्वस्वमतस्य नाशका: ॥ 256 ॥
केचित् भूताश्च पाखंडा: । भाविभूताश्च केचन। विप्राहि जैनधर्मस्य करिष्यंति विनाशनम् ॥ 257 ॥

अर्थ:—तब भगवान श्री सर्वज्ञ प्रभु श्री सीमंधर स्वामी मेघ के समान गंभीर वाणी से बोले कि हे भव्य ! एकाग्र मन से सुनो ॥ 251 ॥

अर्थ:—हे भव्यवर ! सबसे प्रथम (अनादि निधन) दिगंबर जैनमत ही प्रसिद्ध है। पीछे से मीमांसा आदि मत भी अनर्थ के करने वाले उत्पन्न हुए ॥ 252 ॥

अर्थ:—श्रीभगवान वृषभदेव की दीक्षा के बाद और अंतिम महावीर स्वामी पर्यंत जैनधर्म से बहिर्भूत और खाद्य अखाद्य के भक्षण के विचार रहित मिथ्या मत प्रचलित हुए ॥ 253 ॥

अर्थ:—उन मिथ्या मतों में अनेक मनोनीत कल्पना के द्वारा असत्य पदार्थों को सत्य रूप प्रगट करने वाले पाखंड रूप के धारक अनेक मत होंगे । जो कि अपने ही धर्म के नाशक 16 भेद रूप हैं ॥ 254 ॥

अर्थ:—भद्रबाहु स्वामी के पीछे श्वेतांबर मत प्रचलित हुआ। ये श्वेतांबर बडे कपटी हैं और अपने हृदय में सदा संशय रखने वाले हैं ॥255 ॥

अर्थ—हे भव्य षट्मतों में भी अपने अपने मन की कल्पना से प्रत्येक में साठ-साठ भेद हो जायगें। वे अपने-अपने मूल मत के नाशक होंगे ॥ 256 ॥

अर्थ—कितने ही तो पाखंडी हो गये। और कितने पांखड मत को भविष्य में फैलायेंगे और ब्राह्मण लोग जैन धर्म का नाश करने वाले होंगे ॥ 257 ॥

भो भव्य भ्रातुर्मोहाद्य कृष्णाग्रजन्मना खलु। बलभद्रेण यज्जातमुदंतं सकलं श्रृणु ॥ 258 ॥

किमनर्थं च मोही न करोति धर्मनाशकम् । मोहेन वहवो नष्टाः सत्वयुक्ता हि मानवाः ॥ 259 ॥

भ्रातुर्विख्यातिसिद्ध्यर्थमिति क्षितौ प्रवंचना । कृता च तेन लोकस्य प्रतारणार्थमेव हि ॥ 260 ॥

किं कृतं व्योमयानस्थो भूत्वा कृष्णसमं खलु। सुरूपं सांगनायुक्तां दधे नेत्रमनोहरम् ॥ 261 ॥

स्वस्य रूपं च लोकानामग्रे हि मायया युतम् । दर्शयित्वा पुनः सर्वानित्याह सुमतिच्युतान् ॥ 262 ॥

सर्वशोभासमायुक्तं मोहवान् स खलु सुरः । दर्शयन्नतिशयान् लोके स्वस्य प्रत्यक्षमंजसा ॥ 263 ॥

शृणुध्वं सकला लोका मद्भावयं शातदायकम् । एकाग्रचेतसा शुद्धं श्रवणाच्छिवदायकम् ॥ 264 ॥

अर्थ—हे भव्य अपने छोटे भाई के मोह से कृष्ण के बडे भाई बलदेव के जीव ने जो घोर मिथ्यात्व की उत्पत्ति की उस बात को श्रवण कर ॥ 258 ॥

अर्थ—मोही मनुष्य धर्म के नाश करने वाले कितने अनर्थों को नहीं करता है। अरे ! मोह के प्रभाव से बड़ी-बड़ी शक्ति के धारक और महान ज्ञानसंपन्न मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥ 259 ॥

अर्थ—उस बलदेव के मोही जीव ने अपने छोटे भाई कृष्ण की प्रसिद्धि के लिये जो प्रपंच रच कर संसार को धोखा दिया वह विचारणीय है ॥ 260 ॥

अर्थ—हे भव्य ! बलदेव के जीव ने अपने भाई की प्रसिद्धि के लिये स्वर्ग में से आकर और विमान में बैठकर अपना स्वरूप देव ने माया (विक्रिया से) से कृष्ण के समान बनाया और वह सुंदर स्वरूप स्त्री सहित और नेत्रों को प्यारा महा मनोहर बनाया ॥ 261 ॥

अर्थ—उस बलदेव के जीव ने कृष्ण के स्वरूप में (जो माया से अपना कृष्ण का रूप बनाया था) लोकों के सामने मायापूर्ण दिखलाकर मतिभ्रष्ट जीवों से कहा। इसके प्रथम संपूर्ण शोभायुक्त मोही उस बलदेव के जीव ने देवने समस्त लोगों को बडे चमत्कार बतलाये जिससे लोग उन चमत्कारों (जो देव ने विक्रिया से झूठे किए थे) को सत्य समझकर फस जांय । और प्रत्यक्ष भी अपना स्वरूप दिखलाकर लोगों को फसाने का प्रपंच किया। इन सब बातों से बिचारे भोले भाले जीवों को मिथ्यात्व

अद्य प्रभृतितो मर्त्यः प्रत्यक्षत्वेन संस्थितः। अस्मिन् लोके पुनश्चाहं शृणुध्वं यन्मयोदितम् ॥ 265 ॥
कलियु स्य दोषेण कलौ चास्मिन् प्रत्यक्षतः । मानवा मे स्थितिं नैव अप्रत्यक्षेण निश्चयात् ॥ 266 ॥
अतो यूयं मां नित्यं जपध्वं सकलार्थदम् । पूज्यनाथं जगत्पूज्यं पूजयध्वं च सर्वथा ॥ 267 ॥
भक्तिरागादिगानौघैः यात्रां कुरुथ मे सदा। महते किमपि नास्ति मा कुरुध्वं परां क्रियाम् ॥ 268 ॥
कर्तास्मि पूर्णब्रह्माहं शंकरोऽस्मि जनार्दनः । तारकोऽस्मि नराणां च पालकोऽस्मि धरातले ॥ 269 ॥
गंगायां मृतकस्योचैः अस्थीनि भो नरोत्तमाः । गतिकर्तास्मि सर्वस्य क्षेपणीयानि निश्चयात् ॥ 270 ॥
मत्तीर्थे मृतकस्यैव पिंडादिकवरां क्रियाम् । करिष्यंति न च तेषां भविष्यत्यसुखं कदा ॥ 271 ॥

में अनंत संसार बंध कराया और सत्य मार्ग से धोखा दिया। उस बलदेव के जीवने मायामयी कृष्ण के रूप से लोगों को कहा कि हे जीवलोको ! मेरे वचन सुनो जिससे मोक्ष की प्राप्ति आप लोगों को होगी। हे लोगों आज तक तो मैं अपना प्रत्यक्ष रूप दिखलाकर सत्यधर्म (जो मोह से विक्रिया द्वारा कल्पित और महान अनर्थ का करने वाला) प्रकट किया परंतु अब से मैं प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होऊंगा कलि के दोष से ऐसा होना स्वभाविक है परंतु आप लोग मुझ में विश्वास कर परोक्ष रूप से मान्यता करें। इसलिए आप मेरा ध्यान करें, जप करें और मुझे ईश्वर समझकर पूजन करें। मेरी पूजा करने से संपूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी। भक्ति से मेरा गान करें। मेरी यात्रा करें। मुझ को छोड़कर आप लोग अन्य किसी को नहीं मानें। जो कुछ करना हो सो सो सब मेरे कहे अनुसार करें।। 262-267 ॥

अर्थः—इस धरातल में मैं ही सर्व जगत का कर्ता हूं। मैं ही पूर्ण ब्रह्म हूं। मैं ही शंकर हूं। मैं ही जनार्दन हूं। मैं ही तारक हूं। और मैं ही मनुष्यों का पालक हूँ ॥ 269 ॥

अर्थः—मृतक पुरुषों की अस्थियां (हाड) गंगानदी में बहानी चाहिये । यों जो ऐसा करेंगे तो मैं उनकी सद्गति करूंगा ॥270॥

अर्थः—जं पुरुष मेरे तीर्थ में मृतकों का पिंडदान आदि क्रिया करेगा उसको कभी भी दुःख नहीं होगा ॥ 271 ॥

स्नानं मर्त्याश्च मत्तीर्थे तर्पणं पूजनं जपं। करिष्यंति भजिष्यंति मद्भोकं ते न संशयः ॥ 272 ॥
पुनः स्वमायया तेन गंगाद्यास्तीर्थाः स्थापिताः । दर्शितातिशयास्तत्र मोहनीयोदयाच्च वै ॥ 273 ॥
स मोही भ्रातुर्नामांकसंयुक्तां सकलां महीम् । कृत्वा जगाम स्वस्थानं तद्धेतुं विद्धि निश्चयात् ॥ 274 ॥
ततः प्रभृतितः सर्वे मूढलोकोत्करः खलु। मिथ्यामार्गं च स्वीचक्रुः प्रत्यक्षफलदर्शनात् ॥ 275 ॥
पतत्येव यथा गर्ते ह्योकोऽपि नर्णको ऊनु। तदनुसारतः सर्वे उर्णकास्तत्र निश्चयात् ॥ 276 ॥
तथा मिथ्यात्वपर्ते हि पतिताः प्रतिवर्जिताः । एकस्यैव प्रयोगेन मूर्खाणां लक्षणं परम् ॥ 277 ॥

अर्थः—जो मनुष्य मेरे तीर्थ में स्नान करेगा, तर्पण करेगा, पूजन करेगा, जप करेगा, मेरा भजन करेगा [illegible] मैं उसको निःसंदेह वैकुंठवास करा दूंगा ॥ 272 ॥

अर्थः—फिर उस बलदेव के जीव ने अपनी विक्रिया ऋद्धि से मायामयी गंगादि तीर्थों का स्वरूप दिखला[illegible]कर उनको स्थापित किया और अतिशय दिखलाकर लोगों को उसकी सत्यता प्रकट की। सच है कि मोहनीय कर्म के उदय से [illegible]नीव कितने मायाचार नहीं करता है ? और कितनी प्रवंचना नहीं बनाता है ॥ 273 ॥

अर्थ—उस महा मोही और पापी बलदेव के जीव ने अपने भाई के मोह से भाई का नाम समस्त पृथ्वी पर प्र[illegible]कट किया और फिर वह देव (बलदेव का जीव) अपने स्थानपर गया। हे भव्य कुंदकुंद मुनि, भारत में मिथ्यात्व तब से ही प्र[illegible]कट हुआ। तभी से असत्य एवं कल्पित मत (जिसमें जीव हिंसादि पापों का विचार नहीं है) प्रचलित हुआ ॥ 274 ॥

अर्थ—हे भव्य तब से ही मूढ अज्ञानी लोगों ने प्रत्यक्ष चमत्कार (देव की मायामयी विक्रिया) देखकर [illegible]मिथ्यामार्ग स्वीकार किया ॥ 275 ॥

अर्थ—हे भव्य जैसे एक भेड गड्ढे में गिर पडे तो बहुत सी भेडें बिना विचारे ही उस गड्ढे में गिर पडती हैं। [illegible]सी प्रकार प्रथम किसी भोले बेसमझ मनुष्य को बलदेव के जीव ने अपनी विक्रिया से चमत्कार बतलाया उस पर विचार न कर उ[illegible]सको सत्य समझकर उस मिथ्याकल्पित बात को उसने सत्य माना और उसके देखा देखी अन्य मनुष्यों ने विचार न कर उस[illegible]ी बात को स्वीकार किया। इससे समझना चाहिए कि अज्ञानी जीव गतानुगतिक होते हैं। सच बात तो यह है कि मूर्ख जी[illegible]ों का यही लक्षण है कि जो बिना विचारे एक के सहारे गमन करें ॥ 276-277 ॥

पंक्तिक्षेत्रेषु सर्वेषु कालदोषप्रभावत: । भवंति चेदृशा मार्गा मिथ्यात्वरससंभृता: ॥ 278 ॥
जिनधर्मरता भव्य ! भवंति स्वल्पसंख्यया । मानवाश्चेतरा: क्रूरा मिथ्यात्वपालका घना: ॥ 279 ॥
जिनागमस्य शास्त्राणि चाब्धौ संक्षेपितानि वै । दुष्टलोकै: ह्यतो नैव दृश्यंते जैनवाक्यजा: ॥ 280 ॥
धरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलादय: । विद्यंते तेधुना तत्र जैनाभिधपुरे वरे ॥ 281 ॥
मिथ्यात्वपोषका भूपा विप्राणां पूजकास्तदा । सर्वलोका तदाधीना अत: स्वल्पा जिनालया: ॥ 282 ॥
वेदकाले नृपा जैनास्तदा प्रजापि तत्समा । तदाहि जैनधर्मोयं चाद्भुतत्वेन दृश्यते ॥ 283 ॥
प्रतिघस्रं च म्लेक्षानामुदयस्तत्र हा नवै । भविष्यति च धर्मस्य प्रकाश: कुत्रचिदपि ॥ 284 ॥

अर्थ—भरतक्षेत्र में काल दोष से ऐसे ही कुमार्ग उत्पन्न होंगे। जो मिथ्यात्व को बढाएंगे और जिन में सत्यता नहीं होगी॥ 278 ॥

अर्थ:—भरतक्षेत्रादि क्षेत्रों में पंचम काल के प्रभाव से जैन धर्म के धारक स्वल्प संख्या में होगें। परंतु मिथ्यात्व के पालन करने वाले क्रूर बहुसंख्य मनुष्य होंगे ॥ 279 ॥

अर्थ:—जिनागम के शास्त्रों को दुष्ट लोग द्वेष के कारण समुद्रों में प्रक्षेपण कर देंगे। इसलिये जैनशास्त्र बहुत ही कम संख्या में देखने में आयेंगे॥ 280 ॥

अर्थ:—श्री आचार्य वय श्रीधरसेन मुनीन्द्र के बनाये हुए धवल-जयधवल-महाधवलादि महान ग्रंथ अब भी जैनपुर (मूडबिद्री) में विराजमान हैं ॥ 281 ॥

अर्थ:—महामिथ्यात्व के पोषक ऐसे ब्राह्मण लोगों के पूजक राजा लोग हो गये। राजा के आधीन इतर प्रजा होती है सो प्रजा भी राजा के समान ही मिथ्यात्वी ब्राह्मणों की उपासक बन गई इसलिये जैन मंदिर स्वल्पसंख्या में होते चले गये ॥ 282 ॥

अर्थ:—चौथे काल में राजा भी जैनी थे और इसी लियें प्रजा भी सब जैन धर्म को धारण करने वाली थी। इसी कारण उस समय यह धर्म बड़ी अद्भुत उन्नति करता हुआ दिखलाई पड़ता था ॥ 283 ॥

अर्थ:— हे भव्य ! भरतक्षेत्र में पंचम काल में म्लेच्छों का उदय प्रति दिवस बढेगा इसलिये धर्म की हानि नियम से होगी। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म का लोप हो जायगा। कहीं-कहीं पर धर्म का महान उज्वल प्रकाश पंचम काल के अंत पर्यंत नियम से रहेगा। मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रूप चतु:संघ रहेगा ॥ 284 ॥

ह्यतीतानागतात् वर्तमानजात्सर्ववस्तुत: । नि:संदेहं मुनेश्चित्त चकार स जिनेश्वर: ॥ 285 ॥

पश्चाद्धि चाभवदेवं प्रभोध्वानर्मनोहर: । सिद्धांतानां रहस्यं चागर्यनगारजा: क्रिया: ॥ 286 ॥

अद्याप्येनंहि योगीन्द्रं सर्वसिद्धांतसूचकान् । ग्रथांश्च लेवयिचा वै प्रेषणीयं तत: परम् ॥ 287 ॥

इत्याख्य जिनेन्द्रोऽपि घोषमाप दयार्द्रधी: । प्रभोर्ध्वनिमिति श्रुत्वा सर्वे चानंदनिर्भरा: ॥ 288 ॥

समाप्य परमं मोदं सोपि योगीश्वरस्तदा । तस्थौ तत्र सभास्थाने पठनार्थं समग्रधी: ॥ 289 ॥

एकदा भूमिराट् चक्रे आहारार्थं मुनिं प्रति । पुरे वै प्रार्थनां स्वामिन् विहारं कुरु पावनम् ॥ 290 ॥

सोप्याह त्वं न किं विद्धि अत्रहि योग्यता न मे । न्यादस्य भो नराधीश । श्रुत्वेत्याह पुनश्च स: ॥ 291 ॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकज्ञ श्रीसीमंधर स्वामी ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भगवान कुंदकुंद मुनि के भूत-भविष्य और वर्तमान वस्तुओं से उत्पन्न हुए सर्व संदेह को निवारण किया ॥ 285 ॥

अर्थ—फिर प्रभु श्री सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि सिद्धांतों का रहस्य प्रकट करने वाली और गृहस्थ मुनियों के चारित्र का स्वरूप प्रकट करने वाली हुई ॥ 286 ॥

अर्थ—समस्त सिद्धांत के रहस्य को प्रकट करने वाले सिद्धांत ग्रंथ लिखाकर योगीश्वर कुंदकुंद स्वामी के साथ भेजना चाहिए ॥ 287 ॥

अर्थ—इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान की घोषणा दिव्यध्वनि के द्वारा श्रवण कर समस्त भव्य जीव आनंद को प्राप्त हुए ॥ 288 ॥

अर्थ—भगवान् श्री सीमंधर की दिव्य ध्वनि को सुनकर मुनि कुंदकुंद भी अतिशय आनंद को प्राप्त हुए और ग्रंथ पढने की इच्छा से गणधरों के समीप सभास्थान में बैठे ॥ 289 ॥

अर्थ—एक समय विदेह के चक्रवर्ती ने मुनि कुंदकुंद से आहार के लिये नगर में पवित्र विहार करने की प्रार्थना की ॥

अर्थ—मुनि कुंदकुंद ने कहा कि हे राजन्! आप क्या नहीं जानते हैं कि यहां पर मेरी भोजन-पान (आहार ग्रहण करने की) योग्यता ही नहीं है ॥ 291 ॥

मुने मे कारणं ब्रूहि तस्य द्वापरहानये । तदावदत् मुनिरेवं श्रृणु त्वं दानवत्सल ॥ 292 ॥

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रि: त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा । भारतजोप्यहं न्यादं कथं कुर्वेऽत्र दोषदम् ॥ 293 ॥

इत्युत्तरं मुनीन्द्रो हि ददौ तस्मै सहांसधी: । सोपि चक्री मुनीन्द्रस्य धैर्यं दृष्ट्वा मुदं गत: ॥ 294 ॥

प्रशस्य वचनौघैस्तं नत्वा स्वस्यांकमानवान् । संस्मरन् तद्गुणग्रामं शुद्धसम्यक्त्वधारक: ॥ 295 ॥

कुंदकुंदयतींद्रोपि प्रभो: पादाब्जषट्पद: । सद्व्रती शुद्धधी: वाङ मी स्मरणसिंहभ: ॥ 296 ॥

पपाठ सर्वसिद्धांतसूचकान् सन्निधे: गुरो: । ग्रंथान् बुद्ध्यनुसारेण जैनमार्गप्रवृद्ध ये ॥ 297 ॥

अर्थ—हे मुनीश्वर ! मेरे संदेह को दूर करने के लिये आप दया कर कहिये कि यहां पर आप की आहार की योग्यता क्यों नहीं है ? मुनि ने कहा कि हे दानवत्सल राजन् इसका कारण सुन :

अर्थ—हे राजन् ! मेरी जन्म भूमि भारत है वहां पर ही यह जिनदीक्षा मैने ग्रहण की है। वहां पर इस समय रात्री है। यद्यपि इस समय यहां पर दिवस है परंतु मेरे हिसाब से रात्रि है। इस प्रकार में रात्रि में भोजन कर नहीं सकता– क्योंकि मुनिचर्या में यह सबसे भारी दूषण है ॥ 293 ॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि कुंदकुंदने उस चक्री को आहार ग्रहण नहीं करने का कारण कहा जिसको सुनकर और मुनीश्वर की धैर्यता को देखकर चक्री परम हर्ष को प्राप्त हुआ ॥ 294 ॥

अर्थ—फिर सम्यक्त्व के धारक उस चक्रवर्ती ने मुनि कुंदकुंद स्वामी को अपने अंक (गोदी) में रखकर उत्तम वचनों के द्वारा स्तवन किया और उनके गुणों का स्मरण कर नमस्कार किया ॥ 295 ॥

अर्थ—प्रभु के चरण कमलों में भ्रमर के समान श्रेष्ठ व्रत के धारक शुद्ध बुद्धि के धारक वाङमी और कामदेव रूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह समान।। 296 ॥

अर्थ—ऐसे उन कुंदकुंद मुनि ने गुरु गणधर के समीप सिद्धांत ग्रंथों का अध्ययन अपनी बुद्धि के अनुसार जैनमार्ग की वृद्धि के लिये किया॥ 297 ॥

सप्ताहानि प्रमाणानि भो भव्या धर्मधी: क्षमी। वशी दमी तपस्वीचजिनागमप्रकाशक: ॥ 298 ॥

मोदमाक् शुद्धवाक् तत्र निराहारेण स मुनि: । तस्थौ हि धर्मवृद्ध्यर्थं पूर्वपुण्योदयात्खलु ॥ 299 ॥

पूर्वपुण्येन जीवानां कार्यसिद्धिश्च सर्वदा। भवेदहो शिवाप्त्यर्थं कुरुध्वं पुण्यकारणम् ॥ 300 ॥

पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणामभिषेकपुरस्सरा। पूजा च पात्रदानं च तीर्थयात्रादय: तप: ॥ 301 ॥

इत्याद्यनेकभेदा हि पुण्यानां संति निश्चयात् । यदिच्छा शिवस्थानस्य कुरुध्वं पुण्यसंततिम् ॥ 302 ॥

विदेहक्षेत्रभूमि: क्व भरतस्याचला क्व हि । पुण्योदयेन सर्वाच करस्था इव दृश्यते ॥ 303 ॥

दुर्घटं च प्रदूरं च दु:प्राप्यं वस्तु यत् खलु। तत् सर्वं पुण्यभाजांच स्वयमेवोपजायते ॥ 304 ॥

अर्थ—हे भव्य धर्म बुद्धि वाले, इन्द्रियों को वश करने वाले, महा तपस्वी, शांत जितेन्द्रिय जिनागम के प्रकाशक, परम आनंदी विशुद्ध वचनों के कहने वाले ऐसे कुंदकुंद मुनि वहां पर विदेह क्षेत्र में सात दिवस पर्यंत निराहार रहे। इसमें एक पूर्वभव पुण्य ही प्रधान कारण है ॥ 298-299 ॥

अर्थ—हे भव्यजीवों ! पूर्वभव के पुण्य से ही जीवों को समस्त प्रकार के कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुण्य कारणों को संपादन करो ॥ 300 ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! श्रीमज्जिनदेव की पंचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना, पात्र में दान देना, तीर्थयात्रा करना, गुरुसेवा करना, जैन धर्म की रक्षा के लिये जैन धर्म के अंतरंग शत्रुओं का नाश करना आदि अनेक कारण पुण्य प्राप्ति के हैं। जो मोक्ष जाने की इच्छा है तो पुण्य कार्यो को करो ॥ 301-302 ॥

अर्थ—हे भव्य ! कहां तो विदेह क्षेत्र ? और कहां यह भारत क्षेत्र का धरणीभूषण पर्वत ? कहां श्री सीमंधर तीर्थंकर और कहां पंचम कालीन कुंदकुंद मुनि परंतु पूर्व पुण्योदय से सब कुछ होता है। जो बात अत्यंत दुर्लभ है वह भी अपने हाथ पर रखी हुई के समान दीखती है। दुर्घट, दुष्प्राप्य और असमंजस वस्तु भी पूर्व पूण्योदय से सिद्ध होती है ॥ 303-304 ॥

नागाः चाश्वा बुद्धेर्योगो रम्याः पुत्रा द्रव्यं धान्यम् । कौशल्यं कौ नित्यं शर्म जायंते वै कर्मोद्रेकात् ॥ 305 ॥
हिरण्यवारप्राप्तिता तथैव स्वात्मशुद्धता । गुरुप्रसन्नवाक्यता विधेर्मवैद्य मान्यता ॥ 306 ॥
विदुषो मैत्री सुस्वनता विधुसभा धर्मप्राप्तिः सुंदरदेहश्चास्मिन् लोके सुपुण्यं बिना नैवाप्ताः स्युः ॥ 307 ॥
ज्ञात्वेत्थं भो बुधा नित्यं सर्वशर्मप्रदायकम् ॥ दानपूजाभिषेकाद्यैः कुरुध्वं धर्मसंततिम् ॥ 308 ॥
स मुनिः कुंदकुन्दाव्हो यत्याचारस्य सूचकम् । ग्रंथस्य शिवप्राप्त्यर्थं मिथ्यापथविहानये ॥ 309 ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण कृत्वा स्वहृदि धारणाम् । अथागमनसिद्धयर्थं गतिं चक्रेच शुद्धधीः ॥ 310 ॥
स्वकरौ कुडम्लीकृत्य त्रिप्रमां वै प्रदक्षिणां । सीमंधरजिनेन्द्रस्य दत्वा संसारहान ये ॥ 311 ॥
वस्त्राङ्गेन पुनर्नत्वा चोत्थाय प्रार्थनां वराम् । चक्रे विभोर्हि सान्निध्ये महदानंदसंभृतः ॥ 312 ॥

अर्थ—हाथी-घोडे-उत्तमबुद्धि, आज्ञाकारी पुत्र, द्रव्य धन-धान्य-कुशलता और सुख पूर्वपुण्योदय से सर्व प्राप्त होता है ॥ 305 ॥

अर्थ—सुवर्ण की प्राप्ति आत्मा की विशुद्धता गुरुकी प्रसन्नता और लोक में मान्यता यह सब बात पूर्व पुण्योदय से होती है ॥ 306 ॥

अर्थ—विद्वानों से मित्रता, सुस्वरता, चंद्रसमान कांति, सुंदर देह और धर्म की प्राप्ति, बिना पुण्य के नहीं होती है ॥ 307 ॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर हे विज्ञ पुरुषो ! सदैव सुख का प्रदान करने वाली और पुण्य की उत्पादिका ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा अभिषेक पूर्वक करनी चाहिये । यह सबसे महान पुण्य का कारण है ॥ 308 ॥

अर्थ—मिथ्या मार्ग का नाश करने के लिये, और गुरु के बतलाये हुए मार्ग की वृद्धि के लिये यत्नाचार के बढाने वाले ग्रंथ को मोक्ष की प्राप्ति के लिये गुरु से हृदय में धारण कर कुंदकुंद मुनि ने वहां से अपने देश में आने का विचार किया ॥ 309-310 ॥

अर्थ—उस समय कुंदकुंद मुनि ने अपने दोनों हाथों को कुडमलाकार (कमलाकार) बनाकर अपने भाल पर रखा और भक्ति से सीमंधर प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी। अष्टांग नमस्कार कर और प्रभु के सामने खड़े होकर महान आनंद के साथ प्रार्थना की ॥ 311-312 ॥

जिनादित्य जिनाधीश धर्मचक्राधिराट् प्रभो । निर्विकार निरातंक ते पदाब्ज नमाम्यहं ॥ 313 ॥

कर्मदावाग्निमेघाय पापाद्रिभंजने पवे। भवादुद्धारय वीर मां दीनं शरणागतम् ॥ 314 ॥

त्वां विना कः क्षमो देव दातुं मोक्षपदं वरम् । तूर्णं च देहि त्रस्तोस्मि भवदुःखात् कृपापार ॥ 315 ॥

रागद्वेषादिषु मग्ना होते सर्वे दयोज्झिताः । कापट्यपूरिता देवाः सांवराः सांगनाः खलाः ॥ 316 ॥

तस्करा धर्मरत्नस्य चानंतभवदायकाः । भवाब्धितारका न स्युः तेहि मग्नाः परान् कथम् ॥ 317 ॥

तारकस्त्वं हि लोकेस्मिन् नान्यो देवश्च नास्ति वै। वीतरागाद्दते जीवा नो तरंति कधिदपि ॥ 318 ॥

आशिवं ते सदा भक्तिरस्तु मे चेतसि सदा। शुद्धदृग्ज्ञानवृत्तस्य प्राप्तिः पुरुषार्थदा वरा ॥ 319 ॥

अर्थ—हे जिनसूर्य ! हे जिनाधीश ! हे धर्मचक्राधिराट् हे निर्विकार हे निरातंक हे पापाद्रिभंजकपवे पापरूपी पर्वत को नाश करने के लिए वज्र के समान, हे वीर, आपके चरणकमल को नमस्कार है। मुझ दीन शरणागतका संसार समुद्र से उद्धार करो । 314 ॥

अर्थ— हे जिनेन्द्र आपके बिना मोक्षपद देने को कौन समर्थ है। इसलिए हे कृपा पर भव के दुःखों से मुझे छुड़ाओ ।। 315 ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वी पाखंडी देव रागद्वेष से पूर्ण दया से रहित धर्मरत्न के चोर अनंतभव के वर्द्धक-महान पापाचारी, स्त्री परिग्रह और पापारंभसहित और भी अनेक दूषण सहित, संसार समुद्र से कैसे तार सकते हैं। जो स्वयं संसारसमुद्र में डूब रहे हैं वे दूसरों को क्या तार सकते हैं ॥ 316-317 ॥

अर्थ—हे सीमंधरस्वामिन् आप ही संसार के तारक हो। आपके सिवाय अन्य किसी भी देव में यह शक्ति नहीं है। वीतराग अरहंत भगवान को छोडकर अन्य देवों में संसार समुद्र से तारने की कभी भी शक्ति नहीं है ॥ 318 ॥

अर्थ—हे प्रभो आपकी मुझे यही शुभ-आशीर्वाद हो कि मेरे चित्त में आपकी भक्तिभावना निरंतर बनी रहे। परमपुरुषार्थ को प्रदान करने वाली-शुद्ध दर्शन-शुद्धज्ञान और शुद्ध चारित्र की प्राप्ति भी सदैव बनी रहे ॥ 319 ॥

आराधनाविधानेन मरणं कर्मनाशदम् । चित्तशुद्धिः जिनाधीश जिनचंद्र भवापहा ॥ 320 ॥

भट्टारक गुणाधीश चानंतगुणसागर । पूज्य पूज्येश तीर्थेश नमोस्तु तवां घ्रयो (?) ॥ 321 ॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी त्वं सार्वः शांतः शमी दमी । करस्थामलवल्लोकं भवान् पश्यन्नपि प्रभो ॥ 322 ॥

तथापि न श्रमस्य चाल्पमात्रापि दृश्यते । भवानतः खलु लोके सर्वदर्शी च कथ्यते ॥ 323 ॥

ते नमोस्तु विदोषाय चिन्मयाय नमोस्तु ते । गुणभूषाय ते वीर में नमोस्तु सदात्मने ॥ 324 ॥

ते नमोस्तु विमानाय विरागाय नमोस्तु ते । भक्तिवत्सलभूतानां तारकाय नमोस्तु ते ॥ 325 ॥

मात्सर्यमदमुक्ताय शूरवीराय ते नमः । आबालब्रह्मरूपाय शिवरूपाय ते नमः ॥ 326 ॥

अर्थ—हे जिनाधीश आराधना की विधि से कर्मों का नाश करने वाला मेरा उत्तम मरण हो, मेरा मन सदैव पवित्र और सरल बना रहे जिससे मैं संसार का नाश कर सकूं ॥ 320 ॥

अर्थ— हे भट्टारक हे गुणाधीश हे अनंतगुणसागर हे त्रिलोकपूज्य हे तीर्थेश आपके चरणकमल को नमस्कार है। प्रभो आप सबके जानने वाले सर्वज्ञ हो– सबके देखने वाले सर्वदर्शी हो। सबके हित करने वाले हो। परम शांत हो, जितेन्द्रिय हो, मन को वश करने वाले हो। आप समस्त जगत के त्रिकालवर्ती पदार्थों को और उनकी अनंतानंत पर्यायों को एक साथ ही हाथ के आंवले के समान प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो तो भी आपको रंचमात्र भी श्रम नहीं होता है। इस प्रकार की अद्भुत शक्ति से ही आपको सर्वदर्शी कहते हैं ॥ 321-322-323 ॥

अर्थ—हे भगवन् आप दोषरहित हैं इसलिए नमस्कार है। चिद्रूप स्वरूप भगवन् आपको नमस्कार है। गुणों के भूषण आपको नमस्कार है। हे वीर शुद्धात्मन् आपको नमस्कार है। हे प्रभो मानरहित–परम वीतराग आपके लिए नमस्कार है। हे प्रभो आप भक्तिमान जीवों को संसारसमुद्र से तारने वाले हो इसलिए आपको नमस्कार है। हे प्रभो आप में मात्सर्य नहीं है। अभिमान नहीं है। क्रोध नहीं है। विकार नहीं है इसलिये नमस्कार है। हे प्रभो आप शूर हैं, परम वीर हैं, आबाल ब्रह्मरूप हैं। शिवस्वरूप है, योगीश्वर हैं इसलिये नमस्कार है ॥ 324-325-326 ॥

भूयुर्मे ते गुणाः सर्वे चात्मनि मोदृकर्मणः । नाशो वै स्मरभूपस्य नैरोग्यं सर्वदा तनौ ॥ 327 ॥
स्वर्गराज्यस्य वांछा न मे हृदि सर्वदा प्रभो। त्वं तिष्ठ नास्ति किंतु वै सर्वपापाप्रितोयदः ॥ 328 ॥
पुनर्भूयात् प्रभो स्वामिन् दर्शनं ते मनोहरम् । त्वदाधीनं कुरु मेहि ते नमोस्तु जिनेश्वर ॥ 329 ॥
स पुनर्जिनपादाब्जं मुहुर्नत्वा गणाधिपान् । सर्वयोगीश्वरान् भक्त्या लेभे तदाशिषो मुनिः ॥ 330 ॥
गृहीत्वा तैः प्रदत्तानि पुस्तकानि यतीश्वरः । धर्मार्थं न च शर्मार्थं सिद्धांतसूचकानि वै ॥ 331 ॥
प्रयत्नेन विमाने हि धृत्वा चारुह्य तौ सह । तस्माद्धि चाम्रमार्गेण चचालामंदमोदभृत ॥ 332 ॥
क्षणेन तौ मुनींद्रं तं तत्स्थाने चित्तनंददम्। स्थापयित्वा प्रणम्योच्चैर्लब्ध्वा तदाशिषं मुदा ॥ 333 ॥
प्राप्याज्ञां पुनः स्वस्थाने गतौ तद्गुणचिंतकौ। सम्यग्दृग्धारकौ मित्रे परोपकारकारकौ ॥ 334 ॥

हे प्रभो ! उपर्युक्त आपके समस्त गुण मेरी आत्मा को प्राप्त हों। तथा इस काम के राजा दुष्ट मोहनीय कर्म का नाश हो। मेरे शरीर की निरोगता हो। जिससे मैं तपश्चरण कर रत्नत्रय की प्राप्ति करूं।

हे प्रभो ! स्वर्ग के राज्य की प्राप्ति हो मेरे मन में ऐसी इच्छा नहीं है। किंतु हे प्रभो ! आप सदैव मेरे मन में वास करें एक यही मेरी इच्छा है। जिससे मैं अपने पापों का नाश कर सकूं।

हे प्रभो ! अब एक यह प्रार्थना है कि आपका परम पवित्र दर्शन पुनः पुनः हो। और मुझ को अब अपने आधीन रखिये। हे जिनराज ! आपको नमस्कार है।

इस प्रकार मुनि कुंदकुंद ने बड़ी भक्ति से बार-बार श्री सीमंधर स्वामी के चरण कमलों को नमस्कार कर, और गणधर देव तथा अपर समस्त मुनीश्वरों को नमस्कार कर उनकी शुभ आशीष को तथा यतीश्वरों के द्वारा प्रदान किये हुए सिद्धांत के ग्रंथों को ग्रहण कर और प्रयत्न से विमान में बैठकर उन देवों के साथ आकाश मार्ग से अत्यंत हर्षपूर्वक विहार किया ॥ 327-328-329-330-331-332 ॥

अर्थः—उन दोनों देवों ने मुनीश्वर कुंदकुंद को, चित्त को आनंदप्रद ऐसे उनके स्थान में पहुंचाकर उनको बडी भक्ति से नमस्कार किया तब मुनीश्वर ने उनको धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाद दिया उसको ग्रहण कर और मुनीश्वरों के गुणों का स्मरण करते हुए सम्यग्दर्शन के धारक-परोपकार करने वाले वे दोनों देव अपने स्थान को गये ॥ 333-334 ॥

पश्चाच्छ्रीकुंदकुंदाख्यो धरायां सकलार्थवित्। लेखवारप्रपूज्यत्वात् विख्यातत्वं च जातवान् ॥ 335 ॥
सर्वमिथ्यात्वदावाग्नेर्जैनसिद्धांतवारिणा। शमं चकार सर्वत्र स भव्यः शुभबोधकः ॥ 336 ॥
तदोपदेशमासाद्य तदा भव्याः सुखाप्तये। दानं वा पूजनं यात्रामभिषेकादिसत्क्रियाम् ॥ 337 ॥
जिनदेवस्य बिंबानां प्रतिष्ठांच मनोहराम्। श्रीमज्जिनालयस्यापि जीर्णस्योद्धारणं तथा ॥ 338 ॥
चक्रुः इत्यादि ते सर्वे महदानंदनिर्भराः। तदा जैनेन्द्रधर्मस्योद्योतश्च ह्यभवन् महान् ॥ 339 ॥
धर्मस्योद्धारणं तेन कृतं चास्मिन् कलौ खलु। जयत्यसौ मुनीन्द्रो वै मोहमातंगकेशरी ॥ 340 ॥
तदातिशयमः वीक्ष्य बुधाः केचिच्च तत्क्षणे। त्यक्त्वा संसारजं सौख्यं जगृहुर्मुनिसंयमं ॥ 341 ॥

अर्थ—उसके बाद श्री कुंदकुंद स्वामी इस पृथ्वीतल में–समस्त पदार्थों के जानने वाले देवों से पूजित सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये ॥ 335 ॥

अर्थ—उसके बाद प्रचंड ज्ञान के धारक श्री कुंदकुंद मुनीश्वरने सर्व प्रकार की मिथ्यात्व रूपी अग्नि का जैनसिद्धांतरूपी जल से नाश किया ॥ 336 ॥

अर्थ—भगवान् कुंदकुंद मुनीश्वर के उपदेश के प्रभाव से कितने ही भव्यजीव सुख की प्राप्ति के लिये मुनिआर्यिका आदि सतत पात्रों में दान करने लगे। श्री अरहंत भगवान् की पूजा करने लगे। और विवाहादि श्रेष्ठ क्रियाओं को यथागम पालने लगे। अपरिमित धनादिक के व्यय के द्वारा श्रीमज्जिनेन्द्र के बिंबों की प्रतिष्ठा और महान् उत्सव कराने लगे। प्राचीन जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार करने लगे। और रथोत्सव आदि विविध प्रकार के उत्सव करने लगे। व्रत तपादिकों के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना बढ़ाने लगे। इस प्रकार श्री कुंदकुंद मुनीश्वर के प्रभाव से जैन धर्म की महिमा अतिशय प्रकट हुई। यों कहना चाहिये कि उस समय का ही उद्धार मुनीश्वर ने करा दिया। ऐसे दिव्य महिमा के धारक स्वामी कुंदकुंद मुनि जगत् में सदैव जयवंत रहो ॥ 337/338/339/340 ॥

अर्थ—उस समय कितने ही भव्यजीवों ने उनके सदुपदेश से संसार की विचित्र दशा का विचार कर मुनिदीक्षा धारण की ॥ 341 ॥

नंद्याद्यास्तस्य संजाता: शिष्या बुद्ध्यब्धिपारगा: । संबोधार्थं चतुर्दिक्षु भव्यानां तानसौ मुनि: ॥ 342 ॥
प्राहिणोत्तेपि चानम्य गुरो: पादौ जगन्नुतौ । प्रकटं जिनधर्म हि चक्रु: सर्वं मुनीश्वरा: ॥ 343 ॥
तदाहि प्रकटो वासीत् जिनधर्म: क्षितौ खलु । सिद्धांतान् प्रकटं चक्रे पुन: सोपि यतीश्वर: ॥ 344 ॥
अंते समयसारं च नाटकं च शिवार्थदम् । पंचास्तिकायनामाढ्यं वीरवाचोपसंहिता ॥ 345 ॥
आद्यं प्रवचन चैव अंत्यस्थं सारसंज्ञकम् । संबोधार्थं च भव्यानां चक्रे सत्यपदार्थदम् ॥ 346 ॥
यत्याचाराभिधं ग्रंथं श्रावकाचारमंजसा । ध्यानग्रंथं क्रियापाठं प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ॥ 347 ॥
प्रतिघस्त्रांहीनाशार्थं प्रतिक्रमणसंयुतं । मुनीनांच गृहस्थानां चक्रे सामायिकं तदा ॥ 348 ॥
जिनेन्द्रस्नानपाठं च स्नपनार्थं जिनस्य वै । यस्याकरणमात्रेण प्राप्नुवंति सुरैःप्लवम् ॥ 349 ॥
प्रभुणां पूजनं चापि तेषां गुणविभूषितम् । स्तवनं चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनि: ॥ 350 ॥

अर्थ—श्री कुंदकुंद मुनीश्वर के मुख्य नंद्यादि शिष्य हुए जो बुद्धि में बड़े पारगामी थे। उनको मुनीश्वर ने भव्य जीवों के संबोधन करने के लिये पृथ्वी तल में भ्रमण कराया और सर्वत्र जैन धर्म की स्थापना कराई ॥ 342 ॥

अर्थ—शिष्यों ने अपने गुरु के पवित्र चरण कमलों को नमस्कार कर सर्वत्र जिनधर्म का प्रचार किया ॥ 343 ॥

अर्थ—उस समय समस्त संसार में जिन धर्म प्रकट हुआ। और उन्होंने जिनसिद्धान्त ग्रंथों को प्रकट किया ॥ 344 ॥

अर्थ— श्रीकुंदकुंद मुनीश्वर ने समयसार ग्रंथ अंत में बनाया। चौरासी पाहुड ग्रंथों की रचना की। सबसे प्रथम प्रवचनसार बनाया जिससे भव्यों का आत्माका सत्य-सत्य ज्ञान होता है। एक श्रावकाचार भी ग्रंथ बनाया। भगवान कुंदकुंद स्वामी ने विदेह में यत्नाचार और सर्व सिद्धांत ग्रंथों का अध्ययन किया था तद्नुसार उस यत्नाचार की तथा गृहस्थों के आचार की प्ररूपणा करने वाले श्रावकाचार की रचना की। प्रतिक्रमण और क्रिया पाठ ग्रंथ निर्माण किया। मुनि और श्रावकों के पापों की शांति के लिये वह प्रतिक्रमण और सामायिक पाठ बनाया। अभिषेक पाठ बनाया। जिससे प्रभु का अभिषेक करने से महा पुण्य की प्राप्ति हो। विस्तार से अरहंत भगवान की पूजा करने की विधिका ग्रंथ बनाया। स्तोत्रों की रचना की। जिनमें प्रभु के अनेक गद्य-पद्य सुरस स्तवन थे जिन से मनका निरोध हो ऐसे ध्यान के ग्रंथ बनाये।

पूजाविधिस्तथा स्नानविधिर्विस्तारत: खलु। ग्रंथेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहितायये ॥ 351 ॥

इत्यादिसकलान् ग्रंथान् चेलकांतसुधर्मभाक् । करिष्यति प्रभावार्थं जिनधर्मस्य धर्मधी ॥ 352 ॥

स यतीन्द्र: स्वसिद्धयर्थं विहारंच करिष्यति। तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमंजसा ॥ 353 ॥

भव्यान् संबोधयन् धर्मं वर्द्धयन् वचनोत्करै : । मिथ्यांधंतमसं सैव हनिष्यति भवाब्धिदम् ॥ 354 ॥

गिरनारिभवं वृत्तं तस्य वक्ष्ये बुधोत्तमा: श्रृणुथ धर्ममार्गस्य वर्द्धकं धर्मिणो मुदा ॥ 355 ॥

श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य यात्रार्थं स मुनीश्वर: । एकदा धर्मवृद्धयर्थं चकार गमनं सुधी: ॥ 356 ॥

इत्यादि बहुत से ग्रंथ बनाये। मुनिधर्म के प्रकाश करने वाले ग्रंथ भी बनाये। जिससे श्री जिनेंद्र के धर्म की अपूर्व महिमा प्रकट हुई। जैन धर्म की प्रभावना हुई, तथा विद्वानों में जैन धर्म का चमत्कार हुआ। और जगत में जैन धर्म की मान्यता बढी ॥ 345-352 ॥

अर्थ—हे नराधीश ! कुंदकुंद मुनीश्वर धर्म की सिद्धि के लिये समस्त पृथ्वी में विहार करेंगे।। 353 ॥

अर्थ—श्रीकुंदकुंद स्वामी अपने वचन किरणों के द्वारा जीवों में धर्म का प्रचार करते हुए मिथ्यांधकार का समूल नाश करेंगे और जैनधर्म के द्वारा जगत के जीवों को संसार से पार करेंगे ॥ 354 ॥

अर्थ:—कुंदकुंद स्वामी ने श्रीगिरनार पर्वत पर जो चमत्कार बतलाया था और धर्ममार्ग की वृद्धि की थी उसका वृत्तांत हे राजन् श्रेणिक ! श्रवण कर॥ 355 ॥

अर्थ—एक दिवस श्री कुंदकुंद स्वामी एक महान संघ का निर्माण कर श्री गिरनार पर्वत पर श्री नेमिनाथ भगवान के निर्वाण भूमिका यात्रा करने को पधारे॥ * 356 ॥

× इस चतुर्विध संघ के विषय में जैन धर्म के अनेक ग्रंथों में प्रमाण मिलते हैं। यहां पर दो तीन प्रमाण जो सोलवीं शताब्दी में बनाए गए हैं एक प्राचीन गुटका से उद्धृत कर नीचे देते हैं। यह गुटका ईडर के प्रसिद्ध भंडार में श्री संभवनाथके चैत्यालय में विराजमान है गुटका पर सं. 1605 लिखा है।

(त्रैविद्य विद्येश्वर तर्कमहेश्वर-सिद्धांतप्रकाशक श्री मुनि कुंदकुंद (पद्मनंदी) का शुक्लाचार्य श्वेतांबर साधू के साथ वाद हुआ उसकी गुजराती भाषा में कविता।)

दीसी सिंहासन ईश मूलसंघी मुनिराजे। परम पुनीत अजीत पद्मनंदी मुनि गाजे ॥
संघ चतुर्विध सहित जिनजारी आवे। ध्वजा ढोल नीशान वाजते भविमन भावे ॥ 1 ॥
ताही समय बहु वैभव साथे साथे। स्वेतांबर संघ त्यां आवो शुक्लाचार्य साथे ॥
मिथ्याभिमानमां मद माते थइने। पहुंच्या गिरिवरपर चडसंघे लइने ॥ 2 ॥
मूलसंघी मुनि कहे प्रथम अमो पूजा करसुं। तब स्वेतांबर कहे अमो वति पहला करसुं ॥
यह विधि हुवो विवाद तदा सौ एम बोले। आदि दिगंबर धर्म एहने नाहि को सोले ॥ 3 ॥
तब स्वेतांबर कहे अमो बडा पहला उपज्या। वली दिंगबर ----------पाछेथी निपज्या ॥
तब विद्यासागर कहे ग्रंथ संभालो आपणां। ---------- ॥ 4 ॥
यह विध बहु विवाद हुओ पण कोई न हारे। पद्मनंदी मुनिराव तदा पण ऐम विचारे ॥
शास्त्रवाद नहि यहां तो मंत्रवाद सुखकारे। ---------- ॥ 5 ॥
नेमि जिनेश्वरतणी वहिणी जोमुखराणी। ते कहे सो निरधार करो जो निर्मलवाणी ॥
आदि अनादि संघकरी पहेला तमो मानवा। श्रीविद्यासागर कहे और उपाधि जाणवा ॥ 6 ॥
यह विधि विचार निरधार करी यति सूरी संघे। मनमां धरी आनंद पूजवा जिनवर मनरंगे ॥
अमारी अंबिका भुवन वेजे पहोची जई तबे। प्रबल प्रताप पद्मनंदि मुनिवर कहे ते हवे ॥ 7 ॥

भो स्वेतांबर सांभलो जज अंबा पूछो जईं। विद्यासाजर गुरु कहे फिर मन में बहु दुरस्ई ॥ 8 ॥
आदि दिगंबर धर्म अवर कही उपाधि। जो कहो तो बोलावो देवी आराधी ॥
तब मुनिवर धीर वीर थई मंदिर मां पेठा। पद्मवदन मुनि पद्मनंदि पद्मासन बैठा ॥ 9 ॥
तजी आन ध्यान धीर धरि चिते मूनिवर तदा। श्रीविद्यासाजर कहे अंबा प्रकटी अवे तदा ॥
सुंदर सुंदर रूप धरी श्रृंजार बनावी । पद्मनंदी मुनिराय शील महातपथी आवी।
सकलसंघसुं कहे अंबिका अविचल एंवु आदि अनादि धर्म दिगंबर छे एवुं कहेवुं ॥ 11 ॥
यह चिक वचने कहुं अंबिका अति उजसु। श्रीविद्यासाजर कहे सर्व संघे तवे सांभल्यु ॥ 12 ॥
लज्जित थईने तवे स्वेतांबर त्यांथी नाठो। सर्व सभा मांहि वलि तेने स्वाथो चाटो ॥
तब मुनिवर धरि धीर नेमि जिनभुवने आव्या मुनिवरना गीत तदासो मंगल बहु गाव्या ॥ 13 ॥
संघ तवे अतिप्रचुर वाजित्र बहु हर्षे बाजे । नादे गडगडें धरीया गिरि अंबर गाजें ।
विरद भाट बोले भला जय जय सुर उच्चरे । मूलसंघ तिह समे अतिप्रमोद मनमां धरे ॥ 14 ॥
आदि दिगंबर धर्म सत्य स्वेतांबरे जाण्यो। पाछलथी भयो स्वेतांबर एवुं सहु मान्यो ॥
सकल संघ सणगार सारस्वत गच्छ भुसावो । बलात्कार जण सार अपार महिमा सौ गावो ॥ 15 ॥
एवुं भला सहु जण कही बहुप्रकारे स्तुति करी ।
श्रीविद्यासाजर गुरु कहे दिगंबर कीर्ति विस्तरी ॥ 16 ॥
धन्य धन्य दिगंबर धर्म धन्य गिरिवर गिरनारी । यदुवंशी जगपति धन्य श्री नेमिकुमार ॥
वक्षिणी जग अंबा धन्य अनुपम देवी। पद्मनंदि मुनि धन्य वाणी अमृतसम छे जेवी ॥ 17 ॥

सार्कं तस्य तेन घना भव्याः प्रचेलुः सांगनाः खलु। मुन्यर्यिकाश्च यात्रार्थं भवभ्रमणहानये ॥ 357 ॥

तस्मिन्[1] चतुर्विधे संघे दिगंबरधरा वराः। सप्तशतप्रमा ज्ञेया मुनयो बुधसत्तमैः ॥ 358 ॥

द्विगुणा आर्यिकास्तस्मात् ह्येकसाटीपरिग्रहाः। तपसा कृशसर्वांगा ज्ञेयाः तत्वविदांवरैः ॥ 359 ॥

मालासहस्रंसख्याढ्याः श्राद्धाश्च व्रतपालकाः। द्विगुणाः श्राविका ज्ञेयास्तस्मिन् वै बुधसत्तमैः ॥ 360 ॥

एवं चतुर्विधे संघे कुंदकुंदो यतीश्वरः। संयुक्तः क्रमतः प्राप्तः ऊर्जयंतवने वरे ॥ 361 ॥

अर्थ—मुनि कुंदकुंद स्वामी के साथ बहुत से भव्य श्रावकगण, अनेक श्राविकाएं-मुनि और आर्यिकाएं यात्रा के लिये चले ॥ 357 ॥

अर्थ—उस कुंदकुंद स्वामी के चतुर्विध संघ में 700 सात सौ निग्रंथ दिगंबर जैन मुद्रा के धारक मुनि थे। एक साड़ी मात्र परिग्रह को धारण करने वाली, रूपक द्वारा शरीर की क्षीणता को प्रकट करने वाली, और तत्वों को जानने वाली 1400 आर्यिका थीं। व्रतों को पालन करने वाले जिनागम के दृढ श्रद्धानी ऐसे 35000 श्रावक, और 70000 श्राविकायें थी। उन सबके साथ अपने-अपने नौंकर-चाकर सिपाही पयादे तथा सब प्रकार के साधन गाड़ी घोड़े आदि थे ॥ 358/359/360/361 ॥

टीप— समकित शीलवती देवी जिनवरतणी प्रकट करी।

विद्यासागर कहे कीर्ति दिगंबर तणी अति विस्तरी ॥

संवत् सौलसौत्रीस अधिक वेदेकर जाण्यो। कार्तिक मासतणो शुभ शुभ पक्ष वखाणो ॥ 18 ॥

उत्तम तिथी त्रयोदशी वार रविवार विराजे। कारंजा वर नगर दिगंबर सिंहनु गाजे ॥

चंद्रप्रभ भवने रही अभयचंद्र मुनिवरे। श्री विद्यासागर कहे रसासत्ता बध उधरे ॥ 19 ॥

1—यह कथा एक गुटका में (जो ऐलक पन्नालाल दि. जैन स. भवन मुम्बई में है।) लिखी है उसकी नकल यहां पर दी जाती है :—

आप सकल संघ सहित श्री गिरनारजी की यात्रा वास्ते चाले, और श्वेतांबरियों का संघ भी यात्रा गिरनारजी को गया। श्वेतांबर मत के संघ की गणना-चौरासी गच्छ के जती 12 हजार, ओसवालादि श्रावक दो लाख बावन हजार और चाकर पियादा बहुत। सो दोऊ संघ श्री गिरनारजी के नीचे अपने-अपने संघ में मुकाम करते भये। तदि श्री कुंदकुंद आचार्यजी का संघ उमर चढने लगा। तदि श्वेताम्बर लोगों का हलकारा अगाड़ी गमन नहीं करने दिया और कही पहली यात्रा हमारी होवेगी। पीछे तुम्हारी होगी। यह समाचार सुनकर सब ही पाछा आय गया और आचार्य से विनती करी। हे नाथ! ये श्वेतांबरी बहुत और अपना संघ थोडा सो यात्रा कैसे होयगी ?

स्वस्वस्थाने स्थितिं चक्रु: तेहि चद्दर्शनोत्सुका: । मार्गस्य श्रपनाशार्थं शृणुध्वमपरां कथाम् ॥ 362 ॥

तत्रैव नेमियात्रार्थ संघा वै स्वेतवाससाम् । महान् डिंभेन संपन्न आगतश्च नवोदय: ॥ 363 ॥

तस्मिन् संघे बुधैर्ज्ञेया दंडपात्रविमंडिता: । शुक्लांशुकधरा वृद्धा यतयो नामतो मता: ॥ 364 ॥

अर्थ—समस्त संघ ने अपने अपने डेरा लगाकर गिरनार पर्वत की तलहटी में मार्ग श्रम को दूर करने के लिये निवास किया। इतने में वहां पर एक दूसरी कथा हुई वह श्रवण करना चाहिये ॥ 362 ॥

अर्थ—वहां पर श्री गिरनारी पर्वत की तलहटी में श्री नेमिनाथ भगवान की यात्रा के लिये श्वेतांबरियों का एक नवीन महान् संघ बड़े आडंबर के साथ आया ॥ 363 ॥

अर्थ—श्वेतांबर संघ में दंड और पात्रों से सुसज्जित और सफेद वस्त्र धारण करने वाले बहुत से यती थे परंतु उनमें यतियों का एक भी गुण नहीं था नाम मात्र के वे यती थे ॥ 364 ॥

तदि आचार्य आज्ञा करी, तुम उनसे कहो- तुम्हारे हमारे कुछ वैर तो नहीं। और जो तुम अपने मत का आडंबर राख्या चाहो तो अरु-वरू आवो । जो जीतेगा पहली यात्रा करेगा। अब यात्रा तुम भी नहीं करोगे। ऐसा वचन होता थका दोनों संघ का बाद ठहर गया। जो जीते सो यात्रा पहली करणी। दिगंबरियों के स्वामी कुंदकुंदाचार्य और स्वेतांबरियों के मालिक शुक्लाचार्यजी । सो इनके कितने ही दिन तक वाद-विवाद हुआ। एक दिन शुक्लाचार्यजी ने गंज प्रयोग से कुंदकुंद स्वामी का कमंडलू में मच्छी कर दीनो। और सभस्यासूं कोई के ताई कही- ये मुनि हैं परंतु इनका आचरण धीवर वासा है। ऐसी बात सुण के कोई श्रावक कही स्वामी कमंडलु में कांई छे । स्वामी कही कमंडलु में कमल के फूल है। स्वामी दिखावो सो कमंडलु औंधो कर्यो सो कमल के ढेर हो गये। और स्वामी का चौथा नाम पद्मनंदी (कमल-पद्म के आनंदी) प्रकट हुआ। कुंदकुंदाचार्य ने शुक्लाचार्य के वस्त्र सब उड़ा दिये और सब जती लोगों के बैठना और वस्त्र उड़ा दिये । सबको नग्न कर दिया। चादर नीचे और पीछी ऊभर । इस तरह चादर चादर पर पीच्छिका हो गई। चादर के ताई पीछी कूटने लगी। और यती लोग रोने लगे। ऐसा चमत्कार स्वामी बतलाया। तब श्वेतांबर बोले कि ऐसी धूर्तविद्या से वाद नहीं होता है अब हम कहते हैं कि ये पाषाणमई सरस्वती की प्रतिमा है। यह अपने मुंह से कहे सोई प्रथम यात्रा करे। तब शुक्लाचार्य ने अनेक प्रयत्न किये, प्रतिमा नहीं बोली। तदस्वामी आय कमंडलू पिच्छिका हाथ में लेकर श्रीसीमंधर स्वामी को नमस्कार कर के पीच्छिका सरस्वती के शिर पर धरी । आप प्रकट कहते भये कि हे देवि! अब तुम सत्य वचन का प्रकाश करो। तब देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली "आदि दिगंबर! आदि दिगंबर! आदि दिगंबर !! गर्भ का बालकवत है चिन्ह जावे । " तदि दिगंबर संप्रदाय सत्यरूप प्रतीति भई। श्वेतांबर फिर उस प्रतिमा को बुलवानां शुरू किया। तदि देवी वही तुम बारह वर्ष तक भी झगड़ा करो। हमने एक सत्य था सो ही कह्या । तब श्वेतांबरी में के सैकड़ों शिष्य भये। और प्रथम यात्रा श्रीकुंदकुंदाचार्य का संघ करता भया। और श्रीगिरनारी पर्वत पर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा सबसे प्रथम हुई। तदि मूलसंघ-बलात्कार गण-श्रीकुंदकुंदाम्नाय वंश प्रकट हुआ। बड़े शिष्य नंदी मुनिराज के ताई आचार्य पद दिया। सो उनकी आम्नाय आज तक प्रसिद्ध है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने अनादि काल से प्रचलित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप यज्ञोपवीत विधान सर्वत्र प्रकाशित किया और जैन धर्म की प्रभावना प्रकट की। अंत में आप वारां नगर में आये और एकमाह प्रथम ही निमित्त ज्ञान से अपना मरण का निश्चय कर संन्यास धारण किया और पांचवे स्वर्ग में देव हुए।

यक्षव्यंतरदेवीनां साधने एव चंचवः । खदेदकरसंख्याढ्याः पोषकाः स्वतनो रसैः ॥ 365 ॥

तदाज्ञापालका ज्ञेया द्विलक्षप्रममानवाः । धनोत्करघराः तस्मिन बुधैस्तत्त्वार्थवेदिभिः ॥ 366 ॥

नानातिशयसंपन्ना यतयस्ते मदोद्धताः । ख्यापयन्तो मतं स्वस्य दर्शयत् विभवं महान् (?) ॥ 367 ॥

एवं सकलसंघेन गिरनारिवने शुभे । वासं चक्रुश्च तत्रोर्जैर्नानाद्रिशिरसि स्थिताः ॥ 368 ॥

पूर्वागतश्च यः संघः पूजयित्वा जिनेश्वरान् । कुन्दकुंदयतीन्द्रं तं ह्यग्रे कृत्वा चचाल सः ॥ 369 ॥

गानवाद्यादिसद्घोषान् कुर्वन् नृत्यादिसत्कलां । संघलोकाश्च ते चेलुः संघस्यायाग्रे मुदान्विताः ॥ 370 ॥

न्यषेधि समये तस्मिन् स्वेतवासघरैः खलैः । पूर्व यात्रां करिष्यामः वयमस्य च सोह्यतः ॥ 371 ॥

अस्माकं सर्वतः पूर्वो मतः सकलविश्रुतः । अतः सर्वेषु वृद्धाश्च वयं नान्ये धरातले ॥ 372 ॥

अर्थ—वे श्वेतांबर यती केवल यक्ष-यक्षिणियों के आराधक, अपने शरीर के पोषण करने में ही दत्तचित्त ऐसे दो सौ चालीस थे ॥ 365 ॥

अर्थ—उस श्वेतांबर संघ में उन यतियों की आज्ञा पालन करने वाले दो लाख श्रावक थे जो धन के मद में मस्त थे ॥ 366 ॥

अर्थ—श्वेतांबर साधु अनेक अतिशयों चमत्कार से संपन्न और अपने मंत्र-तंत्र के मद से मदोद्धत थे जो अपने मत की प्रसिद्धि श्रावकों का वैभव दिखलाकर करते थे। इस प्रकार श्वेतांबर संघ गिरनारी के शुभ वन में आकर वास करने लगा। उन लोगों को अपना बडा घमंड था ॥ 367-368 ॥

अर्थ—सबसे प्रथम आया हुआ श्रीकुंदकुंद भगवान का संघ, नगर (जूनागढ) के मंदिरों की पूजा कर और पर्वत श्रीगिरनार पर श्री कुंदकुंद स्वामी को अग्रेसर बनाकर वंदना करने के लिये चला। संघ में तीर्थयात्रा की उमंग से गान वाद्य आदि विविध प्रकार के महोत्सव हो रहे थे ॥ 369-370 ॥

अर्थ—उसी समय उन श्वेतांबर लोगों ने उस दिगंबर संघ को तीर्थ यात्रा करने से रोका- और कहा कि सबसे प्रथम हम लोग यात्रा करेंगे। क्योंकि हमारा मत सबसे पूर्व का है प्राचीन है। हमारे मत की सर्वत्र प्रसिद्धि है। इसलिये सबसे प्रथम

इत्युद्धतमयां वाचं श्रुत्वाच श्रावकास्तदा । नत्वा गणपति तेषां तूर्णमागत्य तत्र वै ॥ 373 ॥
या श्रुता कथिता वार्ता तन्मुखात् सा मुनीशिनः । तांच श्रुत्वा मुनीन्द्रोपि सविचार्य स्वचेतसि ॥ 374 ॥
वसुपालाभिध श्राद्धमेकमाहूय तत्क्षणे । शिक्षां दत्वा शुभालापैः प्रेषितस्तान् प्रति तदा ॥ 375 ॥
सोपि तत्रैव गत्वा च तानाह शृणुथ ह्यहो। समाधिना वचांसि मे भो श्वेतवसनांकिताः ॥ 376 ॥
सत्याख्या सर्वलोकेषु मान्या स्यात् नात्र संशयः । वाणीं यूयमपि सत्यां वदथ इतरी च मा ॥ 377 ॥
विश्रुतः चास्ति सर्वत्र दैगंबरमतो ह्ययं । प्रत्यक्षं जिनबिंबेषु यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ 378 ॥
नग्न इत्यभिधोयं च पूज्यः स्यात्सकलेश्वरैः । नग्नत्वात् सिद्धस्थानस्य प्राप्तिः स्यान्नान्यतः कदा ॥ 379 ॥
वृषभादि जिनेन्द्राश्च गृहाश्रमे गता न किम् । मोक्षे तेपि यदा जाता तदा नग्नाः सुरैः स्तुताः ॥ 380 ॥

यात्रा करने का हमारा हक है। इस प्रकार उद्धत और अनीति के वचनों को सुनकर कितने ही श्रावक गण शांति से किसी प्रकार की कलह अपनी तरफ से किये बिना ही मौन सहित गणपति कुंदकुंद स्वामी के समीप आये ॥ 371-372-373 ॥

अर्थ—श्वेतांबर लोगों से तीर्थयात्रा रोकने के विषय में जो वार्तालाप हुई थी वह ज्यों की त्यों श्रावक गणों ने आचार्य श्री कुंदकुंद मुनि को आकर कह दी। उसको सुनकर स्वामीजी ने अपने मन में विचार किया ओर शांति से यात्रा पूर्ण हो इस इरादे से आचार्य महाराज ने सेठ वसुपाल को सब प्रकार की शिक्षा देकर श्वेतांबर संघ के पास भेजा ॥ 374-375 ॥

अर्थ—उस वसुपाल सेठ ने श्वेतांबर संघ के मुखिया लोगों से जाकर कहा कि हे श्वेतांबर भाइयों ! जो आप मेरे समाधि के (परस्पर एकता के) वचन सुनिये । संसार में सत्य बात मान्य होती है और सत्य का ही सर्वत्र विजय होता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इसलिए आप भी सत्य –सत्य कहिये मिथ्या कहने में कुछ भी लाभ नहीं है। क्या आप नहीं जानते हैं कि दिगंबर मत सबसे प्राचीन है। संसार में सर्वत्र दिगम्बर मत की प्राचीनता प्रसिद्ध है। यह बात आप लोग जिनबिंबों को देखकर प्रत्यक्ष निश्चय कर सकते हैं। और समस्त राजागण नग्न दिगम्बरों की ही पूजा करते हैं। नग्न होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। आप ऐसा मानते हैं। यदि नग्न दिगंबर के भेष से मोक्ष नहीं होती तो वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर गृह का परित्याग कर नग्न दिगंबर होकर दीक्षा ग्रहण क्यों करते ? वस्त्रादि परिग्रह सहित घर में ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते ? परंतु

वचनाडंबरेणालं सर्वमतशिरोमणिम्। दैगंबरमतं यूयं जानीथ निश्चयाच भो ॥ 381 ॥

शक्तिः स्याद् यदि युष्मांक विशेषा वादकर्मणि। तर्हि आगच्छथ यूयं तन्निकटे शीघ्रमेवहि ॥ 382 ॥

अस्माकं चैव युष्माकं वादोस्तु तत्र ये खलु। तत्रैव दर्शनं तस्य करिष्यंति प्रनिश्चयात् ॥ 383 ॥

जेष्यंति तेहि तीर्थस्य पूर्वं वै वादकर्मणि। सज्ञा भवथ तस्यार्थमतः श्वेतांशुधारकाः ॥ 384 ॥

इत्युक्त्वा वसुपालाख्यो क्षोभयित्वाच तान् खलान्। आगत्य सर्ववृत्तांतं गुरवे समधीकथत् ॥ 385 ॥

सर्वसंघेन संयुक्तः कुंदकुंदमुनीश्वरः ऊर्जयंतसमीपेहि। गत्वाऽस्थाच प्रदीप्तवान् ॥ 386 ॥

तेपि तत्रैव ह्यागत्य तस्थुः वादार्थमेवच। जल्पयंत्येव ते मूर्खाः परस्परमहो तदा ॥ 387 ॥

जब उन्होंने परिग्रह का त्याग किया तब ही देवों से पूजित हुए और मोक्ष के अधिकारी बने। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है। संसार में समस्त सर्वोत्कृष्ट शिरोमणि मत दिगंबर जैनमत है। ऐसा आप समझें। कदाचित् आप अपने मत को ही उत्तम समझते हो और आप लोगों को अपने मत का अभिमान है तो अपने मत की प्राचीनता एवं उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये हमारे पूज्य आचार्य कुंदकुंदस्वामी से वाद कर निश्चय कर लीजिये। यदि आप लोगों में शक्ति है तो अवश्य ही वाद के लिये तैयार हो जाओ। इस वाद में जो जीतेगा वही प्रथम यात्रा करेगा- पूजा करेगा और तीर्थ की वंदना करेगा। इस लिये अब आप लोगों को अपनी शक्ति गुरु कुंदकुंद स्वामी के निकट शीघ्र चलकर प्रकट करनी चाहिये। इस प्रकार निर्णय कर और समस्त श्वेतांबरियों को क्षोभ कर वह वसुपाल अपने संघ में आया और समस्त वृत्तांत आचार्य कुन्दुकुन्द स्वामी से ज्यों का त्यों कह दिया ॥ 376-377-378-379-380-381-382-383-384 से 385 ॥

अर्थः—तदनंतर मुनि कुन्दुन्द स्वामी समस्त संघसहित ऊर्जयंत (गिरिनार) पर्वत के समीप जाकर वाद के लिये स्थित हुए ॥ 386 ॥

अर्थः—उसी समय श्वेतांबर संघ के मुखिया लोग अपने आचार्य और यतियों के साथ परस्पर अपने आप ही अपनी महिमा को गाते हुए वाद करने के लिये वहां पर जहां श्री दिगम्बर जैन संघ कुन्दकुन्द स्वामी के पास बैठा था आये ॥ 387 ॥

कियन्मात्रा इमे नग्ना: सर्वातिशयवर्जिता: । अहमेको हि भो स्वामिन् जेतुं हि सकलान् क्षम: ॥ 388 ॥

एवं सर्वे मदोन्मत्ता: तस्मिन्नवसरे खलु। ब्रुवंत्येवं मन:कल्पात् स्वं स्वं प्रति गुरुं खला: ॥ 389 ॥

तदा संनह्य वादार्थं प्रयोगै: मंत्रतंत्रमि: । अन्यैरतिशयैस्तेच आजग्मुर्मुनिसन्निधं ॥ 390 ॥

दिशांबरधराणांच यतिराट् हरिसदृश: । शुशुभे संघमध्येच परमतेभघातने ॥ 391 ॥

शुभ्रवासोधराणांच मध्ये वै वारणोपम: । शुक्लचार्यैतिनाम्नाभात् केवलेनैव नो गुणै: ॥ 392 ॥

द्वयोस्तत्रैव संजातो वादो वादार्थवेदयो: । चमत्कार करो लोके सिंहमातंगतुल्ययो: ॥ 393 ॥

या या प्रश्नावलिस्तेन कृता च स्वामिनं प्रति। क्षणेन छेदिता सर्वा सुनिना तेन तत्क्षणे ॥ 394 ॥

अर्थ—उसमें से कितने ही यति लोग मिथ्याभिमान में चूर होकर कहने लगे कि हे स्वामिन्! समस्त प्रकार के अतिशय रहित ये नग्न दिगंबर कितने हैं ? मैं अकेला ही इन सबको जीतने में समर्थ हूं ॥ 388 ॥

अर्थ—इस प्रकार अपने अभिमान में मदोन्मत्त वे श्वेतांवरी यतिलोग अपना-अपना अभिमान अपने-अपने गुरुओं को बतलाते हुए वहां पर आये ॥ 389 ॥

अर्थ—उस समय वाद के लिये सुसज्जित होकर, तथा मंत्र-तंत्र एवं अन्य चमत्कार के घमंड को प्रकट करते हुये वे मुनिराज कुंदकुंद स्वामी के समीप आये ॥ 390 ॥

अर्थ—उस समय दिगंबर जैन यतिराट् कुंदकुंद स्वामी सकल संघ के मध्य परमतरूपी हाथियों को नाश करने के लिये सिंह के समान शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥ 391 ॥

अर्थ—श्वेतांबर मत के मुख्य आचार्य हाथी के समान बल के धारण शुक्लाचार्य नाम के यति वाद करने के लिये तैयार हुए। शुक्लाचार्य नाम मात्र के शुक्लाचार्य थे परंतु गुण शुक्लाचार्य नहीं थे ॥ 392 ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य और कुंदकुंद स्वामी का प्रत्येक शास्त्र में चमत्कार करने वाला सिंह और हाथी के समान वाद हुआ ॥ 393 ॥

अर्थ:—शुक्लाचार्य ने जो प्रश्न आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी से किये उनका समाधान स्याद्वाद सप्त भंगी के द्वारा तत्काल ही एक क्षणमात्र में किया ॥ 394 ॥

यथा वार्द्धेन्दुवाणेन अन्यद्वाणोत्करा: खलु। क्षणेन क्षयतां यांति निष्ठुरा देहभेदका: ॥ 395 ॥
तथा हि मुनिवाक्येन तस्य वचनसंतति: । क्षयमगात् क्षणेनैव शक्तिमंतस्य (?) वै तदा ॥ 396 ॥
स तदा निर्जितस्तेन स्याद्वादमतवादिना। चुकोप सांवरीयुक्त: तस्योपरि सितांशुक: ॥ 397 ॥
कमंडलूजले तेन मायया स्वस्य तत्क्षणे। मीनानुजा: कृताश्चैव मुनेस्तस्य दयापते: ॥ 398 ॥
नेत्रनिमेषत: स्वस्य सेवकानां खलेन वै। दर्शित: स तथा तेपि मुदमापु: खलात्मका: ॥ 399 ॥
मुनिं प्रत्याह कश्चिन्ना किमस्ति भो मुने तव। कमंडलाविति श्रुत्वा स प्रत्याह मुनीश्वर: ॥ 400 ॥
पृच्छ स्वस्वगुरुं त्वंच स चादिमतधारक: । मुनेर्वाचमिति श्रुत्वा गुरु: पृष्टश्च तेन वै ॥ 401 ॥

अर्थ:—जिस प्रकार चंद्रवाण से समस्त बाणों के समूह एक क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार आचार्य कुंदकुंद स्वामी की सप्तभंग स्याद्वाद वाणी से शुक्लाचार्य के समस्त प्रश्न उसी समय क्षणमात्र में नष्ट हो जाते थे। सच है शक्तिशाली जीवों की महिमा ही विलक्षण होती है। प्रभु कुंदकुंद स्वामी श्वेतांबर शुक्लाचार्य के प्रश्नों का समाधान तत्काल ही क्षण मात्र में कर देते थे ॥ 395-396 ॥

अर्थ:—इस प्रकार समस्त शास्त्रों के वाद-विवाद में श्वेतांबर शुक्लाचार्य स्याद्वाद विद्यापति श्री कुंदकुंद स्वामी से हार गया। तब शास्त्रों के ज्ञान में अपनी गति न देखकर सांवरी मंत्र की शक्ति के बल से स्वामी के प्रति क्रोध किया और मंत्र के चमत्कार के द्वारा स्वामी को परास्त करना चाहा ॥ 397 ॥

अर्थ:—मंत्र की प्रबल शक्ति से शुक्लाचार्य ने परम दयालु-अहिंसा महाव्रत के प्रतिपालक स्वामी के कमंडलू में मछलियां उत्पन्न कर दी ॥ 398 ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य ने अपने इस चमत्कार को (मछली कमंडल में कर दी) अपने शिष्यों को नेत्र के इशारे से बतलाया जिससे वे दुष्ट बड़े प्रसन्न हुए ॥ 399 ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य के उन शिष्यों में से एक मनुष्य ने स्वामीजी को पूछा कि हे मुने !आपके कमंडलू में क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी ने कहा कि तू अपने गुरु से पूछ। क्योंकि वह आदि मत का धारक सर्वदर्शी है। मुनि के वचनों को सुनकर उसने अपने गुरु शुक्लाचार्य से पूछा ॥ 400-401 ॥

आचख्यत् मानयोगेन प्रत्यक्षमेव स कुधीः । पश्यथ मो नरा यूयमयं जीवस्य भक्षकः ॥ 402 ॥
निर्दयस्य स्वं श्रुत्वा इत्थं स यतिराट् तदा । नत्वा सीमंधरं देवं करे धृत्वा कमंडलुम् ॥ 403 ॥
अधोमुखं चकार तं सर्वेषां सन्निधे खलु । तस्य मानविनाशार्थं जिनधर्मप्रवृद्धये ॥ 404 ॥
पद्मपुष्पोत्करः तस्मात् पेतुः तस्मिन् क्षणे शुभाः । तेषामामोदतस्तत्र भ्रमराश्चागताः खलु ॥ 405 ॥
तदातिशयमावीक्ष्य कुंदकुंदतपोनिधेः । संघलोकाश्च ते सर्वे मुदामापुश्च्युतोपमम् ॥ 406 ॥
पद्मनंद्यभिधानेन मुनेस्तस्य तदा नराः । इति चक्रुस्तुतिं सर्वे अयं हि सार्थनाममृत् ॥ 407 ॥
तस्मिन् काले मुनींद्रस्य प्रख्यातिशयदर्शनात् । म्लानवक्त्रास्तदा जाताः श्वेतवासोधराश्च ते ॥ 408 ॥
पद्मनंदीति सन्नाम्ना स मुनिः समये तदा । आसीद्विख्याततां तत्र दिगंबरविभूषितः ॥ 409 ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य अपने मंत्र के बल से कमंडलू में मछलियां उत्पन्न हुई समझकर बडे अभिमान के साथ कहने लगा। अरे मनुष्यों ! देखो देखो यह मुनि का वेष धारण करने वाला जीवों का भक्षक है (क्योंकि इसके कमंडलु में मछली हैं) ॥ 402 ॥

अर्थ—निर्दयी श्वेतांबर शुक्लाचार्य के ऐसे दुष्ट वचनों को सुनकर स्वामी कुन्दकुन्द मुनि ने सबसे प्रथम श्री सीमंधर स्वामी को नमस्कार किया और अपना हाथ अपने कमंडलू पर रक्खा। तत्काल ही श्वेतांबर और दिगम्बर संघ के समस्त मानव समाज के समक्ष, शुक्लाचार्य का मान मर्दन करने के लिये और जैन धर्म की सत्य प्रभावना प्रकट करने के लिये कुन्दकुन्द स्वामी ने वह कमंडलु ऑधा कर दिया जिससे उस कमंडलू के मुख में से पद्म (कमल) के फूलों का ढेर नीचे गिर पडा। जिसकी मनोहर और दिव्य सुगंधी से भौंरा आ गये। यह अद्भुत चमत्कार देखकर समस्त मानव अतिशय हर्ष को प्राप्त हुए। और स्वामी कुन्दकुन्द मुनि के अतिशय से अत्यंत आश्चर्य को प्राप्त हुए। समस्त संघ में हर्ष हुआ। उसी समय स्वामी का नाम पद्मनंदी प्रसिद्ध किया (क्योंकि स्वामी के चमत्कार से कमंडलू में पद्म हो गये अतएव पद्मनंदी नाम रखा) और सार्थक इस नाम से ही प्रभु का स्तवन समस्त संघ ने किया ॥403 से 407 ॥

अर्थ—उस समय मुनि कुन्दकुन्द का यह लोकोत्तर चमत्कार देखकर समस्त श्वेतांबर लोगों का काला मुख हो गया ॥ 408 ॥

अर्थ—उस समय कुंदकुंदस्वामी पद्मनंदी के नाम से समस्त संसार में प्रसिद्ध हो गये और उनका दिव्य अतिशय भी सर्वत्र प्रकट हो गया ॥409 ॥

पुनस्तत्र तयोरासीत् वाद: सकलसाक्षित: शुक्लेन मंत्रयोगेन मुने: पिच्छि: धृता च खे ॥ 410 ॥
मुनिना तस्य शुक्लस्य गात्रादुत्तार्य तेन वै। वस्त्रं तस्य समीपे हि स्थापितं चैव तत्क्षणे ॥ 411 ॥
एवं तत्र महान् वाद: संजातश्च द्वयो: खलु। सागता स्वामिसान्निध्ये तत्रैव संस्थिताच वै ॥ 412 ॥
पुनर्धर्मप्रकाशार्थं तं प्रत्याह यतीश्वर: । भो यदि चादिधर्मोस्ति ते तर्हि वचनं श्रृणु ॥ 413 ॥
पाषाणनिर्मितां मूर्तिं इमां च भारतीं खलु। प्रकटीकुरु त्वं तूर्णं विलंबं मा भजस्व वै ॥ 414 ॥
कथयिष्यति यस्योर्वैरियमाद्यमतं खलु। पूर्वा तस्यैव यात्राच भूयात् वै नात्र संशय: ॥ 415 ॥

फिर भी स्वामी और शुक्लाचार्य में मांत्रिक वाद हुआ। शुक्लाचार्य ने अपने मंत्र बल से स्वामी की पीछी उड़ाकर आकाश में रख दी ।।410 ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामी ने शुक्लाचार्य श्वेतांबर यतियों के वस्त्र उनके शरीर पर से उडाकर आकाश में स्थापित कर दिये और उनको नग्न दिगंबर उसी क्षण में बना डाला ॥ 411 ॥

अर्थ—और कुन्दकुन्द स्वामी की पीछी (जो शुक्लाचार्य ने आकाश में उडाई थी) उनके पास आ गई। परन्तु उन दोनों में परस्पर मांत्रिक वाद-विवाद अतिशय चमत्कारी हुआ और श्वेतांबर यतियों के वस्त्र आकाश में उडा देने से (मंत्र द्वारा भगवान कुंदकुंद स्वामी ने उडा देने से) उनको बडा ही नीचा देखना पडा ॥ 412 ॥

अर्थ—फिर भी यतीश्वर कुंदकुंद भगवान ने अपने दिगंबर मत की अतिशय प्रभावना प्रकट करने के लिए स्वेतांबर यति शुक्लाचार्य से कहा कि जो तुम्हारा धर्म आदि का है तो हमारे वचनों को श्रवण करो ॥ 413 ॥

अर्थ—हे श्वेतांबर शुक्लाचार्य जो तेरे में शक्ति है और जो तू अपने धर्म को आदि धर्म मानता है तो यह सामने पर्वत पर (गिरनारी पर्वत पर) पाषाण की सरस्वती देवी की मूर्ति है उसको प्रकट कर- उससे ही कहलादे कि कौन सा आदि धर्म है। जो पत्थर की सरस्वती की मूर्ति अपने मुह से कह देगी यही धर्म आदि धर्म समझा जायगा। इसलिए शीघ्र ही इस पत्थर की मूर्ति से कहलाइये । देरी न करिये ॥ 414 ॥

अर्थ—जो तुमने शुक्लाचार्य, इस पत्थर की देवी के मुख से कहला दिया तो आप सबसे प्रथम यात्रा करें ॥ 415 ॥

मुनेर्वाक्यमिति श्रुत्वा स शुक्लश्चाह तं प्रति। एवमस्तु हृदि ध्यात्वा प्रयोगमंत्रतत्परः ॥ 416 ॥
तदैव भारतीं नत्वा शुक्लपाषाणनिर्मितां । गिरिस्थां सोमरूपाढ्यां तस्थैवावदन्निति ॥ 417 ॥
सत्यवार्णी महादेवि वद त्वं कस्य स्यात् खलु। सुराचर्य्यमंत्रयोगेन मताद्यः शुक्लचेलभूत् ॥ 418 ॥
इत्थं श्रुत्वापि सा देवी नाह सकलदर्शकान् । तदा शुक्लस्य वक्त्राब्जं श्यामत्वमगमत् खलु ॥ 419 ॥
स मुनिः कुंदकुन्दाख्यस्तस्मिन्नवसरे खलु । करे धृत्वा वरां पिच्छिं नत्वा सीमंधरं जिनम् ॥ 420 ॥
तस्माद्धि भारतीमाह इत्थं तूर्णेन मोदभृत् । कथय कथय क्षिप्रं सत्यवाणी जिनास्यजे ॥ 421 ॥
इति श्रवणमात्रेण अश्मजा साच भारती। मेघवत् गर्जनारूपां वाणीमचीकथच्च सा ॥ 422 ॥

इस प्रकार श्री आचार्य कुंदकुंद स्वामी के वचनों को श्रवण कर शुक्लाचार्य अपने मन में बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि एवमस्तु-ऐसाही हो, ऐसा कहकर वह शुक्लाचार्य अपने मंत्र के आराधन करने में तत्पर हुआ ॥ 416 ॥

अर्थ—उसी समय वह शुक्लाचार्य सफेद पत्थर की मूर्ति को श्वेतांबर मत प्राचीन है ऐसा कहलाने के लिये देवी के सामने मंत्राराधन करने के लिये बैठा ॥ 417 ॥

अर्थ—हे महादेवी सरस्वती तू सत्यवाणी के द्वारा प्रकट कर कि श्वेतांबर मत आदि का है। इस प्रकार देवी से कहलाने के लिए उस यतीन सुराचर्य मंत्र के द्वारा सरस्वती देवी की आराधना की ॥ 418 ॥

अर्थ—इस प्रकार शुक्लाचार्य के मंत्र के प्रयोग द्वारा वचनों को सुनकर भी वह देवी समस्त दर्शकों के समक्ष कुछ भी नहीं बोली तब तो शुक्लाचार्य का मुंह एक दम काला पड़ गया ॥ 419 ॥

अर्थ:—जब शुक्लाचार्य से पाषाण की देवी नहीं बुलाई गई तब मुनि कुंदकुंद स्वामी अपने हाथ में श्रेष्ठ मयूर पीछी लेकर और सीमंधर स्वामी को भाव भक्ति से नमस्कार कर उस पाषण निर्मित सरस्वती की मूर्ति के समक्ष उपस्थित होकर बोले। हे देवी

1— कुंदकुंदोऽगणीः येनोर्जयंतगिरिमस्त कै । सोवदत्तादृदिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कली ॥ पांडवपुराणे ।
पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी । पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती । सकलकीर्तिः ।
कुंदकुंदमुनीन्द्रेण घोर्जयंतगिरौ किल । पाषाणनिर्मिता देवी वादिता वादकर्मणि । नेमिचन्द्रगुरुः ।

ऊर्ध्वाधोनध्यलोकेषु ह्ययं दैगंबरो मत: । विख्यातो नात्र संदेहश्चात्र वै शिवदायक: ॥ 423 ॥
अस्मादन्ये मता ये हि स्वस्वमतिविकल्पजा: । ते हि संसारदा ज्ञेया: शिवदा न कदाप्यहो ॥ 424 ॥
अत आद्यश्च सर्वेषां दैगंबरमत: स्वयं । त्रिवारं चैव भो शुक्ल इति प्रोक्तश्च सा तदा ।। 425 ॥
वंद्यो वै निर्जराधीशै: माननीयो मुनीश्वरै: । सातद: सर्वजीवानां दोषोत्करविवर्जित: ॥ 426 ॥
शंकर: तारक: पूज्य: त्रिषु लोकेषु चोत्तम: । संकल्पं त्यजथ यूयं मौनमाप सरस्वती ॥ 427 ॥
केवलाभिधयुक्तानां यतीनां सर्वदेवता: । पलायिताश्च तस्माद्धि तत्प्रभावाच्च धानवत् ॥ 428 ॥

तू सत्य-सत्य प्रकाशन कर कि आदि मत दिगंबर है या श्वेतांबर मुनि कुंदकुंद स्वामी के इस प्रकार वचनों को सुनकर उस पत्थर की मूर्ति ने मेघ की गर्जना के समान गंभीर वाणी से कहा ॥ 422 ॥

अर्थ—अधोलोक ऊर्ध्वलोक मध्यलोक इन तीनों लोकों में यह एक दिगंबर मत ही प्रसिद्ध है और उस मत से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इसमें संदेह नहीं कि आदि मत दिगंबर ही है। इस मत के सिवाय अन्य जितने मत हैं वे अपनी-अपनी बुद्धि से कल्पित आधुनिक हैं—सर्वज्ञप्रणीत नहीं हैं और उनके सेवन से संसार की वृद्धि ही होती है। मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं होती। इसलिये आदि मत दिगंबर मत ही है। आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! आदि दिगंबर ! ! इस प्रकार तीन बार देवी ने उच्चारण किया। हे शुक्लाचार्य सुन, इस प्रकार देवी की गर्जना होते ही श्वेतांबर के समस्त यति और संघ के समस्त मनुष्य तथा शुक्लाचार्य एकदम लज्जित हो गये और सर्व प्रकार अपनी हार मानते भये ॥ 424 ॥

अर्थ—हे शुक्लाचार्य दिगंबर जैन मत ही देव इन्द्र आदि महान पुरुषों से वंदनीक है। मुनीश्वरों से माननीय है। समस्त जीवों को सुख प्रदान करने वाला है। समस्त प्रकार के दोषों से रहित है। कल्याण करने वाला है। संसार से तारक है। परम पूज्य है। तीन लोक में उत्तम है। इसलिये सब प्रकार के संकल्पों को छोडकर एक दिगंबर जैन मत का आराधन करना चाहिये। वही सर्व श्रेष्ठ आदि मत है। इतना कह कर वह पत्थर की सरस्वती की मूर्ति चुप (मौन) हो गई ॥ 427 ॥

अर्थ—श्वेतांबर यतियों के आराधन किये हुये समस्त देवतागण सरस्वती के प्रभाव से पलायमान हो गये जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टी में मिल गया ॥ 428 ॥

दिगंबरस्य पक्षेहि जयमासीद्य तत्क्षणे । विपक्षात् सर्वदा स्याद्धि जयोस्य सर्वभूतले ॥ 429 ॥
समीपे केशरी सिंहे ? किं कर्तु च क्षमा गजा: । तत्शब्दाद्धि पलायंते प्रत्येक्षेण न संशय: ॥ 430 ॥
तस्मिन्नवसरे तत्र एवमासीत् भयोत्कर: । तेषा: विपक्षहस्तिनां स्वस्य मदविनाशनात् ॥ 431 ॥
तदा स यतिराट् साकं चतुर्विधगणैर्वरै: । श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य चकार दर्शनं मुदा ॥ 432 ॥
तत्रैव स्थापयामास स मुनि: धर्मवर्द्धक: । सरस्वत्यभिधं । गच्छं सार्थनामयुतं खलु ॥ 433 ॥
बलात्कारगणं शुद्धं तत्रैव स मुनीश्वर: । स्थापयामाप सर्वस्य साक्षितो धर्मवृद्धये ॥ 434 ॥
स्वस्य नामकृतो वंश: शिष्याश्च स्वस्य ये खलु । आम्नायं कृतवान् तेषां नद्याद्यानंदकारकं ॥ 435 ॥

अर्थ—उसी समय शुक्लाचार्य आदि श्वेतांबर यतीगण सर्व प्रकार मुनि कुन्दकुन्द स्वामी से हारकर समस्त संघ से तिरस्कारित हुए। दिगंबर मत का विजय हुआ।[1] सो ठीक ही है। विपक्ष के नाश होने पर विजय ही होता है।

अर्थ—केशरी सिंह के सामने गज कितनी देर पर्यंत ठहर सकते हैं ? केशरी की गर्जना मात्र से ही भयभीत होकर प्रत्यक्ष भाग जाते हैं इसमें कोई संदेह नहीं । इसी प्रकार केशरी मुनि कुंदकुंद स्वामी से भय खाकर श्वेतांबर गज भाग गये ॥

अर्थ:—उस समय श्वेतांबर यतियों का यही हाल हुआ। कुंदकुंद मुनि रूपी केशरी से अपने-अपने मद को छोडकर सब भाग गये ॥ 431 ॥

अर्थ:—उस समय सबसे प्रथम दिगंबर जैन संघ अपने समस्त चतुर्विध संघ सहित श्री गिरनारी पर्वत पर श्री नेमि जिनेश्वर की वंदना करने को गया और अतिशय हर्ष के साथ प्रभु श्री नेमिनाथ जिनराज के दर्शन लिये ॥ 432 ॥

अर्थ:— वहां पर ही कुंदकुंद स्वामी ने सरस्वती नाम का गच्छ स्थापन किया। क्योंकि सरस्वती नाम की पत्थर की मूर्ति से आदि दिगंबर मत बुलवाया था। यह सार्थक नाम था और वहां पर बलात्कार गण स्थापित किया। समस्त संघ की

1—पद्मनंदियतीन्द्रेण चोर्जयंतगिरौ किल । संशयिग्नतसंवादे वादिता येन वाग्मजा।
संघसहित श्री कुन्दकुन्द मुनि, वंदन हेत गये गिरनात। वाद पण्यो तहां संशयिमतसों साक्षी वदी अंबिकाकार ॥
सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर कही सुरी तह प्रगट पुकार। सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघनहरन मंगल करतार।

सर्वसंघेषु मुख्योयं श्रीमूलसंघनायक: । अद्यप्रभृतितो यूयं भजध्वं च ह्यत इमं ॥ 436 ॥
इमे सर्वत्र लोकेषु जाता विख्याततां खलु । जिनधर्मे परां प्रीतिं नरा भेजुश्च ते तदा ॥ 437 ॥
स मुनि: सिद्धभूमेश्च तै: साकं दर्शनं मुदा । कृत्वा स्वस्थानमागत्य चकार तप:संग्रहम् ॥ 438 ॥
एकदा ध्यानकालेहि तस्यायात् वक्रतां मुने: । ग्रीवा तत्रैव स्वचित्ते विचारं कृतवान् सच ॥ 439 ॥
केन वै कारणेनैव इयमासीच्च वक्रता । तदाभवत् पुरस्तस्य ब्राम्ह्या वाणी मनोहरा ॥ 440 ॥
अकाले जैनसिद्धांता नो योग्या: पठने खलु । युष्माकं तद्विदोषेण इयं जाताच वक्रता ॥ 441 ॥
भारत्या वचनं श्रुत्वा इत्थं मुनीश्वरस्तदा । स्वास्मनो निंदां परमां चकार स्वात्मसिद्धये ॥ 442 ॥

साक्षी से यह कार्य धर्म की वृद्धि के लिये किया ॥ इसी प्रकार अपने नाम से अपने शिष्यों की आम्नाय कायम की और उस आम्नायको नद्यादि महर्षियों ने स्वीकार किया। समस्त संघ में यह मूल संघ मुख्य है। दिगंबर जैनों में इस संघ की मुख्य मान्यता है (श्री मूल संघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे बलात्कारगणे कुंदकुंदाम्नाये इत्यादि पाठ अब भी प्राय: कितनी ही प्रतिमाओं पर लेख में मिलता है।) यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई। और कुंदकुंद स्वामी का यश सर्वत्र प्रकट हुआ। जैनधर्म में सबकी उत्कृष्ट भावना हुई ॥ 433 से 437 ॥

अर्थ—श्री कुंदकुंद स्वामी श्री गिरनारी पर्वत की (सिद्धभूमि) वंदनाकर अपने तपस्थान धरणी भूषण पर्वत पर वापिस आये ॥ 438 ॥

अर्थ—एक समय ध्यान काल में मुनि कुंदकुंद स्वामी धरणी भूषण पर्वत पर विराजे हुए थे कि इतने में उनकी ग्रीवा (नार) स्वयमेव वक्र (टेढ़ी) हो गई। स्वामी ने उस वक्रताका कारण अपने मन में विचारा परंतु रोगादि कोई भी ऐसा कारण मालुम नहीं हुआ कि जिससे मान लिया जाय कि अमुक कारण से ग्रीवा वक्र हुई है। मुनि इस बात के विचार में ही थे कि उनके सामने एक मनोहर ब्राह्मी (सरस्वती) की वाणी हुई। उस वाणी से प्रगट हुआ कि हे मुनि आपने अकाल में जैन सिद्धांतों का अध्ययन किया है उस पातक के फल से वक्र ग्रीवा हो गई है। ऐसे वचनों को सुनकर कुंदकुंद स्वामी ने अपनी आत्मा की निंदा की ॥ 439 से 442 ॥

पुनस्तद्दोषनाशार्थं नत्वा सीमंधरं जिनम् । तम्यैव ह्याकरोत्स्तोत्रं तदा तस्या: प्रमोदये (?) ॥ 443 ॥
अवक्रतां तदा तांच आप सापि गता तदा। स्वस्थाने वक्रगीवाख्यामस्य कृत्वा मुदान्विता ॥ 444 ॥
अनेन कारणेनैव तृतीयामिधजातवान् । तस्य सर्वमुनीन्द्रेषु तस्मिन्नवसरे बुधा: ॥ 445 ॥
तदाप्रभृतित: स्वामी वाणीं सिद्धांतमंडिताम् । कालेहि प्रतिघस्रंच पपाठ नैव तद्विना ॥ 446 ॥
अकाले ये पठिष्यंति मोक्षशास्त्रादिकान् खलु। तिर्यंचयोतिषु तेहि यास्यंति नात्र संशय: ॥ 447 ॥
शिवनं दियतीन्द्रैक: सिद्धांताकालपाठनात् ॥ ह्यदेऽभूच महामत्स्य: तपसालंकृतोऽपि च ॥ 448 ॥
कालाकालस्य मर्यादा ज्ञेया वै मूलग्रंथत: । बुधै: विस्तारतस्तत्र वर्णना च कृता खलु ॥ 449 ॥
एलाचार्यो ह्ययं नामो विदेहक्षेत्रतो बुधै: । ज्ञेयस्तस्य वै विख्यात आसीच सकलावनौ ॥ 450 ॥

अर्थ:—भगवान कुंदकुंद स्वामी ने ग्रीवा की वक्रता के दोष को दूर करने के लिये श्री जिनेन्द्र सीमंधर स्वामी को नमस्कार कर और उनकी ही स्तुति बडी भक्ति से प्रेम सहित की जिससे तत्काल ही वह ग्रीवा जैसी की तैसी अपने स्थान में आकर सरल रूप हो गई। वक्रता मिट गई। इस कारण से स्वामी का तीसरा नाम वक्रग्रीव समस्त मुनि संघ में प्रसिद्ध हो गया ॥ 443 से 445 ॥

अर्थ—उस समय से श्री कुन्दकुन्द स्वामी जैन सिद्धांत रूपी जिनवाणी को काल में ही पढने लगे। फिर कभी भी उनने अकाल में अध्ययन नहीं किया ॥ 446 ॥

अर्थ—अकाल में जैन सिद्धांत (मोक्षशास्त्र) का पाठ करते हैं वे लोक तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं। इसमें संदेह नहीं है ॥ 447 ॥

अर्थ:—बडे भारी तपस्वी शिवनंदी नाम के एक मुनीश्वर अकाल में जैनसिद्धांत का पाठ करने से तिर्यंच योनि में बड़े मच्छ उत्पन्न हुए ॥ 448 ॥

अर्थ—काल और अकाल का स्वरूप जैनागम से जानना चाहिये। ग्रंथ बढ़ जाने के कारण यहां पर नहीं लिखा ॥ 449 ॥

पिच्छिका पतिता यानात् तस्य ध्यानयुतस्य वै। गृद्धस्य पिच्छिका दत्ता देवैर्वा तत्क्षणे शुभा ॥ 451 ॥
एतत्कारणतस्तस्य नामासीत्सकलक्षितौ। बुधोत्तमाश्च गृद्धादिपिच्छाचार्योतविश्रुतं ॥ 452 ॥
एवं पंचाभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित् । आसीत् विख्यातत्तां पूज्यः विपक्ष विजयात्सुरैः ॥ 453 ॥
अश्मजा वादिता येन भंगमाप्ताः खलाशयाः । श्वेतवासोधराः क्रूराः तस्मै श्रीमुनये नमः ॥ 454 ॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनाप्तं दर्शनं शुभम् । प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नमाम्यहम् ॥ 455 ॥
अस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता । शास्त्रादीनामहो भव्याः तस्मै नमोस्तु सर्वदा ॥ 456 ॥
कुंदकुंदसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसंभृते । नाभूत्रैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात् ॥ 457 ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के समोसरण में चक्रवर्ती ने एलाचार्य (लघु शरीर को एला कहते हैं) नाम रखा। विदेह की यात्रा के समय विमान में ध्यान में बैठे हुए स्वामी की पीछी विमान में से गिर जाने से देवों ने गृद्ध की पीछी बनाकर दी इसलिये गृद्धपिच्छाचार्य नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ 450 से 452 ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतज्ञान से समस्त पदार्थों को जानने वाले कुंदकुंद स्वामी पांच नामों से प्रसिद्ध हुए थे। तथा देवों से पूज्य हुए थे ॥ 453 ॥

अर्थ:—जिसने पत्थर की देवी को बुलवाया और दुष्ट आशयवाले क्रूर ऐसे श्वेतांबरियों से वाद-विवाद में विजय प्राप्त की ऐसे कुंदकुंद स्वामी को नमस्कार है ॥ 454 ॥

अर्थ:—जिन कुंदकुंद स्वामी ने पूर्व पुण्योदय से विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के शुभ दर्शनों का लाभ लिया उनके चरणकमल को नमस्कार है ॥ 455 ॥

अर्थ:— जिन कुन्दकुन्द स्वामी ने 84 पाहुड आदि ग्रंथों का निर्माण कर जगत् में महान उपकार किया उनको सर्वदा नमस्कार है ॥ 456 ॥

अर्थ:—कुंदकुंद स्वामी के समान महापराक्रमशाली जैनधर्म के उद्योतक इस कलिकाल में न हुए और न भविष्य में होंगे ॥ 457 ॥

धन्या सा जननी लोके यस्या: कुक्षौ सुरै: स्तुत: । अभूद्वै ईदृश: पुत्रो मिथ्यांधतम:पूषण: ॥ 458 ॥

कुंदकुंदमुनीन्द्रस्य तस्यैवाहं करोमि वै । स्तवनं चित्तरोधार्थं नित्यांहसो विनाशकम् ॥ 459 ॥

कुंदकुंदमहमाद्यमाव्हं जन्मसमुद्भवम् वेदे कुंदसमं देहं तत्पदाप्ताय केवलम् ॥ 460 ॥

द्वितीयं पद्मनंद्याख्यं पद्मातिशयदर्शकम् । वंदे पद्मसमनेत्रं विपक्षाद्रौ पविसमम् ॥ 461 ॥

तृतीयं वक्रग्रीवाख्यं ध्यानमग्नसुरै: स्तुतम् । वंदेऽहं ध्यानसिद्धयर्थं दिशांबरधरं वरम् ॥ 462 ॥

एलाचार्याभिधं तुर्यं सीमंधरस्य दर्शकम् । तद्धि साहससिद्धयर्थं वंदेहं सर्वदा मुदा ॥ 463 ॥

पंचमाभिधसंयुक्तं गृद्धपिच्छेन भूषितम् पिच्छाचार्यंच गृद्धान्तं वंदेमृतभुजैस्तुतं ॥ 465 ॥

वसुंधरायां मुनिसत्तमोऽयं पंवैव (?) नाम्ना कलित: सुबुद्धि: । जातोहि वंदे तमहं त्रिशुद्धय विख्याततां भो बुधसत्तमा वै।। 466 ॥

अर्थ:— देवों से पूजित और जगत मान्य कुंदकुंद स्वामी जिस माता की कोख से उत्पन्न हुए वह माता धन्य है। जिसके प्रभाव से मिथ्यात्व रूपी घोर निबिड अंधकार नष्ट हुआ ॥ 458 ॥

अर्थ:—मैं अपने चित्त को वश करने के लिये और नित्य के पापों की शांति के लिये कुंदकुन्द स्वामी का स्तवन करता हूं ॥ 459 ॥

अर्थ:—कुंदकुंद स्वामी के पांच नाम प्रसिद्ध थे। जिनमें से प्रथम कुंदकुंद यह नाम जन्म का नाम था सेठ कुंद और सेठानी कुंदलताने अपने पुत्र का नाम कुंदकुंद रखा था। दूसरा पद्मनंदी यह नाम कमंडलू में से पद्म के फूलों के ढेरों का अतिशय प्रकट करने से प्रकट हुआ। तीसरा वक्रग्रीव यह नाम– अकाल में जैन सिद्धान्तों का पाठ करने के दुष्परिणाम से उनकी ग्रीवा स्वयमेव वक्रता को प्राप्त हो जाने से वक्रग्रीव नाम प्रसिद्ध हुआ। चौथा एलाचार्य यह नाम–विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के समोसरण में चक्रवर्ती ने इनको एला (इलायची) के समान लघुकाय देखकर प्रकट किया था। इनका साहस और शक्ति की सीमा विशेष देखकर चक्रवर्ती ने एलाचार्य नाम रखा था ॥ 460 से 463 ॥

अर्थ—पांचवा नाम गृद्धपिच्छ यह विदेह की यात्रा के समय विमान में बैठे हुए ध्यान में मग्न थे उस समय विमान से पिच्छी (मयूर पिच्छी) नीचे गिर पडी। जब इनका ध्यान पूर्ण हुआ तब पिच्छी गिर जाने के समाचार देवों से कहे और यह भी कहा कि बिना

इमानि वरनामानि कुंदकुंदमुनेश्च ये। प्रातश्चोत्थाय नित्यं वै पठिष्यंति नराः कलौ ॥ 467 ॥
अस्मिन् भक्तया प्रयास्यंति दिष्टि शमाव्यिसंभृते । ते शिवे क्रमतो भव्याः सदा शर्मविभूषिते ॥ 468 ॥
अस्य प्रभावतः सर्वे विषमादिज्वरास्तथा। व्यंतरा राक्षसाः क्रूराः सर्वे यांत्येव नाशताम् ॥ 469 ॥
काकोदरा महाक्रूराः सद्यः प्राणहरा हि ये। नहि चास्य प्रभावेन करिष्यंति भयं नृणाम् ॥ 470 ॥
धनार्निर्जायते पुंसां पुत्रार्तिर्नात्र संशयः । स्तोत्रस्य पठनात् भव्या सर्वसिद्धिः सुखास्पदा ॥ 471 ॥
इत्थं स प्रकटं कृत्वा धर्ममार्गं जगन्नुतं। पश्चात् स्वपुरबाह्यस्थवने वै नंदनोपमें ॥ 472 ॥
स्यायुषंहि तदा ज्ञात्वा मासमात्रंच स मुनिः । समाध्यात्ययसिद्ध्यर्थमाजगाम सुबोधवान् ॥ 473 ॥

पिच्छी के गमन नहीं होगा। तब देवों ने पिच्छी तलाश की। परंतु वह मयूर पिच्छी नहीं मिली। तब गृद्ध के कोमल पंख पडे हुए देखकर देवों ने उनकी पिच्छी बनाकर दी और उस पिच्छी पर से इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य सिद्ध हुआ।। 465-466

इस प्रकार पांच नाम कुंदकुंद स्वामी के समस्त जगत में प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार समस्त प्रकार के दिव्य अतिशयों से सुसंपन्न, महान प्रभावशाली, समस्त विद्याओं के पारगामी ऐसे कुंदकुंद भगवान को नमस्कार है। जो मनुष्य प्रातःकाल इन नामों का स्तोत्र पाठ करता है सो उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥ 467 ॥

अर्थ—इस कुंदकुंद स्वामी के स्तोत्र को जो मनुष्य भक्ति भाव से पढ़ते हैं उनको समस्त सुखों का निधान स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। और क्रम से मोक्ष भी होती है। इस स्तोत्र के प्रभाव से विषमज्वर आधि-व्याधि और समस्त प्रकार की उपाधि स्वयमेव शांत हो जाती है। व्यंतर राक्षस और क्रूर पिशाचादिकों की बाधा नष्ट हो जाती है। काकोदर जलोदर आदि भयंकर रोग भी स्वयमेव शमन हो जाते हैं। धन के चाहने वाले को धन मिलता है और पुत्रार्थी को पुत्र की प्राप्ति होती है। इस स्तोत्र से समस्त सिद्धि वृद्धि-और नित नये मंगलों की प्राप्ति होती है । 468 से 471 ॥

अर्थ—इस प्रकार कुंदकुंद स्वामी जैनधर्म को समस्त पृथवीतल में विस्तार कर फिर अपने वारा नगर के उद्यान में (धरणी भूषण पर्वत के उद्यान में) वापिस आये ॥ 472 ॥

अर्थ—वहां पर कुंदकुंद स्वामी ने जब अपनी आयु एक महिना की अवशेष रह गई थी ऐसा अपने निमित्त ज्ञान से जान लिया तब चतुर वे मुनि समाधिमरण के लिये तैयारी करने लगे ॥ 473 ॥

प्राशुके तत्र भूमौ स स्थित्वा ह्यनुक्रमात् मुनिः । जेमनं चोदकं क्षीरं तत्याज चितशुद्धये ॥ 474 ॥
पश्चाद्धि सर्वमाहारं त्यक्त्वा साहसधारकः । नत्वा सीमंधरं देवं तस्थौ स कर्महानये ॥ 475 ॥
परिचर्यां तदा चक्रुः तच्छिष्याः स्वगुरोः पुरः । तथासमाधिसिध्यर्थं पाठं सिद्धांतसूचकम् ॥ 476 ॥
चतुराराधनापाठं हस्तपादादिमर्दनम्। मंत्रराजस्य श्रवणं सर्वपापाद्रिभंजकम् ॥ 477 ॥
यच्छ्रवणादलकाद्या दिवमापुः सुखांकितम्। तिर्यंचोप्यंजनाद्याश्च पाटवरक्रियोद्यताः ॥ 478 ॥
तरिता: तरंति ये भव्यास्तरिष्यंतिहि केवलम् ॥ अनेन मंत्रराजेन नान्योपायोहि प्राणिनाम् ॥ 479 ॥
शयने चासने मार्गे विपिने चाद्रिमस्तके। संख्ये शाते तथा दुःखे ह्येनं जपंतु भो बुधाः ॥ 480 ॥
नैव बिस्मरणीयं च मंत्रराज कदाप्यहो । दातुं हि शिवशर्मणः क्षमो नैवापरो बुधाः ॥ 481 ॥

अर्थ—वहां पर धरणीभूषण पर्वत पर एक प्रासुक स्थान में बैठकर और चित्त की शुद्धि के लिए क्रम से चार प्रकार के आहारों का परित्याग किया ॥ 474 ॥

अर्थ—फिर चार प्रकार के आहार को सर्वथा छोडकर कर्म के नाश करने के लिये अपने मन में सीमंधर स्वामी को नमस्कार किया ॥ 475 ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामी के नंद्याचार्य ने अन्य शिष्य वर्गों को प्रभु की परिचर्या करने की प्रधान आज्ञा दी। कितने ही शिष्य सिद्धांत शास्त्रों का पाठ करते थे। कितने चार आराधना का स्वरूप निरूपण करते थे। कितने ही णमोकार महामंत्र श्रवण कराते थे। कितने उनके मलमूत्र का प्रक्षेपण करते थे। कितने पदमर्दन आदि वैयावृत्य करते थे । णमोकार महामंत्र का श्रवण करने से समस्त पापों का नाश होता है। श्वान आदि तिर्यंच जीवों को भी मंत्र के श्रवण मात्र से स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। अंजन चोर आदि पापी जीव भी सद्गति को प्राप्त हुए हैं ॥ 476 से 478 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव संसार समुद्र से तिरगये, तिरते हैं अथवा तिरेंगे वे सब णमोकार मंत्र के प्रभाव से ही पार हुए हैं। संसार से पार होने का इसके अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ 479 ॥

अर्थ—सोने में बैठने में मार्ग में संकट में पर्वत पर सुख दुःख आदि सर्वत्र इस णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिये ॥ 480॥

अर्थ:—इस महामंत्र को कभी भी भूलना नहीं चाहिये क्योंकि इसके सिवाय अन्य कोई भी मोक्ष के सुखों को प्रदान करने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥ 481 ॥

महिमा मंत्रराजस्य इत्थं ज्ञात्वा शिवाप्तये । जपंतु सर्वदा भव्या इमं सकलशर्मदम् ॥ 482 ॥

कुंदकुंदमुनीन्द्रश्च विमोहः तत्वधीः शमी । विभोः पादारविंदेहि धृत्वा स्वचित्तमंजसा ॥ 483 ॥

निर्विकल्पो निःकषायः चायुरंते वशी दमी । एकाग्रमनसा तस्थौ स्मरन् पंचपदावलिम् ॥ 484 ॥

शुष्कणात्रोपि स योगी धीरवीराग्रणीः खलु । नाभजत् मनसि क्लेशं स किंचिदपि शिवाप्तये ॥ 485 ॥

ततोहि सन्निधे काले चागते स यतोश्वरः । पद्मासनं गृहीत्वाहि संतस्थौ शुद्धमानसः ॥ 486 ॥

अर्हद्भ्यः सर्वसिद्धेभ्य आचार्येभ्यो नमोस्तुवै । पाठकेभ्यस्तथा योगीश्वरेभ्यः सर्वदाहि मे ॥ 487 ॥

त्रिशुद्धया देवदेवेशं सीमंधरमथापहम् । पुनः पुनः ननाम च तत्पदाप्तये केवलम् ॥ 488 ॥

नमोस्तु चेति अर्हद्भ्यः ध्यानमग्नस्तदा मुनिः । त्यक्त्वा समाधिना प्राणान् दिवमाप सुखास्पदं ॥ 489 ॥

अर्थ—इस महामंत्रराज की इस प्रकार अद्भुत महिमा जान कर मोक्ष की प्राप्ति के लिये भव्यजीवों को सदैव जपना चाहिये। जिससे सर्व सुखों की प्राप्ति हो ॥ 482 ॥

अर्थ—भगवान कुंदकुंद स्वामी समाधि मरण के समय मोह रहित हो गये। समस्त तत्त्वों के वेत्ता, शांत निःकषाय इन्द्रियों का विजय करने वाले, परम साहसी, मन की चपलता को वश करने वाले और निर्विकल्प दशा को प्राप्त होकर श्री सीमंधर स्वामी के चरण कमलों को हृदय में धारण कर केवल पंच णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुए ध्यान में स्थिर हुए ॥ 483-484 ॥

अर्थ—भगवान कुंदकुंद स्वामी का शरीर ध्यान और तप के प्रभाव से शुष्क हो गया था तो भी धीर-वीर परम साहसी अपने मन में जरा भी संकोच को नहीं प्राप्त हुए। और परम शांति से आत्मज्ञान में लवलीन हो गये ॥ 485 ॥

अर्थ—भगवान कुंदकुंद स्वामी का जब मरण काल अतिशय समीप आ गया तब प्रभु अपना पद्मासन लगाकर मन-वचन-काय की शुद्धि कर निःशल्य होकर ध्यान में निमग्न हुए। प्रभु ने 'नमो अर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नमः आचार्येभ्यः, नमः पाठकेभ्यः, नमः सर्वसाधुभ्यः' इस प्रकार मंत्रों के द्वारा अपनी आत्मा में पंच परमेष्ठी की स्थापना कर तीन प्रकार की शुद्धि से जगद्गुरु देवाधिदेव सीमंधर स्वामी को उनके पद की प्राप्ति के लिये बारंबार नमस्कार किया और प्राणांत समय नमोऽर्हद्भ्यः ऐसा कहकर एकाग्रमन से ध्यान में मग्न हो गये। इस प्रकार अपने स्वरूप में लीन होकर शांति से प्राणों का परित्याग किया और स्वर्ग में देव पर्याय को प्राप्त हुए ॥ 486 से 489 ॥

नानर्द्धिमंडितां तत्र भुक्त्वा वै शर्मसंततिम् । स मुनिस्तुर्यकाले च यास्यति मोक्षधामनि ॥ 490 ॥

कुंदः कुंदसमुज्वलः सुविमलो ध्यानादिभिः शुद्धधीः । सत्तपसा कृशतां गतोपि न भजेत् दुर्मानसं स कदा ॥

भव्यांभोजदिवाकरः सुरनुतः षड्जीवरक्षाकरः । बुद्धया गीःपतिसद्दशो हि यतिराट् स पातु नो वः सदा ॥491॥

प्राप्तं येन जिनेश्वरस्य सुखदं पुण्योदयात्पुण्यदम् । पूर्वाख्ये वरसुंदरे सुविमले सीमंधरस्यांजसा ॥

सर्वाशर्मविनाशकं शिवकरं सद्दर्शनं मोददं ॥ क्षेत्रे शर्मनिकेतने वरबुधाः पुण्याच्च किं दुष्करम् ॥ 492 ॥

पुण्यं पापविनाशकं भवहरं पुण्यं परं मंगलम् । पुण्यं श्री जिनस्नानपूजनभवं पुण्यं च रागोज्झनम् ॥

पुण्यं सिद्धिप्रदायकं मुनिनुतं पुण्याय नित्यं नमः । ज्ञात्वेत्थं बुधसत्तमा ह्यनुदिनं पुण्यं कुरुध्वं खलु ॥ 493 ॥

कालेऽस्मिन् मुनिवृंदपूजितपदः श्रीकुंदकुंदाभिधः जातो धर्मप्रकाश को वरमतिः मिथ्याद्रिनाशे पविः ॥

कौमारे हि धृता महासुखकरा जैनेंद्रदीक्षा मुदा । धीरः शूरतमो महासुखकरो नः पातु संसारतः ॥ 494 ॥

पुण्यस्यैव फलं जिनागमविदा ज्ञात्वा महाशर्मणे । त्यक्त्वा पापक्रियां महादुःखकरां संसार बीजांकुराम् ॥

अर्थः—यहां पर (स्वर्ग में) अनेक प्रकार की ऋद्धियों से संपन्न समस्त प्रकार के सुखों को भोगकर भगवान कुंदकुंद स्वामी का जीव आगामी चतुर्थ काल में नियम से मोक्ष को प्राप्त होगा ॥ 490 ॥

अर्थः—कुंदकुंद स्वामी सदैव निर्मल भाव के धारक थे बड़े ही पवित्र थे और समस्त प्रकार के दोषों से रहित थे। ध्यान आदि उत्तम कार्यों से जिनका ज्ञान परम पवित्र हो गया था। तप से जिनका शरीर कृष था तो भी अत्यंत कठिन तप धारण करने पर भी जिनके परिणामों में कभी संक्लेश नहीं होती थी। भव्य जीवरूपी कमलों के लिये सूर्य, छह प्रकार के जीवों की दया पालने वाले, बुद्धि में वृहस्पति से भी अतिशय गरिष्ट ऐसे कुंदकुंद स्वामी सदा हमारी रक्षा करो ॥ 491 ॥

अर्थ—कुंदकुंद स्वामी ने अतिशय पवित्र और सर्वोत्तम ऐसे पूर्व विदेह क्षेत्र में पूर्व पुण्योदय से महान पुण्य का प्रदान करने वाला समस्त पापों का नाश करने वाला, समस्त सुखों को देने वाला अपार आनंद का कारण ऐसा सीमंधर भगवान् का पवित्र दर्शन किया। ठीक है पुण्य से सब बातें साध्य हो जाती हैं ॥ 492 ॥

अर्थः—पुण्य ही पाप का नाश करने वाला है। संसार का उच्छेद करने वाला है। पुण्य ही परम मंगल है। पुण्य समस्त

संसारातपनाशकं सुविमलैः ध्यानादिसत्कर्मभिः तं पुण्यं ह्यघनाशकं मुनिनुतं चांगीकुरुध्वं सदा ॥ 495 ॥

पुण्यात् सिद्धपदे व्रजंत्यनुदिनं योगीश्वराः पावने । ह्यंतातीतसुशर्मवृंदनिचिते क्षोभादिकर्मोज्झिते ॥

पुण्यात्सुसुतप्राप्तिता वरगुणैर्युक्ता मनोनंदका । मत्वेत्थे नरसत्तमाः सुविमलं पुण्यं कुरुध्वं सदा ॥ 496 ॥

इत्थं श्रेणिक भूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम् । पापौघस्य विनाशकं सुविमलं श्रीकुंदकुंदस्य वै ॥

चित्ते त्वं कुरु धारणं च मनसः शुद्धं करं नंदतं । अग्रे धर्मविवर्द्धकं वरसुरैः पूज्यं च पूज्योदयम् ॥ 497 ॥

सिद्धियों का देने वाला है, मुनियों से भी पूज्य है। अरहंत परमात्मा का पंचामृत स्नान पूजन-जप, गुण स्मरण और भक्ति से महान् दिव्य पुण्य की प्राप्ति होती है अथवा सामायिक जप-तप ध्यान के द्वारा रागादिक दुष्टभावों का परित्याग करने से भी पुण्य प्राप्त होता है। ऐसा पुण्य बुद्धिमानों को सदा संचय करते रहना चाहिये। इस काल में मुनियों से पूजित, श्रेष्ठ धर्म के प्रकाशक, उग्र ज्ञान के धारक, मिथ्यात्वरूपी पर्वतों के भेदक और धीर, वीर,परमसाहसी, सुख के प्रदान करने वाले और कुमार काल में ही अतिशय कठिन जिनेंद्र दीक्षा को धारण करने वाले ऐसे कुन्दकुन्द मुनि हमारी इस संसार से रक्षा करो ॥ 493-494 ॥

अर्थ—इसलिये जिणवाणी से पुण्य को ही समस्त वस्तुओं से दुर्लभ और सर्वोत्कृष्ट समझकर संसार की बीज भूत समस्त दुःखों को प्रदान करने वाली ऐसी पाप क्रिया का परित्याग करो। तथा ध्यान-संयम सदाचार-चारित्र आदि उत्तम पुण्य क्रियाओं का पालन करो। जिससे संसार का नाश हो और पापों का क्षय हो। यह ऐसा पुण्य मुनियों से भी पूज्य है इसलिये ऐसा पुण्य सदा करते रहना चाहिये ॥ 495 ॥

अर्थ—पुण्य से ही मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। योगीश्वर भी पुण्य की प्राप्ति के लिए जप तप करते हैं। पुण्य से अनंतसुख निर्विघ्नतापूर्वक होता है। पुण्य से पुत्र-राज्य-धन धान्य आदि विभूति होती है, अनेक गुणों की प्राप्ति होती है और मन को आनंद होता है। इसलिए हे भव्य जीवों पुण्य को नित्य ही संपादन करो ॥ 496 ॥

अर्थ:—हे श्रेणिक महाराज ! अत्यंत पवित्र, समस्त पापों का नाश करने वाला, धर्म को बढ़ाने वाला, देवों से पूज्य, पूज्य पुरुषों के उदय को प्रगट करने वाला और आनंद का प्रदाता ऐसा कुंदकुंद स्वामी का संक्षिप्त जीवन चरित्र कहा है। उसको भावभक्ति से श्रवण कर आत्मकल्याण करना चाहिये ॥ 497 ॥

नंदाद्या ये करिष्यंति जिनधर्मप्रभावनाम् । ततो भूप सुयोगींद्रा धर्मस्योद्धारणे क्षमा: ॥ 498 ॥

अथापरं श्रृणु भूप पंचमसमयस्य वै। वृत्तांतं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिंतासमाधिना ॥ 499 ॥

श्रावकाणां मता भूप जिसेवासुशर्मदा: । षट्क्रिया नित्यपापस्य धातार्थमघरोधका: ॥ 500 ॥

पूर्वं श्रीमज्जिनेन्द्रस्य कर्तव्य कल्मषापहम् । अभिषेकं वरै: शुद्धै: पंचामृतरसैर्घनै: ॥ 501 ॥

पयेक्षुरससर्पिर्भिर्दुग्धदधिरसोत्करै: । स्वर्णरचितकुंभस्थै: नेत्रानन्दकैर: वरै: ॥ 502 ॥

एभीरसैर्जिनेंद्रस्य स्नानं कुर्वंति ये नरा: । प्राप्नुवन्ति खलु ते च स्वर्णाद्रौ निर्जरोत्कर: ॥ 503 ॥

पद्मादेलागरुगंधसारकंकोलकुङ्कुमै: । कर्पूरादिवरै:द्र'व्यै: आमोदापूरितांबरै: ॥ 504 ॥

अर्थ:—हे राजन् ! इसके बाद जैनधर्म की प्रभावना धर्म का उद्धार करने में समर्थ ऐसे नंदाचार्य आदि महर्षिगण करेंगे ॥ 498 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! अब मैं पंचमकाल में होने वाले वृत्तांत को कहता हूं। एकाग्र मन से श्रवण कर। ऐसा महावीर स्वामी ने राजा श्रेणिक से कहा ॥ 499 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! श्रावकों की षट्क्रियायें परमावश्यक होती हैं। इसलिये उनका स्वरूप जानना परमावश्यक है ॥ 500 ॥

श्रावकों की समस्त क्रियाओं में मुख्य क्रिया जिनेन्द्र पूजन है। इस क्रिया से समस्त प्रकार के पाप एक क्षण मात्र में नाश हो जाते हैं और सर्व प्रकार के सुख अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अभिषेकपूर्वक ही पूजन होती है क्योंकि पूजन का प्रारंभ अभिषेक पाठ से ही होता है। पूजन के पंच अंगों में से तीन अंग तो अभिषेक के प्रारंभ में ही करने पड़ते हैं। इसलिये पूजन का अर्थ अभिषेकपूर्वक पूजा है। अभिषेक पंचामृत रसों से होता है ॥ 501 ॥

सबसे प्रथम जल का अभिषेक जिन प्रभु का किया जाता है। फिर क्रम से इक्षुरस घृत दुग्ध दधि सर्वौषधि आदि रसों से स्वर्ण के कुंभों से करना चाहिए। जो मनुष्य इस पंचामृत से श्रीजिनदेव का अभिषेक करता है वह देवों से अभिषेक किया

1—द्रवै: इति पाठ:

नीराजनविधिं पश्चात् चाज्ञानहानये प्रभोः । पुरो ह्युत्तरणीयं च सर्वसंपत्तिकारकम् ॥ 505 ॥

गृहस्थानामहो भूप सर्वासु च क्रियासु वै । कथितो वीतरागस्य चाभिषेकविधिर्महान् ॥ 506 ॥

दिविहि निर्जराः पूर्वं कृत्वा स्नानं प्रभोर्मुदा । पश्चात्सकलसंपत्तिमंगीकुर्वंति ते खलु ॥ 507 ॥

दुग्धाद्यैर्बुधसत्तमा जिनपतेर्बिंबस्य धस्रं प्रति । शुद्धैः नेत्रमनोहरैः सरसकैः पापालिनाशाशये ॥ 508 ॥

स्नानं येन कृतं सदा वररसैस्तेनाप्तमक्षालयं । तस्मात् शर्मप्रदायकं भवहरं स्नानं कुरुध्वं बुधाः ॥ 508 ॥

कलौ वै मानवा मूढाः चाभिषेकक्रियामिमां । नूनमुत्थापयिष्यंति स्वस्वमतिविपर्ययात् ॥ 509 ॥

शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यंति निश्चयात् ॥ नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यंति स्वकीर्तये ॥ 510 ॥

जाता है। फिर एला (इलायची–अगर गंधसार चंदन), कंकोल (शीतलचीनी), कुंकुम, कपूर आदि सुगंधी द्रव्यों से अभिषेक करना चाहिए। सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिए। गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि कर नीराजन आरती करना चाहिए। यदि इस क्रम से पूजा की जाय तो सर्व संपत्ति प्राप्त होती है। हे राजन् यह अभिषेक की मुख्य क्रिया श्रीजिनागम में प्रतिपादन की है। इसलिए यह आगमोक्त क्रिया सब क्रियाओं में श्रेष्ठ है ॥502–506 ॥

अर्थ—देवलोक स्वर्ग में उत्पन्न होते ही सबसे पहले भगवान् का अभिषेक करते हैं और फिर स्वर्ग की संपदा को स्वीकार करते हैं ॥ 507 ॥

अर्थ—हे भव्य जीवों जो आप सुख की प्राप्ति चाहते हो तो श्रीजिनेन्द्र भगवान की प्रतिबिंब का नित्यप्रति दुग्ध दही आदि मनोहर और पवित्र द्रव्यों से अभिषेक करना चाहिये। पापों का नाश इस पंचामृत अभिषेक से एक क्षण मात्र में होता है और संसार का समूल नाश होकर मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है ॥

अर्थ—कलिकाल में मूर्ख मनुष्य अभिषेक की पवित्र क्रिया को उठा देंगे। और अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की मिथ्या कल्पना कर जिनागम का लोप करेंगे ॥ 509 ॥

अर्थ—कुशिक्षित और मलिन ज्ञान से सुधरे हुए मूर्ख पुरुष शास्त्रों के वचनों का लोप करेंगे और अपनी कीर्ति के लिये नवीन–नवीन मार्ग निकालेंगे ॥ 510 ॥

दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलात् । संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च ॥ 511 ॥
स्वं स्वं कल्पितवाक्यं च मानयिष्यंति ते नराः । जैनागमविनिर्मुक्ता आचार्यागमनिंदकाः ॥ 512 ॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिंदकाः । कृतघ्नाः ते भविष्यंति जैनेंद्रमतघातकाः ॥ 513 ॥
द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता गृहस्थानां जिनेश्वैः । पूजनाख्या त्रिकाले हि कृता संसारदुःखहा ॥ 514 ॥
विभोः पादार विंदाग्रे स्वर्णभृंगारनालकात् । दातव्यं त्रियमां धारां जन्ममृत्युजरापहाम् ॥ 515 ॥

अर्थः—कुशिक्षा और मलिन ज्ञान के संस्कार से सर्वत्र प्रभु के द्वारा प्रतिपादित आगम ग्रन्थों में भी दोष को लगायेगें और अपनी तुच्छ बुद्धि को सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान से अधिक महत्वशाली मानेंगे। ऐसे लोग संस्कृत और प्राकृत भाषा के मूलग्रंथों का वाचना भी छोड़ देंगे। अभिप्राय यह है कि मूलग्रंथों का अभिप्राय तो उनकी समझ में आवेगा नहीं। केवल उधर इधर की सुन-सुनाकर अपनी विपरीत बुद्धि के अनुसार लोगों को बहकावेंगे। ऐसा लोग शास्त्रों को झूंठा दोष लगावेंगे और मनमानी कल्पना कर मिथ्या मार्ग का नरक निगोद देने वाले नीच मार्ग का प्रचार करेंगे ।। 511 ॥

अर्थ—अपनी-अपनी कपोल कल्पना से विषय कषाय को पुष्ट करने वाले अथवा मनोनीत, आगमविरुद्ध वाक्य को रचकर मान्य करेंगे और सर्वज्ञप्रणीत परम पवित्र यथार्थ आगम को नहीं मानेंगे तथा आचार्य और शास्त्रों की मिथ्या निंदा करेंगे।। 512 ॥

कुशिक्षा और मिथ्यात्व के संस्कार से ये लोग अपने पक्ष को बनाकर देव शास्त्र गुरुओं की निंदा करेंगे। मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे। दोष भी लगायेंगे । सर्वज्ञ प्रभु की पवित्र आज्ञा को अपवित्र बनाने का प्रयत्न भी करेंगे। पवित्र गुरुओं की निर्दोष चर्या में दूषण लगावेंगे और उनके गुणों को नहीं देख सकेंगे। सब प्रकार से जैन मत का घात कर अपने को समुन्नत मानेंगे। जैन धर्म का समूल नाश करेंगे और उसी को उन्नति बतलायेंगे। ऐसे जीव कलिकाल में अवतार लेंगे ॥ 513 ॥

अर्थः—हे राजन्! श्रावक की दूसरी क्रिया श्री जिन देव ने भगवान अरहंत देव की पूजन करना बतलाया है। भगवान की पूजा त्रिकाल करनी चाहिये। जिससे संसार के दुःखों का नाश होता है ॥ 514 ॥

अर्थः— श्रीमत् जिनदेव के पवित्र चरण कमलों के आगे स्वर्ण या अन्य धातु की झारी की नालिका से तीन धारा देना जलपूजा है। यह मंत्रपूर्वक भक्ति से की जाय तो जन्म जरा मृत्यु का नाश तत्काल कर देती है ॥ 515 ॥

कुंकमागरुकर्पूरं सुघृष्य जिनपादयो: । लेपनीयं भवातापघातार्थं शुद्धभावत: ॥ 516 ॥

अखंडाक्षतसंदोहै : शुभै: नेत्रमनोहरै: । क्षायपद सिद्ध्यर्थमर्चनीयो जिनेश्वर: ॥ 517 ॥

कुंदाब्जजातिबकुलैरन्यै: पुष्पोत्करै: वरै: । पूजनीयौ विभो: पादौ मकरध्वजनाशये ॥ 518 ॥

शाल्योदनैस्तथा सर्वपक्वान्नव्यंजनोत्करै: । क्षुधातंकविनाशार्थं पूजनीयो जगत्पति: ॥ 519 ॥

शतसहस्रपदीपैराज्य मिश्रितवर्तिजै: । उद्योतो जिनपादाग्रे कर्तव्यो मोहहानये ॥ 520 ॥

पंक्त्यादिद्रव्यतोत्पन्नधूपस्यव धनंजये । दहनं जिनपादाग्रे कर्तव्यं कर्महानये ॥ 521 ॥

कलाम्रपोस्तनीराजादनफल कदंबकै: ढौकनीयौ प्रभो: पादौ शिवशर्मफलाप्तये ॥ 522 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव विशुद्ध भावों से कुकुम अगर तगर कर्पूर आदि सुगंधी पदार्थों को उत्तम प्रकार घिसकर प्रभु के पवित्र चरण कमलों पर लेप करता है उसके संसार के समस्त पापों का नाश होता है।। 516 ॥

अर्थ:—जो भव्य जीव अखंड अक्षतों के मनोहर शुभ्र पुंजों से भगवान की पूजा करता है उसको अक्षय पद की प्राप्ति होती है ॥ 517 ॥

अर्थ— जो भव्यजीव मोगरा वकुल जुई जाही आदि सुगंधित पुष्पों से भगवान की पवित्र चरण कमलों की पूजा करता है वह कामदेव के मद का नाश करता है ॥ 518 ॥

अर्थ:—जो भव्य जीव नैवेद्य घी, शक्कर में पकाये हुए नाना प्रकार के व्यंजनों से श्रीजिनराज की पूजा करता है वह क्षुधा रोग का नाश करता है ॥ 519 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव हजारों लाखों घी के महान दिव्य दीपक से भगवान के पवित्र चरणकमलों पर प्रकाश करता है वह मोहनीय कर्म का नाश करता है।

जो भव्य जीव अगर तगर आदि सुगंधी द्रव्यों से बनाई हुई धूप से श्रीजिनेन्द्र भगवान के पवित्र चरण कमलों की पूजा करता है वह कर्मों का नाश करता है ॥ 521 ॥

अर्थ— जो भव्य जीव केला, आम्र, द्राक्ष, बिजोरा, नींबू आदि फलों के द्वारा भगवान के पवित्र चरण कमलों की पूजा करते हैं वे मोक्ष के सर्व सुख को प्राप्त होते हैं ॥ 522 ॥

अष्टभेदैर्वरैर्द्रव्यैर्दूर्वादर्भैश्च सर्षपैः । अर्घं कृत्वा पुनः पादौ पूजनीयौ विभोर्मुदा ॥ 523 ॥

जय नंद दयाधीश तारय तारक प्रभो । इत्यादिशब्दनिकरं चानर्घ्यपद सिद्धये ॥ 524 ॥

एकैकद्रव्यतो भूप सुखमाप्ता घना जनाः । तेषां नामानि वक्तुं कः क्षमोस्ति मादृशं बिना ॥ 525 ॥

तथापि श्रृणु चाष्टानां नामानि सुखदानि च । वच्मि संक्षेपतो भूप फलं चापि फलाप्तये ॥ 526 ॥

भारते गुर्जरे देशे तस्मिन् स्तंभपुरे वरे । सोमिलोऽभूद्ध भूदेवस्तस्य सोमाभिधा प्रिया ॥ 527 ॥

तयोरासीत्सुतो नाम्ना याज्ञवल्कश्च वल्लभः । सोमश्रीरबला तस्य स्वनाथाशक्तमानसा ॥ 528 ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अष्टद्रव्य और दूर्वा, दर्भ, सरसौं आदि मंगलीक द्रव्यों से भगवान् के चरण कमलों का अर्घ उतारता है वह कर्म नाश करता है ॥ 523 ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जय जय जय ! नंद नंद नंद, तारय तारय तारय, हे तारक हे दयाधीश ! इत्यादि मंगलिक शब्दों के द्वारा गुणगान करें ॥ जिससे मोक्षपद की प्राप्ति हो।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज, जिन भव्य जीवों ने भाव भक्ति से प्रभु की पूजा एक भी द्रव्य से की है वे परम सुख को प्राप्त हुए हैं। उनके नाम कहने को मेरे बिना (महावीर प्रभु के समान) अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥ 525 ॥

अर्थ:— हे राजन् ! तो भी उनमें से कितने ही भव्यों के सुखद नामों को कहता हूं। जिससे पूजा के फल में विशेष रुचि हो ॥ 526 ॥

अर्थ:—भरतक्षेत्र के आर्य खंड में गुर्जर देश में एक खंभात (स्तंभपुर) नाम का नगर प्रसिद्ध था। जिसमें सोमशर्मा नाम का एक क्रियाकांड में निपुण और समस्त वेदों का पारगामी ब्राह्मण था। उसकी स्त्री का नाम सोमा था। दोनों ही वेदधर्म में बड़े कट्टर थे ॥ 527 ॥

अर्थ:—उस ब्राह्मण के याज्ञवल्क नामका पुत्र था और उसकी स्त्री का नाम सोमश्री था। सोमश्री भद्र परिणामी थी और अपने स्वामी की सेवा में प्रवीण थी ॥ 528 ॥

कियत्यपि गते काले सोमिलश्च मृतो द्विजः । बंधुर्वगस्तदा तस्य संस्कारं प्रापिता तनुः ॥ 529 ॥
द्वादशे वासरे सर्वे सुतमात्रादयः खलु । मृतक्रियां च विप्रस्य चक्रुरानंदतश्च ते ॥ 530 ॥
सोमा स्नुषामिति प्राह सोमश्री सह भीरुभिः । व्रज नदीं प्रति कुंभान् आनय स्वक्रियाप्तये ॥ 531 ॥
सापि श्रुत्वा इति ता वै आदाय अगमन्नदीम् । तस्मिन्नवसरे तत्र वैश्यसुतापि चागता ॥ 532 ॥
सोमश्रीश्च तयाऽभाणि सखे श्रीमज्जिनालये । मयारब्धं शिवाप्त्यर्थं अभिषेको जिनस्य वै ॥ 533 ॥
इति श्रुत्वाह सा मोदात् किमस्य चालि हे फलम् । साप्याह सांख भो भद्रे फलयस्य शृणु शुभम् ॥ 534 ॥
ये गृहस्था जिनेन्द्रस्य पंचामृतरसैर्वरैः । अभिषेकं प्रकुर्वंति ते भज्यंतेत्र निर्जरैः ॥ 535 ॥
विबुधाः सकलास्तस्य सेवां कुर्वंति भावतः । कथयाम्यपरां शोभामतस्ते चाभिषेकजाम् ॥ 536 ॥

अर्थः— कुछ दिनों के बाद वह सोमशर्मा (सोमिल) मर गया। उसके कुटुंबियों ने मिलकर उसके शरीर का संस्कार किया ।। 529 ॥

अर्थः—उस सोम शर्मा के मरने के बाद पुत्र माता आदि कुटुंब परिवार के लोग बारहवें दिवस के संस्कार करने लगे ॥ 530 ॥

अर्थः—सोमा ब्राह्मणी ने अपनी पुत्रवधू से कहा कि तेरे ससुर का आज बारहवें दिवस का संस्कार है इसलिये अन्य ब्राह्मणी को साथ ले जाकर नदी से घड़ाओं में पानी भर ला जिससे संस्कार क्रिया की जावे ॥ 531 ॥

अर्थः—यह सुनकर सोमश्री अन्य ब्राह्मणियों के साथ नदी पर पानी भरने को गई और वहां पर एक सेठ की पुत्री भी पानी भरने को आई ॥532॥

अर्थ—उस सेठ की पुत्री ने सोम श्री (ब्राह्मणी की बहु) से कहा कि सखी आज मैंने श्रीमज्जिनालय में परम पूज्य जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक महोत्सव प्रारंभ किया है।

अर्थ—ऐसा सुनकर सोमश्री ने हर्ष से कहा कि हे सखी इस अभिषेक का क्या फल है ? सेठ की पुत्री ने कहा कि सखी हे भद्रे अभिषेक का महान दिव्य फल होता है मैं उसको संक्षेप से कहती हूं सो सुन। जो गृहस्थ श्री जिनेन्द्र प्रभु का भाव भक्ति से पंचामृत से अभिषेक करते हैं वे देवों के द्वारा पूजा किये जाते हैं। इसकी विशेष शोभा मैं फिर कहूंगी ॥ 534 से 536 ॥

जिनागारे हि त्वमपि कुंभमेकं जलभृतं । मुंच तवापि पुण्याप्तिः भविष्यत्येव मत्समा ॥ 537 ॥

तस्या वचनमाकर्ण्य ह्येकं कुंभं सुमोदतः । आधाय श्री जिनेन्द्रस्य चागात् स्वस्थानमंजसा ॥ 538 ॥

धृत्वा सा मंदिरे पूज्ये लेखवृंदैश्च खेचरैः । श्री जिनस्याभिषेकाय शिवस्थाने शिवाप्तये ॥ 539 ॥

सापि मृत्वा सुपुण्येन श्रीधराभिधभूपतेः । श्रीदेव्यायां सुता जाता कुंभश्रीरप्सरोपमा ॥ 540 ॥

तत्रैव सापि मोदेन चकार स्नपनं प्रभोः । प्रतिघस्रं च दुग्धाद्यैः पूजनं वसुद्रव्यतः ॥ 541 ॥

अंते समाधिना मृत्वा परमेष्ठिमंत्रतत्परा । सा गता तेन स्वर्गेहि अग्रे यास्यति निर्वृतिं ॥ 542 ॥

भो भव्याः पश्यथ यूंय सत्फलं स्नपनस्यवै । प्रत्यक्षं शर्मकर्तारं कुरुध्वं स्नपनं प्रभोः ॥ 543 ॥

अर्थ—हे सखी तू भी एक पवित्र प्रासुक जल से घड़ा भर कर श्रीजिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिये श्रीजिन मंदिर में जाकर चढ़ा। तुझे भी मेरे समान पुण्य की प्राप्ति होगी।

अर्थ—सेठ की पुत्री के वचनों को श्रवण कर सोमश्री ब्राह्मणी भी विशुद्ध भावों से एक घड़ा प्रासुक पानी का नदी में से बडे हर्ष के साथ भर श्रीजिनेन्द्र भगवान के मंदिर में जाकर श्री वीतराग अरहंत प्रभु पर चढ़ा आई और फिर अपने घर पर गई।

अर्थ—उस ब्राह्मणी सोमश्री ने देव और विद्याधरों से पूजित मोक्ष का स्थान–महामनोहर ऐसे श्री जिनमंदिर में श्री जिनदेव का अभिषेक किया और वह अतिशय हर्ष को प्राप्त हुई ॥ 539 ॥

अर्थ—सोमश्री श्री जिनेन्द्र भगवान का एक कुंभ के जल से अभिषेक करने के फल से मर कर श्रीधर राजा की रानी के कुंभश्री नाम की पुत्री उत्पन्न हुई और उसने वहां भी भगवान का अभिषेक किया। पंचामृत अभिषेक प्रतिदिन किया। आठों द्रव्यों से पूजन की। अंत में समाधि मरण धारण कर पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करती हुई शरीर छोड़ कर स्वर्ग में देव हुई और वहां से चय कर मोक्ष जायगी ॥ 540 से 542 ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! आपने श्रीभगवान् का पंचामृत से अभिषेक करने का फल प्रत्यक्ष ही देखा–सोमश्री को कैसा उत्तम सुख प्राप्त हुआ। इसलिये सर्व सुख की प्राप्ति के लिये नित्य ही जिनेंद्र प्रभू का स्नपन करना चाहिये ॥ 543 ॥

नार्या मर्त्येन येनैव कृतं जिनपदाब्जयो: । लेपने च तयो: वक्ष्ये संबंध चंदनादिभि: ॥ 544 ॥
अस्मिन् खगाचले शुभ्रे खगवारविभूषिते । औदीच्यायां च श्रेण्यांच तस्मिन् रत्नादिसंचये ॥ 545 ॥
पुरे आसीत् धराधीशो मणिशेखरनामभाक् । तस्य वामाऽभवत् साध्वी नाम्ना शुभमती सुधी: ॥ 546 ॥
सम्यक्त्वरत्नभूषाढ्या गुर्वाज्ञापालका शुभा । पत्युर्भक्तिकरा नम्रा प्रभो: पूजनतत्परा ॥ 547 ॥
तस्योदरे सुर: कश्चित् सम्यग्दृष्टि: जिनार्चक: । ह्यवातरच दीप्त्याढ्य: पूर्वपुण्योत्करोदयात् ॥ 548 ॥
तत्प्रभावाच्च तस्या हो दोहलोजनि सुंदर: । अष्टापदगिरीन्द्रस्य यात्रां करोमीति हृदि ॥ 549 ॥
पंचामृतरसैस्तत्र करोमि स्नपनं प्रभो: । तथा काश्मीरकर्पूरगंधसारादिभि: खलु ॥ 550 ॥
जिनपादाब्जयो: लेपं सदा सौरभयुक्तयो: । पूज्ययो: सुरवृंदाद्यैस्तत: पूजां जलादिभि: ॥ 551 ॥
ध्यात्वेति सह भूपेन सा गत्वा तत्र भूधरे । व्योमयानसमारूढा नत्वा तत्र जिनाधिपान् ॥ 552 ॥
पुन: संस्नाप्य सद्भक्त्या दुग्धदध्यादिसद्रसै: । विलेपनं चकार सा सुगंधै: कुंकुमादिभि: ॥ 553 ॥

अर्थ—जो स्त्री पुरुष श्री जिनचरण कमलों पर सुगंधित चंदनादि द्रव्यों से लेप करता है उसके लिये कथा कहता हूं ॥ 544 ॥

अर्थ—इस विजयार्ध पर्वत पर उत्तर दिशा में एक रत्नसंचयपुर नाम का नगर है ॥ 546 ॥

अर्थ—इस रत्नसंचयपुर नगर का राजा मणिशेखर नामका विद्याधर था और उसकी रानी शुभमती थी। यह रानी सम्यग्दृष्टि थी। गुरु की आज्ञा पालने वाली थी। पतिसेवा में तत्पर और जिनेन्द्र भगवान की सेवा में लवलीन थी। पूर्व पुण्योदय से उसके गर्भ में भगवान की पूजा करने वाले सम्यग्दृष्टि एक पुण्यात्मा देव ने अवतार लिया॥ 546 से 548 ॥

अर्थ—उस पुण्यात्मा देव के प्रभाव से शुभमती सती को दोहल हुआ कि कैलाश पर्वत की यात्रा करूं और कैलाश पर जाकर श्रीजिनेंद्र देव का पन्चामृत अभिषेक करू तथा सुगंधित द्रव्य से परम पवित्र प्रभु के चरण कमलों का लेप करू। फिर अष्टद्रव्य से पूजा करू। ऐसा विचार कर वे दम्पती विमान में बैठकर कैलाश को गये और वहां पर प्रभु की दिव्य प्रतिमाओं का पंचामृत रस से अभिषेक किया और कुंकुमादि सुगंधी द्रव्यों से प्रभु के चरण कमलों पर विलेपन किया ॥ 549 से 553 ॥

पञ्चादिज्यां च गानं च स्तवनं तदुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालासौ तस्माच्च स्वपुरं प्रति ॥ 554 ॥
तावत्तद्गह्वरस्थानात् निःसृतो गंधदुस्सहः । जनैः सोदुमशक्योपि दुष्टैर्जातजुगुप्सकैः ॥ 555 ॥
आघ्राय ते च दुर्गंधं तया पृष्टः पतिस्तदा । अस्मिन्नामोदसंयुक्ते वने हि नंदनोपमे ॥ 556 ॥
दुर्गंधः कुत्रतः स्वामिन् आयातो देहदुःखदः । कथय सत्वरं भूप कारणं मम शातंद ॥ 557 ॥
श्रुत्वा इत्याह तां भूराः श्रृणु त्वं प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यतें ध्यानतत्परः ॥ 558 ॥
मलाविलो महाधीरस्तस्य देहस्य योगतः । आगतश्च प्रिये चायं दुर्गंधो नात्र संशयः ॥ 559 ॥
पतेः वाचमिति श्रुत्वा सा गत्वा तस्य सन्निधे । ददर्श तत्तनुं दीप्तं तपसा कृषतां गतम् ॥ 560 ॥
व्याप्तांगं स्वेदमलौघैः ध्यानमग्नं निरंबरं । कायोत्सर्गं स्थितं सौम्यं चिदात्मरससंभृतम् ॥ 561 ॥

अर्थ—फिर उस विद्याधर ने श्रीजिनेन्द्र भगवान की अष्ट द्रव्य से भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवान का गान किया, स्तवन किया और प्रभु के गुणों का स्मरण किया। फिर वहां से (कैलाश से) अपने नगर को आने का विचार किया ॥ 554 ॥

अर्थ:—उसी समय पर्वत की एक गुफा में से अत्यंत दुस्सह दुर्गंध ऐसा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अंग के पालन से रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करने को सर्वथा असमर्थ हो ॥ 555 ॥

अर्थ:—उस दुर्गंध को सूंघते ही शुभमति ने अपने पति विद्याधर से पूछा कि हे स्वामिन्! इस परम सुगंधित नंदन वन के समान महान उत्कृट वन में शरीर को दुःख देने वाली यह दुर्गंध कहां से आई? हे प्रभो! मुझे सुख देने वाला इसका कारण कहिये ॥ 556 ॥

अर्थ:—अपनी धर्मपत्नी शुभमती रानी के ऐसे वचनों को सुनकर विद्याधर ने कहा कि यहां पर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मल से पूर्ण हो रहा है और यह दुस्सह दुर्गंध उसी के शरीर से आ रही है इसमें संदेह नहीं है ॥ 557 से 559 ॥

अर्थ—अपने स्वामी के ऐसे वचनों को सुनकर वह शुभमती रानी शीघ्र ही मुनि समीप गई और परम दैदीप्यमान तप से कृषित शरीर ऐसे दिव्य मुनि को देखा। जिनके शरीर में स्वेद (पसेव) के कारण मल बहुत हो गया था। तो भी ध्यान में लवलीन थे। कायोत्सर्ग स्थिर थे। शांत थे। और अपने चैतन्य परमानंद रस का पान करने में दत्तचित्त थे ॥ 560-561 ॥

ईदृशस्य मुनीन्द्रस्य किंचिद्चकार सा हृदि। तस्मिन् काले जुगुप्सां च दृष्ट्वा सर्वार्थनाशकाम् ॥ 562 ॥
पश्चात्प्रासुकनीरेण प्रक्षाल्य तत्तनुंच सा। चकार लेपनं तस्य कृष्णागुर्वादिजैः रसैः ॥ 563 ॥
मुनिं नत्वा तकौ पश्चात् स्तुत्वा स्वपुरमागतौ। श्रृणु त्वं चान्यवृत्तांतं यआतं तत्र लेपजं ॥ 564 ॥
लेपजातसुगंधेन तदा मत्ता मधुव्रताः । लग्नाश्चागत्य देहस्य मुनेः सहस्रशःप्रमाः ॥ 565 ॥
चैतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमंजसा। आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः धीरभावयुक् ॥ 566 ॥
नात्यजत् आत्मनो ध्यानं तदा घोरोपसर्ग के । वायुना किं नगाधीशः प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ 567 ॥
तदोपसर्गे संजाते स यतिरात्मवेदकः । स्थिरोऽभवत् शिवाकांक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ 568 ॥
मुनेः देहात् पलं सर्वमश्रंति शोणितं तकाः । तथाप्येष मुनिश्चित्ते न चचाल स्वध्यानतः ॥ 569 ॥

अर्थ—ऐसे परमध्यानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वर को देखकर प्रथम तो उस रानी ने अपने मन में समस्त प्रकार के अनर्थों को करने वाली किंचित् जुगुप्सा (ग्लानि) की । फिर तत्काल ही प्रासुक और पवित्र जल से मुनीश्वर के शरीर को प्रक्षालकर अगर तगर आदि सुगंधी द्रव्यों का सुगंधित लेप किया ॥ 562-563 ॥

अर्थ—मुनीश्वर को नमस्कार कर और स्तुति कर वे दंपति (विद्याधर य रानी) अपने नगर में आये। इसके बाद वहां पर दूसरी कथाबनी वह सुनो। उस सुगंधी लेप की सुगंध से मुनीश्वर के शरीर पर हजारों भ्रमर आकर लिपट गये ॥ 564-565 ॥

अर्थ:—वे धीर वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीर को सर्वथा भिन्न-भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचार में लवलीन हो गये ॥ 566 ॥

अर्थ:—यह घोर उपसर्ग आने पर भी मुनिराज ने अपना ध्यान नहीं छोड़ा। सच है कि मेरुपर्वत कहीं वायु से कंपित होता है ? ॥ 567 ॥

अर्थ:— इस प्रकार भ्रमरों का घोर उपसर्ग आने पर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यान से रंच मात्र भी चलायमान नहीं हुए। मेरु के समान अडोल रहे ॥ 568 ॥

अर्थ:—मुनीश्वर के शरीर का सर्व मांस और रक्त भ्रमर (भौंरा) भक्षण करने लगे परन्तु मुनिराज अपने ध्यान से रंच मात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ 569 ॥

एवं पक्षप्रमे घस्रे याते स भार्ययान्वितः । पूर्वोक्तवाययौ तत्र यात्रार्थं खचरेश्वरः ॥ 570 ॥
नो दृष्टः स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति। क्व गतः स मुनिः स्वामिन् अस्माभिः पूजितश्च यः ॥ 571 ॥
सर्वत्रालोकनां चक्रे श्रुत्वा राज्ञ्युदितं वचः । स खगो भ्रमरैर्युक्तं ददृशाग्रे मुनीश्वरम् ॥ 572 ॥
प्रियामाह खगाधीशः पश्य पश्य दयोज्झिते। त्वया भक्त्या कृतो लेपः ह्यत्रानिष्टस्तु जातवान् ॥ 573 ॥
सापि श्रुत्वा पतेः वाचं दृष्ट्वा योगीश्वरं तदा। आत्मनः परमां निंदां चकार खचरप्रिया ॥ 574 ॥
निर्घाटितास्ततः सर्वे तया षट्पदसंचयाः । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ 575 ॥
समाययुः सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमंजसा। कृत्वा पूजां जिनेन्द्रस्य तस्थुः तत्रैव भावतः ॥ 576 ॥

अर्थ:—इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवस पर्यंत रहा। पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाश गिरी की वंदना के लिए पुनः वहां पर आए ॥ 570 ॥

अर्थ—शुभमती रानी ने अपने स्वामी विद्याधर से पूछा कि जिन मुनीश्वर की हमने प्रथम पूजा की थी, लेप किया था सो वे यहां पर दीखते नहीं हैं, कहां पर गए ॥ 571 ॥

अर्थ:—शुभमती रानी के कहने से विद्याधर ने मुनीश्वर को सर्वत्र देखा, तब भ्रमरों से आच्छादित उसी स्थान पर मुनीश्वर को देखा।

अर्थ:—हे वल्लभे हे निष्ठुरे ! देख देख तेने मुनीश्वर को भक्ति से सुगंधी पदार्थों का लेप किया परंतु बिना विचारे हुए कार्य का कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है ।। 573 ॥

अर्थ:—शुभमती रानी ने अपने स्वामी के ऐसे वचनों को सुनकर और मुनीश्वर का घोर उपसर्ग देखकर अपनी घोर निंदा की ॥ 574 ॥

अर्थ:—शुभमती रानी ने उन समस्त भ्रमरों को दूर किया। उपसर्ग के निवारण होते ही ध्यान के प्रभाव से चार घातिया कर्मों का नाश हुआ और मुनीश्वर को केवलज्ञान प्रकट हुआ ॥ 575 ॥

अर्थ—उसी समय मुनिराज के केवलज्ञान की पूजा करने के लिये देवगण आये और भगवान् की पूजा कर वहां पर धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये ठहरे ॥ 576 ॥

सप्रियः सोपि तं नत्वा स्तुत्वा तद्गुणजैः गुणैः । स्वस्य पापविनाशार्थं तदग्रे चाहतुश्च तौ ॥ 577 ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश सर्वपापविभंजक । ते नमोस्तु महावीर हतस्य नश्च दुःकृतम् ॥ 578 ॥
अस्माभिर्भक्तिबुद्धया च विलेपनं दयापते । यत्कृतं भवतां जातमुपसर्गकरं च तत् ॥ 579 ॥
सन्निधेरात्मनस्तस्य दंपती तौ पुनः पुनः । कृत्वा निंदां गतौ स्वस्य पुरे तद्वैणचिंतकौ ॥ 580 ॥
पुण्योदयाच्च सा लेभे सुतं कल्याणसंज्ञकम् । पश्चाद्दीक्षां गृहीत्वा च भर्त्रा साकं गता दिवि ॥ 581 ॥
तस्माच्च्युत्वा सुरी सापि ह्यस्मिन् रजतपर्वते । वैजयंतपुरे जातः पुष्पदंताभिधो नृपः ॥ 582 ॥
सुभद्रा भामिनी तस्य संजाता भद्ररूपभा । तस्याः कुक्षौ समुत्पन्ना सुता च मदनावली ॥ 583 ॥
क्रमतः सा पि संजाता यौवनाढ्या प्रियंवदा । सिंहध्वजेन भूपेन परिणीता स्वयंवरे ॥ 584 ॥

अर्थः—उस विद्याधरने भी अपनी रानी शुभमती के साथ केवली भगवान को नमस्कार कर अपने पापों के नाश के लिये भगवान से पूछा ॥ 577 ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र ! हे पापमर्दक ! हे दयालु, हे केवलज्ञान साम्राज्य नायक ! प्रभो ! आपको बार-बार नमस्कार है। हे प्रभो हमारे अपराधों का नाश कीजिये । हमने आपके शरीर में गंध का लेप भक्तिभावना से लगाया था। परंतु वही लेप आपको उपसर्ग का कारण हो गया। अज्ञानी जीवों में विचार नहीं रहता। हे प्रभो यह अपराध नाश करिये। इस प्रकार अपनी निंदा कर वे दंपती (विद्याधर और शुभमती रानी) अपने नगर को गये ॥ 578 से 580 ॥

अर्थः—भगवान की चंदन की पूजा के पुण्यप्रभाव से शुभमती रानी के कल्याणकुंवर नामका अब पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार पुत्र राज्य आदि के उत्तम सुखों को भोगकर और अंत में श्रीभगवती जिनदीक्षा को अपने पति के साथ स्वीकार कर स्वर्ग में वह रानी देवी हुई ॥ 581 ॥

अर्थः—आयुष्य क्षय होने पर शुभमती रानी का जीव देवी पर्याय को छोड़कर विजयार्द्ध पर्वत पर वैजयंत नगर के राजा पुष्पदंत की सुंदरी रानी सुभद्रा के मदनावली नामकी पुत्री उत्पन्न हुई ॥ 582-583 ॥

अर्थः—वह मदनावली क्रम से यौवन अवस्था को प्राप्त हुई और स्वयंवर में उसका सिंहध्वज राजा के साथ पाणिग्रहण हो गया ॥ 584 ॥

ततश्च तौ गतं कालं न जानंतौ वृषोदयात् । शर्ममग्नौ च सर्वे ते जायंते शर्मसंचयाः ॥ 585 ॥

मुनिनिंदोत्थपापेन तस्या देहे महानभूत् । दुःखसंदायकः क्रूरो दुर्गंधो दुस्सहो अहो ॥ 586 ॥

तस्या दुर्गंधनाशार्थं कृतानेकाश्च भेषजाः । चिकित्सकैस्तथाप्येव नैति वै शांततां च सा ॥ 587 ॥

ततः सापि पुरेबाह्यसद्मनि दुःखपूरिता । वासं चकार तत्रापि रुदंती चेत्यचिंतयत् ॥ 588 ॥

पापिन्याः किं कृतं पापं मया हि पूर्वजन्मनि । इत्येवाचिंतयत् चित्ते यावदास्ते शुचान्विता ॥ 589 ॥

तावदवधिनेत्रेण पूर्वोक्तः खचरेश्वरः । तस्याः पतिः गतः स्वर्गे ज्ञात्वा तस्याः सुदुःखकं ॥ 590 ॥

आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रे सकलं स्वकं । वृत्तांतं पूर्वजं नित्यं कथयामास मोदतः ॥ 591 ॥

अर्थ—मदनावली ने पूर्व पुण्योदय से अपने स्वामी के साथ संपूर्ण सुख को भोगते हुए कितना समय व्यतीत हो गया यह नहीं जाना। सो ठीक ही है, पुण्योदय से सब कुछ होता है ॥ 585 ॥

अर्थ—मदनावली के जीव ने प्रथम शुभमति रानी की पर्याय में मुनि के शरीर के दुर्गंधी को देखकर यत्किंचित् निंदा की थी उस पाप के उदय से उसके शरीर में दुस्सह दुर्गंध उत्पन्न हो गई जिसको नगर निवासी मनुष्य सहन नहीं कर सके। राजा ने इसलिये उस अतिशय प्यारी मदनावली को नगर के बाह्य एक राजमंदिर में रखी और उसका वहां पर सब प्रकार से दुर्गंध दूर करने का प्रयत्न किया परंतु वैद्यों से वह दुर्गंध दूर नहीं हुई। तब मदनावली दुःख से इस प्रकार विचार करने लगी ॥ 586 से 589 ॥

अर्थ—हाय ! हाय ! पापिनी मैंने पूर्वभव में ऐसा कौनसा भयंकर पाप किया होगा कि जिसके फल से यह दारुण दुःख मुझे प्राप्त हुआ। ऐसा विचार मदनावली अपने मन में कर रही थी कि उसी समय पूर्वभव के स्वामी विद्याधर का जीव (जो विद्याधर की पर्याय से स्वर्ग में देव हुआ था) स्वर्ग से मदनावली के पास आया। मदनावली के जीव ने पूर्व भव में मुनिनिंदा की थी और उसके फल से ही यह रोग हो गया है ऐसा मुनिनिंदा करने का समस्त पूर्वभव का वृत्तांत उस देव ने बतलाया ॥ 590-591 ॥

पुन इत्याह त्वं भावात् ससाहानि प्रमाणिच। पंचामृतरसै: शुद्धै: जिनानां स्नपनं कुरु ॥ 592 ॥
तत: काश्मीरकर्पूरगंधसाम्जसद्रसै: । जिनानां शुद्धभावेन पादयो: लेपनं कुरु ॥ 593 ॥
अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शांतता खलु। भविष्यति प्रिये नात्र संदेहमाकुरुष्व भो ॥ 594 ॥
इत्याख्याय सुरो दक्ष: स्वस्थानेच गतस्तत: । तच्छुत्वा सापि तत्सर्वं चकार स्वस्य शांतये ॥ 595 ॥
त्रिकाले सा जिनेन्द्राणाममिषेकं विधानत्त: । चक्रे च पादयोर्लेपं नित्यं सुगंधजै रसै: ॥ 595 ॥
एवंच क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवन्महान् । सुगंधाढ्यश्च सर्वेषां प्रिय: स्नानप्रभावत: ॥ 596 ॥
प्रतिघस्नं तत: सापि चकार घनमोदत: । अभिषकं जिनेंद्राणां पादयो: लेपनं तथा ॥ 597 ॥
काललब्ध्या तत: सापि लात्वा दीक्षां जगन्नुताम् । दुर्धरं च तपस्तेपे कर्मवृंदारिहानये ॥ 598 ॥
अंते संन्यासमादाय विशुद्धमनसा तप:—। प्रभावात् सा निहत्याशु स्त्रीलिगं निंदितं बुधै: ॥ 599 ॥
समाप पंचमें नाके देवत्वं शर्मसंभृते। धर्मत: शिवसंप्राप्ति: का कथा नाकसद्मन: ॥ 600 ॥

अर्थ—उस देवने फिर कहा कि हे मदनावली ! तू सात दिवस पर्यंत भावों से श्री जिनदेव का पंचामृत रस से अभिषेक कर और पवित्र सुगंधित केशर-कर्पूर-चंदन आदि पदार्थों के रस से श्रीजिनदेव के पवित्र चरण कमलों का लेप कर तो ऐसा करने से तेरी यह दुस्सह व्याधि शीघ्र ही शमन हो जायगी। इसमें जरा भी संदेह नहीं। ऐसा कहकर वह देव अपने स्थान को गया और मदनावली ने वह सब विधि समस्त सांगोपांग की ॥ 592-593 ॥

अर्थ:—मदनावली ने अपने रोग की शांति के लिये तीनों काल पंचामृत से श्रीजिनदेव का अभिषेक किया और सुगंधी पदार्थों के रस से प्रभु के पवित्र और सुगंधित चरणों पर लेप किया। इस प्रकार करने से उसकी देह अत्यंत सुगंधित तथा सुंदर हो गई ॥ 594-595 ॥

अर्थ:—तदनंतर वह मदनावली हर्ष के साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेव का पंचामृताभिषेक करने लगी और सुगंधी द्रव्यों से जिनेंद्र चरणों का लेप करने लगी। काललब्धि प्राप्त कर वह मदनावली श्रीभगवती जिनेंद्रदीक्षा को धारण कर दुर्धर तपश्चरण करने लगी। अंत में विशुद्ध भावों से संन्यास धारण कर स्त्रीलिंग को छेद पांचवें स्वर्ग में देव हुई। सच है धर्म से सब कुछ होता है। जब मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है तो स्वर्ग की प्राप्ति में क्या आश्चर्य ॥ 600 ॥

सोमरो दिव्यसौख्यानि प्रभुज्यति स सर्वदा । पूर्वधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घटं च किम् ॥ 601 ॥
तस्माच्च्युत्वा स्वकालांते नरजन्म शुभे कुले। संप्राप्य संयमं धृत्वा सोमरः शिवसिद्धये ॥ 602 ॥
यास्यति कर्मनिर्णाशात् सिद्धस्थानेच्युतोपमे। मुनिः भो मगधाधीश तत्रापि सर्वपूजितम् ॥ 603 ॥
भो भव्याः श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेपनात् । सुखमाप्ताच सा राज्ञी प्रत्यक्षं खलु पश्यथ ॥ 603 ॥
चंदनस्य प्रलेपेन सुखमाप्ता घना जनाः । लेपनीयौ जिनपादौ ह्यतश्चंदनकुंकुमैः ॥ 604 ॥
शुकः कीरी जिनेन्द्रस्य पादाग्र धृतमंजसा। शालिकणं पुनः तौहि गतौ स्वर्गं मनोहरे ॥ 605 ॥
यास्यतः क्रमतो मोक्षे बुधा नित्यं जिनोत्तमम् ।पूजयध्वं वरैः शुद्धैरक्षतैरक्षताप्तये ॥ 606 ॥
पुष्पौघैः कुंदपद्मौघैः विभोः पूजा कृता ह्यतः । लीलावत्यभिधा श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिवासरम् ॥ 607 ॥
दिवि साच गता ह्यग्रे मोक्षं यास्यति निश्चयात्। अतो भव्या जिनेन्द्रांश्च पूजयध्वं सुपुष्पतः ॥ 608 ॥

अर्थ— वह देव स्वर्ग के दिव्य सुखों को प्राप्त हुआ। सो ठीक ही है क्योंकि धर्म के प्रभाव से कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता ॥ 601 ॥

अर्थ:—वह देव स्वर्ग से चयकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर और जिनेन्द्र भगवान की पवित्र दीक्षा को धारण कर मोक्ष को प्राप्त होगा। हे श्रेणिक महाराज यह सब महिमा भगवान पर चंदन चढ़ाने के पुण्य के फल की है। भगवान के चरण कमलों की चंदन से पूजा करने का महान् फल है ॥ 601-602 ॥

अर्थ:— हे भव्य जीवों ! श्रीजिनेंद्र देव के पवित्र चरण कमलों पर चंदन का लेप करने के फल से मदनावली ने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया। भगवान के चरण कमल पर चंदन का प्रलेप करने से बहुत से जीव सुख को प्राप्त हुए हैं इसलिये चंदनसे पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ 603-604 ॥

अर्थ—एक तोता दंपती (तोता के जोड़ा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवान के पवित्र चरण कमलों की अक्षत के कणों से बड़ी भक्तिपूर्वक पूजा की। उसके फल से वे दोनों स्वर्ग को प्राप्त हुए और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होंगे। इसलिये भव्य जीवों को शुद्ध अक्षतों से श्री जिनेन्द्र देव की पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ 605-606 ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान के पवित्र चरण कमलों की कुंद-पम चमेली गुलाब आदि के फूलों से पूजा कर लीलावती नाम की सेठानी ने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रम से मोक्ष को जायगी। इसलिये भव्य जीवों को भगवान जिनेंद्र देव की फूलों से

हालिकाभिधवैश्यो यत्युपदेशात् कृतीति वै। नियमं एकग्रासेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ 609 ॥
सोपि नृपार्चितो जातः तत्फलेन पुनश्च सः। दीक्षां जैनेश्वरीं धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ 610 ॥
सोऽमरः स्वर्गतश्च्युत्वा लप्स्यति मोक्षमक्षयम्। कुर्वंतु सर्वदा भव्या नैवेद्यैः पूजनं प्रभोः ॥ 611 ॥
जिनपादारविंदाग्रे नाशार्थं मोहकर्मणः। यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतनं कृतम् ॥ 612 ॥
धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवांगनापि सा। चाग्रे यास्यति मोक्षं हि अनुक्रमाच्च सा सुरी ॥ 613 ॥
विनयंधरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्ध धीः। धूप पूजा प्रभावेन तुर्यकल्पेऽमरोभवत् ॥ 614 ॥
सोपि यास्यति भो भव्या ह्यनुक्रमात् शिवास्पदं। पूजयध्वं जिनेंद्रं वै धूपव्यूहैः शिवाप्तये ॥ 615 ॥
रूपिणी नामतः ख्याता दरिद्रवणिजात्मजा। केलाम्रादि फलौघं च सा जिनाग्रे फलाप्तये ॥ 616 ॥
धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफलं च मे। कृत्वा प्रतिदिनं चैव मृत्वा समाधिना ततः ॥ 617 ॥
आद्ये स्वर्गेमरो जातश्चाग्रे मोक्षं गमिष्यति। फलेज्याफलतो भव्याः किं न स्यात् शर्मसंततिः ॥ 618 ॥

पूजा नित्य करना चाहिये ॥ 607-608 ॥

अर्थः—एक मुनीश्वर के धर्मोपदेश से हालिक नाम के एक अतिशय दरिद्र वैश्य ने श्रीजिनेंद्र भगवान के पवित्र चरणकमलों के समक्ष एक ग्रास मात्र चढ़ाने का नियम लिया था। उस पुण्य के प्रभाव से उसका उसी पर्याय में समस्त दरिद्रता का दुःख दूर हो गया और राजा से पूजित हुआ। अंत में मरकर वह स्वर्ग में देव हुआ और आगे वह मोक्ष को नियम से प्राप्त होगा। इसलिये भव्य जीवों को भगवान जिनेंद्रदेव की पूजा नैवेद्य से प्रतिदिन करनी चाहिये ॥ 609 से 611 ॥

अर्थः—मोहनीय कर्म का नाश करने के लिये श्रीजिनदेव के समक्ष शुद्ध भावों से दीपकों का उद्योत अवश्य ही करना चाहिये। धूप श्री नाम की कन्या ने दीप की पूजा के फल से स्वर्ग में देवांगना की पर्याय प्राप्त की और क्रम से मोक्ष को भी प्राप्त करेगी ॥ 612-613 ॥

अर्थः—विनयंधर नाम के एक सेठ के पुत्र ने शुद्ध भावों से श्रीजिनेंद्र भगवान की धूप से पूजा की। उसके फल से वह चौथे स्वर्ग में देव हुआ और वहां से चयकर क्रम से मोक्ष को जायगा। इसलिये हे भव्य जीवों धूप से भगवान की पूजा महान फल देने वाली है। इसे प्रतिदिन करो ॥ 614-615 ॥

अर्थ—मोक्षफल की इच्छा से रूपिणी नाम की एक दरिद्र वणिक पुत्री ने केला आम, नारंगी, नीबू आदि उत्तम फलों से

एकैकद्रव्ययोगेन पूजयित्वा जिनाधिपम् । संप्राप्ताः शर्मनिकरं नराश्च बहवो भुवि ॥ 619 ॥

विष्णुभट्टो द्विजश्चैको वसुद्रव्यैर्जिनं मुदा। पूजयित्वा दिवि जाथे संजातो देवराट् खलु ॥ 620 ॥

भेकाद्याः शुद्धभावेन जिनपूजासमानसाः । तेपि स्वर्गं गता भव्या अतः कुर्वंतु तां सदा ॥ 621 ॥

पूजां ये नरसत्तमाः सुविधिना कुर्वंति ते निश्चयात् । इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपन्नगपतेः भूतिं समाप्त्याशु वै ॥

यास्यंत्येव शिवास्पदं मुनिनुतं नाशादिकर्मोज्झितं । मत्वेत्येव बुधोत्तमा जिनपतेः इज्यां कुरुध्वं च भो ॥ 622 ॥

अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नराः । करिष्यंति जिनेन्द्राणां पूजां नैव मदोद्धताः ॥ 623 ॥

तस्मिन् तदुद्भवाः क्रूराः सुबोधलववर्जिताः । वचनोत्थापकाः स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात् ॥ 624 ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा की उसके फल से वह मर कर स्वर्ग में देव हुई और फिर वहां से चयकर मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होगी। फलों की पूजा से भव्यजीवों को समस्त प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं॥ 616 से 618 ॥

अर्थ—एक-एक द्रव्य से ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देव की पूजा करने वाले बहुत से भव्य जीव उत्तम सुख को प्राप्त हुए हैं ॥ 619 ॥

अर्थ—विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मण ने श्रीजिनेन्द्र देव की आठ द्रव्यों से पूजा की थी उसके फल से वह इन्द्रपद को प्राप्त हुआ था ॥ 620 ॥

अर्थ—मेंढक आदि क्षुद्र पर्याय के धारक जीवों ने भावों की विशुद्धि से श्रीजिनदेव की पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पद की प्राप्ति की। इसलिये भगवान जिनेंन्द्र देव की पूजा सदा करते रहना चाहिये ।। 621 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भव्य भावों से विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्र भगवान की पूजा करते हैं वे निश्चय से इन्द्र धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूति को प्राप्त होते हैं। वे भव्य जीव मुनियों से पूज्य और समस्त प्रकार के कर्मों से रहित ऐसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इसलिये भव्य जीवों को भगवान की नित्य पूजन करनी चाहिये ॥ 622 ॥

अर्थ—हे राजन् ! शास्त्रों की उपर्युक्त विधि से जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं करते हैं वे मदोद्धत उसी भव में क्रूर और हठग्राही बन जाते हैं उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है। जो आगम के वचनों का उत्थापन करता है उसका क्या हाल नहीं होता ॥ 623-624 ॥

पूजन द्रव्य और उपकरणादि

पूजक को चाहिये कि पहले स्नान करे, शुद्ध और धुला धोती दुपट्टा पहिने, पूजाद्रव्य लेकर ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक घर से जिनमन्दिर आवे इत्यादि बातें पहले कही हैं। अब पूजन को द्रव्य बनाने की विधि व निषेधरूप क्रिया बतलाते हैं।

पूजन के उपकरण

उच्चासन (चौकी बाजौटा वगैरह) मेरु, पीठ, अभिषेक की द्रव्य, जल-फलादि रखने के बर्तन, कल्कचूर्ण और सर्वौषधि आदि को जितने आवश्यक हों उतने बर्तन। जल भरने के लिये एक घड़ा। पाँच कलशों में चतुष्कोण को चार छोटे और बीच को एक बड़ा तथा छटवें कलश के लिये एक इस प्रकार छह कलश। अर्पित (चढ़ाई हुई) द्रव्य रखने के लिये एक थाली। जलधारा छोड़ने के लिये एक बर्तन।

अष्टविधार्चन द्रव्य अक्षत (चावल) आदि रखने के लिये एक थाली। इस थाली को ढांकने के लिये एक वस्त्र। जलधारा के लिये एक भृङ्गार (झारी), अष्टगन्ध के साथ पिसा हुआ गाढ़ा चन्दन (गन्ध) रखने के लिये एक कटोरी। पूजा द्रव्य (जल, फल आदि) चढ़ाने के लिये एक रकाबी। रकाबी आदि पोंछने के लिये एक छोटा सा वस्त्र।

दीपक के लिये एक आरती। आरती पर एक ढक्कन। धूप जलाने के लिये एक धूपपात्र (धूपदानी)। जिनमन्दिर में प्रवेश करते समय अपने पैरों को धोने के लिये घर से जल लाने का एक लोटा। इनके सिवाय मण्डप, चँदवा आदि जो कुछ विशेष आवश्यक हो वह वस्तु प्रथम ही संगृहीत कर लेना चाहिये।

पूजन की द्रव्य

(अ) पंचामृताभिषेक का द्रव्य—जल, तरुरस, (इक्षुरस-आमरस आदि) गोरस तीन (दूध, दही, घी)। ये पिछले पांच पंचामृत कहलाते हैं।

(ब) अष्टविधार्चन द्रव्य

(1) जल—स्वच्छ, सुगन्धित और प्रासुक होना चाहिये। जल में जल से 60 वें भाग प्रमाण इलायची, कपूर या लवंग पीसकर मिला देने से उसमें सुगन्ध आ जाती है और वह जल प्रासुक हो जाता है। गरम किया हुआ जल भी प्रासुक होता है।

(2) चन्दन—अष्टगन्ध के साथ पिसा हुआ गाढ़ा चन्दन (गन्ध)। इसको एक कटोरी में रखना चाहिये और इसमें पानी नहीं मिलाना चाहिये।

(3) अक्षत—धुले हुए सफेद चावलों को अक्षत कहते हैं। पूजा में यथासाध्य अखण्ड (साबुत) चावलों को ही उपयोग में लाना चाहिये।

(4) पुष्प—यत्नाचार पूर्वक तोड़े गये, ताजे, शुद्ध और प्रासुक जल से कई बार भलीभांति धोये हुये गुलाब, चम्पा, चमेली, कमल, बकुल मालती आदि अनेक सुगन्धित फूल। प्रयत्न करने पर भी यदि उक्त प्रकार फूलों की उपलब्धि न हो सके तो केशर से रंगकर पीले किये गये चावलों को या लवंग में पुष्पों की कल्पना करके चढ़ावे। परन्तु ऐसी कल्पना सदा के लिये नहीं होना चाहिये।

(5) चरु (नैवेद्य)—दाल, रोटी, खीर आदि अन्न और फेनी, घेवर, बरफी, पेड़ा, लड्डू आदि मिठाई। ये सब पकवान्न नैवेद्य कहलाते हैं। ये ताजे और दिगम्बर मुनि के आहार योग्य शुद्ध बनाकर चढ़ाना चाहिये। वर्तमान में लोगों ने शुद्ध खान-पान की पृथा छोड़ दी है। इसलिये गरी (नारियल-गोला) के छोटे टुकड़ों को या अशुद्ध अन्न और पकवान को नैवेद्य में चढ़ाकर सन्तोष कर लेते हैं। यह प्रमाद का प्रभाव है। नैवेद्य में शुद्ध (मुनिराज के आहार योग्य) अनेक अन्न या पकवान चढ़ाना ही योग्य है।

(6) दीप—दीपपात्र (आरती) में शुद्ध घी भरकर रुई की बत्ती जलाकर दीप बनाना चाहिये। दीप चढ़ाते समय असली कपूर भी जलाकर चढ़ा सकते हैं। आजकल कोई-कोई लोग देखादेखी गरी के टुकड़े केशर से रंग कर पीले करके उनमें दीपक की कल्पना करके चढ़ाते हैं। परन्तु यह विधि शास्त्र सम्मत नहीं है। क्योंकि इस प्रकार दीप बनाने की विधि का किसी भी शास्त्र में प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये शास्त्र सम्मत दीपक उपरोक्त प्रकार ही बनाना चाहिये। डालडा मिश्रित घी को आरती या पकवान्न के काम में नहीं लाना चाहिये।

सूचना—पूजक को स्नात अवस्था में दियासलाई की डिब्बी (पेटी-माचिस) नहीं छूना चाहिये। क्योंकि उस पेटी पर जो कागज चिपका रहता है वह अपवित्र वस्तु (सरेस) से चिपका होता है। इसलिये इस अशुद्धता से बचना चाहिये।

(7) धूप—लूमीमस्तंगी, छाड़-छबीला, कपूर, चंदन, अगर, तगर आदि सुगन्धित चीजें शोध बीनकर कूटकर बनी हुई अष्टाङ्ग धूप। इस प्रकार अष्टाङ्ग धूप की सुलभता न हो तो बढ़िया सुगन्धित मलयागिर चन्दन का तुरन्त का तैयार किया गया महीना धूर्ण (बुरादा) भी अग्नि में खेकर धूप का काम लिया जा सकता है। धूप अग्नि में ही चढ़ाना चाहिये। जिससे जिनालय में सर्वत्र सुगन्ध फैल जाय।

(8) फल—सेव, संतरा, पिस्ता, केला, अनार, आम, मौसम्बी आदि पके वा ताजे फल। या श्रीफल (नारियल) छुहारा, बादाम, सुपारी आदि सूखे फल। ये फल यथेच्छ और यथाशक्ति चढ़ाये जा सकते हैं।

(9) अर्घ्य—जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, चरु (नैवेद्य), दीप, धूप और फल इन आठों द्रव्यों का मिश्रण अर्घ्य कहलाता है। लिखा भी है कि—

जलेन चन्दनेन सदक्षतैश्च, पुष्पेण शास्त्वन्नचरूत्कटेन।
दीपेन धूपेन फलेन भक्त्या, सुरासुरार्च्यं जिनमर्चयामि ॥

अष्टविधार्चने।

सूचना—"आठों द्रव्यों को एक साथ चढ़ाया जाय" इसका मतलब यह नहीं है कि-अक्षत, पुष्प या पीले चांवल (कल्पित पुष्प), बनावटी नैवेद्य व द्वीप (गरी के टुकड़े), एक दो बिन्दट प्रमाण धूप तथा बादाम आदि दो चार फल ये सब परस्पर मिलाकर उसमें दो चार बूंद पानी और दो चार बूंद गन्धमिश्रित जल छिटक कर थाली में रख देवें। और उसी को अर्घ्य द्रव्य मानकर उसमें से अपनी अङ्गुलियों से जितना हाथ में आ जाय उतना द्रव्य उठाकर अङ्गुलियों से या हथेली से चढ़ा देवें। (अर्घ्यद्रव्य चढ़ाने का मतलब यह नहीं है।) किन्तु अर्घ्य चढ़ाते समय वह ध्यान रखना आवश्यक है कि एक-एक द्रव्य का नाम लेते हुये आठों द्रव्य एक रकाबी में रखकर रकाबी से ही द्रव्य चढ़ाना चाहिये। अङ्गुलियों से या हाथ की हथेली में रखकर अर्घ्य कदापि नहीं चढ़ाना चाहिये।

जैनत्व और जैनपूजा का अधिकारी

अपने में जैनत्व की मान्यता और जिन भगवान की पूजा हेतु कम से कम इतना अवश्य होना चाहिये। 1-4 मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों के खाने का त्याग। 5 प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव का दर्शन। 6 जीवदया (संकल्पी हिंसा का त्याग) 7-रात्रि भोजन त्याग (अन्न से बनी वस्तुओं का रात्रि में नहीं खाना)। 8-पानी छानकर पीना। इस प्रकार आठ मूलगुणों का धारी और सप्त व्यसनों का त्यागी ही जैन कहला सकता है।

ऐसा जैन ही जिनप्रतिमा के स्पर्श और पूजन का अधिकारी होता है। पूजक के उरोलिङ्ग (वृक्षस्थल पर यज्ञोपवीत) शिरोलिङ्ग (शिर पर चोटी) और कटिलिङ्ग (कमर में करधनी) ये बाह्य चिन्ह भी होना आवश्यक हैं। इसलिये पूजा करने वाले को यज्ञोपवीत, चोटी और करधनी रखने का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। इनके बिना भी पूजक को पूजा करने का अधिकार नहीं।

जिनपूजा के प्रकार

(1) छह प्रकार की जिनसेवा—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, स्नपन और पूजन इस प्रकार छह प्रकार की जिनसेवा होती है। ओंकार शब्दोच्चारणपूर्वक पुष्पांज्जलि क्षेपण करने को प्रस्तावना सेवा कहते हैं। पंचकुमारादि से लेकर षोड़शाभरणपर्यन्त विधि को पुराकर्म सेवा कहते हैं।

कलशस्थापनादि से लेकर श्रीजिनप्रतिमा स्थापनापर्यंत विधि करने को स्थापना सेवा कहते हैं। आह्वाननादि से लेकर अष्टविधार्चन पर्यन्त विधि करने को सन्निधापन सेवा कहते हैं।

दिक्पालों के आह्वाननादि से लेकर गन्धोदक अभिषेक पर्यन्त विधि करने को स्नपन सेवा कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु आदिकों की पूजाविधि करने को पूजन सेवा कहते हैं। पीठयन्त्रार्चनादि बड़े-बड़े विधान करने को भी पूजन-सेवा कहते हैं।

(2) जिनपूजा के छह निक्षेप—भव्यजीव देव-शास्त्र गुरु आदि की पूजा अपने अपने समय पर विधिपूर्वक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन छह निक्षेपों से करते हैं। (देखो 'श्री वसुनन्दीश्रावकाचार' पद्य 382 से 385)। अर्थात् नामादि छह जिनपूजा के निक्षेप हैं।

नामपूजा—अरिहन्तादि पूज्य परमेष्ठियों का नाम लेकर किसी पवित्र क्षेत्र में जलादिद्रव्यों का चढ़ाना नामपूजा कहलाती है।

भावार्थ—जिसका नाम लेकर जलादि द्रव्य चढ़ावे उसी की नामपूजा की गई- ऐसा समझना चाहिये।

स्थापनापूजा—इसके दो भेद हैं। पहला भेद सद्भाव स्थापना, तदाकारस्थापना अथवा साकारस्थापना कहा जाता है। और दूसरा भेद असद्भावस्थापना या अतदाकार स्थापना माना जाता है। इस प्रकार स्थापना के दो भेद हैं।

सोना, चांदी, पीतल आदि धातुओं के अथवा पाषाण आदि के बने हुए साकार (उसी आकार के) पदार्थों में यह वही है ऐसा आरोपण करना तदाकार स्थापना है। जैसे अरिहन्तदेव की प्रतिमा बनाकर उसमें शास्त्रोक्त पंचकल्याणक विधि से प्रतिष्ठा कर विधिपूर्वक अरिहन्तदेव के गुणों का आरोपण करना। और उस प्रतिमा को अरिहन्त मानकर पूजना तदाकार, साकार अथवा सद्भावस्थापना पूजा है।

अक्षत आदि द्रव्यों में 'ये अरिहन्तपरमेष्ठी हैं' इस प्रकार मन्त्रपूर्वक स्थापना करना। अथवा

'अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्'। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्' इत्यादि मन्त्रों से अक्षत या पुष्पों में अरिहन्त आदिक की स्थापना करना और उनकी अष्टद्रव्य से पूजा करना असद्भाव अथवा अतदाकार स्थापना निक्षेप है।

पूजा में जो आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरण क्रिया की जाती है वह स्थापनानिक्षेप नहीं है। क्योंकि स्थापनानिक्षेप में 'यह वही है' ऐसा संकल्प किया जाता है। परन्तु आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरण में 'यह वही है' ऐसा संकल्प नहीं होता। वह आह्वानादि तो एक आदर-सत्कार की विशेषरीति है। यदि यह विधि नहीं की जाय तो पूजा में कमी समझी जाती है। इसीलिए आह्वान और स्थापना आदि को पूजा के अङ्गों में गिनाया है।

पूजा के पांच अङ्ग बतलाये गये हैं। आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजा और विसर्जन। पूजा, अभिषेक पूर्वक होती है। इसलिए अभिषेक को मिलाकर पूजा के छह अङ्ग हो जाते हैं। ये सब भेद 'यशस्तिलकचम्पू' ग्रन्थ में लिखे गये हैं।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जो तीर्थङ्कर केवली भगवान् साक्षात् समवसरण में विराजमान हैं, उनकी पूजा करना तदाकारपूजा है। तथा उनकी प्रतिमा की पूजा करना अतदाकार पूजा है। क्योंकि तीर्थङ्कर की प्रतिमा में पूजा की यथोक्तविधि नहीं हो सकती।

भावार्थ—शरीर की ऊँचाई, शरीर का वर्ण आदि और भी अनेक प्रकार के चिन्ह प्रतिमा में यथोक्तरीति के अनुसार नहीं होते। तीर्थङ्कर के स्वरूप से विपरीतरूप दिखाई पड़ता है। इसलिये प्रतिमा तदाकार नहीं है, किन्तु अतदाकार है। और उस प्रतिमा की पूजा भी अतदाकार पूजा है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उनकी वह सब मान्यता शास्त्र विरुद्ध है। वह बात ऊपर जो स्थापना के भेद बतलाये गये हैं, उनसे स्पष्ट सिद्ध होती है।

द्रव्यपूजा—समवसरण में साक्षात् केवलज्ञान से सुशोभित अरिहन्त भगवान विराजमान होते हैं। उनकी जल आदिक आठों द्रव्यों से पूजा करना द्रव्यपूजा है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह द्रव्य हैं। इन सब द्रव्यों में सारभूत द्रव्य परमात्मद्रव्य है। उस परमात्मा की अष्टद्रव्य से पूजा करना द्रव्यपूजा है।

साक्षात् जिनेन्द्रदेव की अथवा साक्षात् आचार्य, उपाध्याय या साधुओं की जलादि अष्टद्रव्य से यथायोग्य रीति से पूजा करना सचित्तद्रव्यपूजा है। अर्थात् चैतन्यगुणविशिष्ट परमेष्ठी आदिक की पूजा करना 'सचित्तद्रव्यपूजा' है।

मोक्ष होने के बाद तीर्थङ्कर, आचार्य, उपाध्याय और दिगम्बर साधु के शरीर की अथवा उनके वचनों की (शास्त्रों की) जल आदिक से पूजा करना 'अचित्तद्रव्यपूजा' है। क्योंकि उनका वह शरीर अथवा वचन चेतनारहित है।

शास्त्रसहित गुरु की पूजा सचित्ताचित्त (मिश्र) 'द्रव्यपूजा' है। यहां शास्त्र तो अचित्त है और साक्षात् गुरु सचित्त हैं। इन दोनों की समुच्चयपूजा करना 'मिश्रपूजा' है।

क्षेत्रपूजा—जहां पर तीर्थङ्करों के जन्म, तप, ज्ञान या निर्वाण कल्याणक हुए हैं या किसी दिगम्बर मुनि का निर्वाण हुआ है। वहां जाकर उस भूमि की जल गन्ध आदिक से पूजा करना 'क्षेत्रपूजा' है।

भावार्थ-तीर्थङ्करों ने अयोध्या आदि नगरों में जहां जहां जन्म लिया है, जिन जिन तपोवनों में दीक्षाधारण की है, जहां जहां केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है तथा कैलाश, सम्मेदशिखर, गिरनार, चम्पापुर वा पावापुर आदि जिन-जिन स्थानों से मोक्ष प्राप्त किया है अथवा जहां से कोई दिगम्बर मुनि मोक्ष पधारे हैं उन उन स्थानों वा क्षेत्रों में जाकर वा परोक्ष में स्वस्थान में उनकी जल जलादि से पूजा करना 'क्षेत्रपूजा' है।

कालपूजा—चौबीस तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष कल्याणक जिन जिन महिनों में, जिन जिन पक्षों में व जिन जिन दिनों में हुए हैं, उन्हीं दिनों से उमर लिखी विधिपूर्वक जल गन्धादिक से पूजा प्रभावना करना तथा उसी काल में इक्षुरस, घी, दूध, दही और सुगन्धित जल से भरे हुए अनेक प्रकार के पवित्र कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक वा महाभिषेक करना, रात्रि में जागरण करना, सङ्गीतशास्त्रों के नियमानुसार नाटक आदि करना, गाना-स्तुति करना 'कालपूजा' है। तथा नन्दीश्वरपर्व (अष्टान्हिकापर्व) के आठों दिनों में तथा व्रतों के दिनों में भगवान् जिनेन्द्रदेव की महिमा को प्रगट करना 'कालपूजा' है। भावार्थ-यह कालपूजा उसी नियतकाल में होती है, अन्य काल में नहीं।

भावपूजा—अरिहन्तदेव के अनन्तज्ञान आदि अनन्तचतुष्टयों का वर्णन करना, भक्तिपूर्वक उनकी त्रिकालवन्दना करना अर्थात् भक्तिपूर्वक सामायिक करना 'भावपूजा' है। अथवा पंचणमोकार मन्त्र का उच्चारण कर जप करना, अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् जिनेन्द्रदेव का स्तोत्र पढ़ना 'भावपूजा' है। अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ वा रूपातीत के भेद से चार प्रकार का धर्मध्यान करना 'भावपूजा' है।

पूर्व–वर्णित असद्भाव अथवा अतदाकार स्थापना कालदोष के कारण इस हुण्डावसर्पिणी काल में (पञ्चमकाल में) नहीं करना चाहिये, ऐसी आचार्यों की आज्ञा है। इसका कारण यह भी है कि वर्तमान में इस लोक में अनेक कुलिङ्गी (मिथ्यादृष्टि) साधु भी ऐसा करने लगे हैं। उसमें मोहित होकर मनुष्य भ्रम में पड़ सकते हैं। इसलिये अतदाकार स्थापना की पूजा इस काल में नहीं करना चाहिये, ऐसा वसुनन्दीश्रावकाचार पद्य 385 में लिखा है कि-

हुंडावसप्पिणीए, विइया ठवणा ण होइ कायव्वा।
लोए कुलिंगमइमोहिवे, जदो होइसंदेहो ॥

अन्यमती लोग बिना मूर्ति के ही मन्दिर में, क्षेत्र में, घर वा वन में सुपारी, नारियल आदि रखकर उसमें मन्त्रों द्वारा किसी देव का सङ्कल्प कर जल गन्धादिक से उसकी पूजा व विसर्जन आदि करते हैं। इस प्रकार पूजा-विसर्जन आदि करने का जिनागम में निषेध है।

जिन मन्दिरों में अरिहन्त आदि का जो आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण आदि प्रतिमा के सामने किया जाता है, वह परम्परा से चला आ रहा है, उसका निषेध यहां पर नहीं किया गया है। इसलिये अपने घर आदि में बिना मूर्ति के अतदाकार स्थापना कर पूजा नहीं करना चाहिये। उमर की टिप्पणी में आह्वान स्थापना आदि को जो पूजा का अङ्ग बतलाया गया है, वह इससे भी सिद्ध हो जाता है। वह स्थापना निक्षेप नहीं है, किन्तु पूजा का अङ्ग है।

श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा की छह क्रियाएँ

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं, जपो ध्यानं श्रुतिश्रवम् ।
क्रियाः षडुदिताः सद्भिः, देवसेवासु जैहिनाम् ॥ यशस्तिलक।

अर्थात् जिनपूजा में अभिषेक, पूजा, स्तोत्र, जप, ध्यान और स्वाध्याय ये छह क्रियाएँ बतलाई गई हैं।

पहली अभिषेकक्रिया–सबसे पहले जलादिक पंचामृत से (जल, तरुरस (इक्षुरस, आम्ररस), गोरस तीन (दूध, दही, घी) ये पांच रस) भगवान अरिहन्तदेव का स्नपन वा अभिषेक विधिपूर्वक करना 'पंचामृताभिषेक क्रिया' कहलाती है।

दूसरी पूजाक्रिया—अभिषेक के बाद विधि के अनुसार पंचोपचारी पूजा करना 'पूजाक्रिया' कहलाती है।

तीसरी स्तोत्रक्रिया—पूजा के बाद उनका स्तोत्र पाठ करना 'स्तोत्रक्रिया' कहलाती है।

चौथी जपक्रिया—स्तुति के बाद उनके वाचक मन्त्रों के द्वारा एक सौ आठ बार जप करना 'जपक्रिया' कहलाती है।

पांचवीं ध्यानक्रिया—जप करने के बाद कायोत्सर्ग धारण कर उन अरिहन्त आदिक का ध्यान करना 'ध्यानक्रिया' कहलाती है।

छटवीं स्वाध्यायक्रिया—ध्यान के बाद जिनागम का स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश) करना 'स्वाध्यायक्रिया' कहलाती है।

इसी प्रकार पूर्वाचार्यों ने देवसेवा (देवपूजा) करने के लिये गृहस्थों को छह क्रियाओं के करने का उपदेश दिया है।

पंचामृताभिषेक

जलं तरुरसश्चैव, गोरस-त्रितयं तथा। पञ्चामृतमिति प्राहुः, पूजाशास्त्रविशारदाः ॥ १ ॥

अर्थः—जल, तरुरस (इक्षुरस, आम्ररस आदि) गोरस तीन (दूध, दही, घी) ये पांच रस पंचामृत कहलाते हैं। इनसे विधिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करना, 'पंचामृताभिषेक' कहलाता है।

दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधि इन पांचों को भी 'पंचामृत' कहते हैं। तरुरसों में इक्षुरस-नालिकेर (नारियल) रस, आम्ररस आदि अनेक फलों के रसों का समावेश होता है। यह रस स्नपन शास्त्रों और लौकिक व्यवहार में पंचामृत अभिषेक के नाम से प्रसिद्ध है।

पंचामृताभिषेक का मुख्य उद्देश्य द्रव द्रव्यों से भगवान् का अभिषेक करके जिनबिम्बों का रक्षण करना है। तरुरसरूप गुड़, शर्करा, चना और मूंग की दाल, खसखस, केला, खजूर, दाख इत्यादिकों का छायाभिषेक (इन पदार्थों को भगवान के ऊपर से उतार देना) करने की पद्धति शास्त्र-सम्मत नहीं है। तो भी भक्तिप्रेरित भक्त लोगों का यह एक लौकिक व्यवहार चला आ रहा है।

परन्तु इसमें इतना परिवर्तन होना आवश्यक है कि वर्तमान में जो गुड़ शर्करादिकों का छायाभिषेक होता है उसके बदले में उन्हीं पदार्थों का जलादिकों की सहायता से अलग-अलग रस बना बनाकर उस रस से अभिषेक किया जाय। यदि ऐसा हो जाय तो यही लौकिक व्यवहार (छायाभिषेक) शास्त्रोक्त वास्तविक तरुरसाभिषेक कहा जाय।

(अ) पंचामृताभिषेक के कुछ शास्त्रीय प्रमाण

कोई-कोई लोग कहते हैं कि पंचामृताभिषेक आर्षोक्त मार्ग नहीं है। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के बनाये हुए ग्रन्थों में गृहस्थ धर्म नामक प्रकरण में पंचामृताभिषेक का विधान नहीं है और तत्त्वार्थसूत्र में भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख नहीं है इत्यादि। परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि वर्णनीय विषयों की मुख्यता और गौणता की अपेक्षा इन ग्रन्थों में यह विषय नहीं भी आया हो तो भी कुछ बाधा नहीं। पंचामृताभिषेक के लिये बहुत से प्रमाण ग्रन्थ हैं। नित्यपूजा अभिषेकपूर्वक ही होती है, इसलिए अभिषेक और पंचोपचारी पूजा मिलकर पूजा के छह अङ्ग हो जाते हैं। ये सब भेद-प्रभेद यशस्तिलकचम्पू में लिखे हैं। निम्न जैनाचार्यों की परम्परा में पंचामृताभिषेक मान्य है।

प्रमाण-ग्रन्थ	आचार्यों का नाम
1. नेमिचन्द्रप्रतिष्ठा तिलक	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
2. पद्मपुराण	रविषेणाचार्य
3. आदिपुराण (पूर्वपुराण)	भगवज्जिनसेनाचार्य
4. हरिवंशपुराण	भगवज्जिनसेनाचार्य
5. वसुनन्दिश्रावकाचार	वसुनन्दी आचार्य
6. कषायपाहुड़ (जयधवला)	वीरसेनाचार्य
7. षट्कर्मीय देशनाला	शिवकोटि आचार्य
8. अकलङ्कप्रतिष्ठातिलक	अकलङ्काचार्य
9. कुन्दकुन्दश्रावकाचार	कुन्दकुन्दाचार्य
10. अभयनन्दि अभिषेकपाठ	अभयनन्दी आचार्य
11. पद्मनन्दिपंचविंशतिका	पद्मनन्दी आचार्य
12. दानशासन	सोमसेन आचार्य
13. नीतिसार	इन्द्रनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती

इस पंचामृताभिषेक के विषय में इनके सिवाय और भी कई प्रमाण हैं। योगीन्द्रदेव कृत श्रावकाचार में भी लिखा है कि-

जो जिणु णहाइ, घयपयहिं सुरहि णहाविउ सोई । सो पावई जो जंकरई, पहुप सिद्धउ लोए ॥

सोमदेवकृत यशस्तिलकचम्पू के अष्टमोछ्वास में लिखा है कि-

द्राक्षारम्भूर्रचोचेक्ष-प्राचीनामलकोद्भवैः । राजादनाम्रपूजोत्थैः, स्नापयामि जिनं रसैः ॥

पंचोपचारी पूजा

आह्वाननं स्थापनं च सन्निधीकरणं तथा । पूजा विसर्जनं चेति, उपचारास्तु पञ्चधा ॥ १ ॥

अर्थात्—आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन ये पांच जिनेन्द्र भगवान की पूजा के उपचार या अङ्ग कहलाते हैं।

(1) आह्वानन—अरिहन्तदेव आदि की पूजा के समय ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं हे अर्हत्परमेष्ठिन ! अत्र एहि एहि सम्वौषट् नामेऽर्हते स्वाहा। यह मन्त्र पढ़कर आकर्षिणीमुद्रा से तथा दण्डासन से (खड़े होकर) जल, चन्दन, पुष्प व अक्षतों के द्वारा उनका आह्वानन करना, आह्वानन नाम का पहला उपचार है।

(2) स्थापन—ओं ह्रीं. अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः नामेऽर्हते स्वाहा। यह मन्त्र पढ़कर स्थापिनी (आकर्षिणी) मुद्रापूर्वक कायोत्सर्ग आसन से पुष्पाक्षतों के द्वारा उन पूज्य अरिहन्तादि का स्थापना करना स्थापन नाम का दूसरा उपचार है।

(3) सन्निधीकरण—ओं ह्रीं अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् नमोऽर्हते स्वाहा। इस मन्त्र से सन्निधि (ऊर्ध्व) मुद्रा रखकर दण्डासन से पुष्पाक्षतों के द्वारा उन पूज्य अरिहन्तादिकों को अपने समीपस्थ करना, सन्निधीकरण नाम का तीसरा उपचार है।

(4) पूजा—आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण के बाद मन्त्र आदि उच्चारणपूर्वक उन पूज्य अरिहन्तादि को जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु (नैवेद्य), दीप, धूप, फल और अर्घ्य आदि चढ़ाना चौथा पूजा नाम का उपचार ।

(5) विसर्जन—पूजा के स्तुति, जप, वन्दना आदि करके मन्त्र पढ़कर पुष्प, अक्षत आदि क्षेपण कर अरिहन्तादि का ज: ज: ज: इत्यादि मन्त्र से विसर्जन करना विसर्जन नाम का पाँचवां उपचार है। विसर्जन करते समय यह कहा जाता है कि ओं ह्रीं अर्हत्परमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ गच्छ ज: ज: ज:। विसर्जनम।

इस प्रकार पंचोपचारीपूजा का स्वरूप पूजासार, प्रतिष्ठापाठ, जिनसंहिता आदि अनेक पूजापाठों में लिखा है। इसलिये शास्त्र और गुरु आदि की पूजा भी इसी रीति से समझना चाहिये। अर्थात् इनकी पूजा भी पंचोपचारी करना चाहिये।

इन पांचों उपचारों में जो सम्वौषट्, ठ: ठ:, वषट् और ज: ज: ज: आदि शब्द हैं, वे बीजाक्षर हैं। आह्वान, सम्वौषट्, स्थापना में ठ: ठ:, सन्निधीकरण में वषट् और विसर्जन में ज: ज: ज: शब्द आते हैं।

अष्टविधार्चनादि पूजा के प्रकार

जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्यों से पूजन करना आठ प्रकार की जिनपूजा है। इनमें अर्घ्य, शान्तिधारा व पुष्पान्जलि मिला देने से 11 प्रकार की पूजा कही जाती है। अथवा आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण और अष्टविधार्चन मिलकर 11 प्रकार की पूजा होती है।

श्रीजिनपूजन के और भी अनेक प्रकार कहे गये हैं। नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पवृक्षमह, अष्टाह्निकमह, इन्द्रध्वज अथवा महामह, सर्वतोभद्र, रथावर्त, इन्द्रकेतु, महिमा, नन्दीश्वर, अष्टविधार्चन आदि पूजा के अनेक प्रकार होते हैं।

जिनमन्दिर प्रतिष्ठा-पूजादिकों का फल

कुन्थुभरीदलमात्रां, जिनभवने यः स्थापयति जिनप्रतिमाम् ।
सर्षपमात्रामपि सभते, स नरस्तीर्थंकरं पुण्यम् ॥ 481 ॥ वसु श्रा.

अर्थात्—जो कोई गृहस्थ धनियां की पत्ती (समार) बराबर भी जिनमन्दिर बनवाकर उसमें एक राई प्रमाण छोटा भी जिनबिम्ब स्थापित करता है उसको तीर्थङ्कर पदप्रापक पुण्य का लाभ होता है। तो फिर गगनचुम्बी गोपुरादिसहित जिनमन्दिर बनवाकर उसमें बड़े-बड़े जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा पूजन कराने वाले को कितना पुण्य लाभ होगा।

पुष्प और चन्दन से पूजा

श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों को चन्दन चर्चने से ही चन्दन की पूजा होती है: न कि सन्मुख चढ़ाने से। पुष्प भी श्री जिनेन्द्र देव के चरणों पर ही चढ़ाना चाहिये। देखिये श्री वीरसेनाचार्यकृत कषायपाहुड जयधवला प्रथमभाग (पत्र 100) में लिखा है:-

णहवणो व लेवण समज्जण, छुट्टावण, पुप्फारोवण धूवदहणादि ।
बाबारेहि जोववट्टाविणा भावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च ॥

भावार्थ—अभिषेक करना, अवलेप करना, सम्मार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप जलाना आदि जीवबध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता।

इस कथन में अवलेवण व पुप्फारोवण शब्द आया है। यह स्पष्ट प्रकट करता है कि चन्दन और पुष्प भगवान के चरणों पर ही चढ़ाना चाहिये।

पुष्पमाला के विषय में जिनप्रतिष्ठापाठ का अभिमत

जिनादि प्रस्पर्शमात्रेण, त्रैलोक्यानुग्रहक्षमा ।
इयं स्वर्गश्रियादूती, धारयति वरस्रजम् ॥

अर्थात्—जिनचरण से स्पृष्ट (छुई हुई) तीनों लोकों का अनुग्रह करने योग्य यह माला स्वर्गलोक की लक्ष्मी को मिलाने के लिये दूती के समान है। इसलिये जिनपद से स्पर्शयुक्त श्रेष्ठ पुष्पमाला आशिका के लिये भव्यजीवों को अपने मस्तक पर धारण करना चाहिये।

श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने भी आदिपुराण के 42 वें पर्व में ऐसी माला के लिये लिखा है कि-

यथा हि कुलपुत्राणां, मात्र्यं गुरुशिरोद्धृतम् ।
मान्यमेवं जिनेन्द्राङ्घ्रि-स्पर्शात्मालाद्यविभूषितम् ॥

अर्थात्—जिस प्रकार उत्तमकुल में उत्पन्न हुए बालक अपने गुरु की माला को अपने मस्तक पर धारण करते हैं, उसी प्रकार राजाओं को भगवान् की चरणस्पर्शित माला भी अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए। जिनयज्ञकल्प की वृत्ति में भी लिखा है कि-

श्रीजिनेश्वरचरण-स्पर्शितानर्घ्यपूजावृता सा माला ।
महाभिषेकावसाने, बहुधनेन भव्यश्रावकेण ग्राह्येति ॥

अर्थात्—श्रीजिनेश्वर की चरणस्पर्शित पूजा की माला महाभिषेक के अन्त में बहुत सा धन देकर श्रावक को लेना चाहिये। यह माला आनर्घ्य (अमूल्य) है इसलिये भव्यजीवों को अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

अजितनाथपुराण में लिखा है-कि श्रीअजितनाथ की माता जयसेना ने पहले कुमार अवस्था में पर्व का उपवास कर पारण के दिन भगवान् की पूजा कर उनके चरणों से स्पर्श की गई पूजा की परमपवित्र पुष्पमाला पापों का नाश करने के लिये सभा में आकर अपने पिता को दी थी तथा राजा ने बड़ी भक्ति से अपने दोनों हाथों से लेकर वह माला अपने मस्तक पर धारण की थी। तदनन्तर अपनी पुत्री को पारणा के लिये विदा किया था।

भगवान के चरणस्पर्शित पुष्पों को कण्ठ में धारण करने का कथन इस प्रकार है-करकण्डु के पूर्वभव में गोपाल ने श्रीमुनिराज के उपदेश से पुष्पराज और सेठ के साथ एक सहस्रदल का कमल भगवान् के चरण पर क्षेपण किया था, जिससे उसको महापुण्य का लाभ हुआ था तथा उसी पुण्य से वह राजा करकण्डु हुआ था। इसकी कथा आराधना-कथा कोश में विस्तार से लिखी है-वहां देखिये।

देवपूजा की प्राचीन पुस्तकों के पाठों में पूजा की प्रतिज्ञा के समय पूजक को मन्त्रों द्वारा जिनप्रतिमा के ऊपर सब जगह पुष्पक्षेपण करने का विधान है। यथा—'ओं ह्रीं श्रीजिनयज्ञ प्रतिज्ञानाय जिनप्रतिमोपरि पुष्पाण्जलि क्षिपेत् ।'

इसके सिवाय श्रीगोम्मटस्वामी की वन्दना करते समय निर्वाणकाण्ड के पाठ में लिखा है कि देवगण पांच सौ धनुष ऊँची उस गोम्मटस्वामी की प्रतिमा पर केशर वा पुष्पों की वर्षा करते हैं। यथा—

गोम्मटदेवं वन्दे, पंचशतधनुर्देहोच्चं तं ।
देवाः कुर्वन्ति वृष्टिं, केशरकुसुमानां तस्योपरि ॥

इसके सिवाय पूजा के पाठों में सब जगह लिखा ही है। यथा-

सुजातिजातैः कुमुदाब्जकुन्दैः, मन्दारमाल्यादिकुसादिपुष्पैः
मत्तालिमाल्यामुखरै जिनेन्द्र-पादारविन्दद्वयमर्चयामि ॥

इसका अभिप्राय यह है कि पूजा करने वाला पूजा के समय कहता है कि जाती (चमेली), कुमुदिनी, कमल, कुन्द (बेला), मन्दार, मौलिश्री आदि उत्तमोत्तम सुगन्धित पुष्पों से तथा जिनपर मदोन्मत्त भ्रमरों के समूह गूंजार कर रहे हैं ऐसे अन्य सुन्दर पुष्पों से मैं भगवान के दोनों चरणकमलों की पूजा करता हूं। इत्यादि वर्णन है।

नित्य पूजापाठ में भी पुष्पक्षेपण का विधान

कुन्दारविन्दप्रमुखैः प्रसूनै-जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन् यजेऽहम्।

अर्थात्—मैं कुन्द, कमल आदि पुष्पों से जिनेन्द्र, सिद्धान्त और यतियों की पूजा करता हूं। तथा सिद्धपूजा में भी लिखा है कि—'सद्गन्धाक्षतपुष्पदामचरुकैः' अर्थात् श्रेष्ठ गन्ध, अक्षत, पुष्पमाला और नैवेद्य से पूजा करता हूं। यहां पर पुष्प माला से पूजन करना बतलाया है।

कहां तक कहा जाय: जिनप्रतिमा पर पुष्पक्षेपण करने के बहुत से प्रमाण हैं। पूजन में गन्ध, पुष्प और दीपक आदिकों का निषेध करने वालों को इन शास्त्राकारों को विवेकपूर्वक देखकर अपना सन्देह दूर करना चाहिये।

प्रश्न—भगवान की पूजा किस आसन से करना चाहिये ?

समाधान—पूजा करने वाले को भगवान की पूजा बैठकर करना चाहिये अथवा खड़े होकर इसका स्पष्टीकरण 'पूजासार ग्रन्थ' में निम्नप्रकार है—

धौतवस्त्रं पवित्रं च, ब्रह्मसूत्रं सभूषणं। जिनपादार्चने जन्यं, माल्यं धृत्वार्च्यते जिनः ॥ 1 ॥
स्थित्वा पद्मासनेनादौ, णमोकारं च मङ्गलम् । उक्त्वा संसरणोत्पातं, क्रियतेऽर्हत्प्रपूजनम् ॥ 2 ॥
स्वस्त्ययनं ततःकृत्वा, सन्ध्यां विदधीत तथा । जिनयज्ञे जिनं ध्यात्वा, परमात्मानम-व्ययम् ॥ 3 ॥
जिनाह्वानं ततः कुर्यात्, काय्योत्सर्गेण पूजकः । स्थापनं सन्निधिं कृत्वा, समस्त्रै जिनपूजने ॥ 4 ॥
पुनः पद्मासनं धृत्वा, नाममालां पठेद् बुधः । अथवा द्रव्यमाश्रित्य, भावेन पूजयेज्जिनम् ॥ 5 ॥

पठित्वा जिननामानि, देद्यात्पुष्पाञ्जलिं स्वतु । जिनानां जयमालावै, पूर्णार्घ्यन्तु समर्पयेत् ॥ 6 ॥

कायोत्सर्गेण बोधिस्थः, पठित्वा शान्तिकं ततः । क्षमयित्वा जिनालीशान्, क्रियते तु विसर्जनम् ॥ 7 ॥

भावार्थ—श्री अरिहन्त भगवान की पूजा करने वाले को पद्मासन से (बैठकर) पहले णमोकारादि मङ्गलपाठ पढ़ना चाहिये। इसके बाद आह्वानन, स्थापना आदि पूजा कायोत्सर्ग (खड़े होकर) से करना चाहिये। फिर पद्मासन से अर्थात् बैठकर पूजा करके पुनः कायोत्सर्ग आसन से (खड़े होकर) शान्ति पाठ पढ़कर विसर्जन करना चाहिये।

भगवान् की पूजन बैठकर करना चाहिये। यह यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य में भी लिखा है-

उदङ्मुखः स्वयं तिष्ठेत्, प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् । पूजाक्षणे भवेन्नित्यं, क्रमो वाचंयमक्रियः ॥

अर्थ—पूर्व दिशा की ओर मुख करके भगवान को विराजमान करे और पूजा करने के लिये पूजक स्वयं उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठे। यहाँ पर भी तिष्ठेत् क्रिया स्थाधातु से बनी है। जिसका अर्थ गतिरहित होता है। इस प्रकार मौनसहित बैठना अर्थ होता है।

इसके सिवाय पूजा पाठ में, पूजासार में, जिनसंहिता में और जिनप्रतिष्ठापाठों में भी बैठकर पूजा करने का विधान है। वहां पर बैठने का मन्त्र 'ओं ह्री अर्हम् अहं दर्भासने उपविशामि स्वाहा' इस प्रकार देखा जाता है। इसलिये शास्त्र विधि को यथावत् जानकर वा मानकर पूजन करना चाहिये।

स्त्री को भी पूजादि षट्कर्म करने का अधिकार

बहुत से लोग स्त्री को अभिषेक का निषेध करते हैं। और उसमें उनकी अशुद्धता का दोष कारण बताते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि स्त्री सदा ही अशुद्ध रहे। यदि वह अशुद्धता के दिनों में दान, पूजा आदिक धर्मकार्य करे तो वह महापापिनी है।

त्रिलोकसार गाथा 614 में लिखा है कि ऋतुकाल में चार दिन छोड़कर दान-पूजा इत्यादि षट्कर्म करने का स्त्री को पूर्ण अधिकार है। गुणभद्राचार्यकृत जिनदत्तचरित्र प्रथमसर्ग पृष्ठ 11 में भी लिखा है कि-सेठानी जीवंजसा ने प्रातः जिनमन्दिर में जाकर भगवान जिनेन्द्रदेव का दर्शन आदि करके भक्तिपूर्वक भगवान् का अभिषेक किया।

भगवज्जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण सर्ग 22, पृष्ठ 254 में लिखा है कि-गन्धर्वसेनाने जिनालय में प्रवेशकर भगवान की तीन प्रदक्षिण दी और दूध, ईख का रस, घी, दही और जल से भगवान के प्रतिबिम्ब का अभिषेक किया।

सकलकीर्ति आचार्यकृत श्रीपालचरित्र में लिखा कि मैनासुन्दरी स्वयं जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक पूर्वक पूजा करके सिद्धचक्र विधान करती थी।

इसी प्रकार हनुमानचरित्र में भी लिखा है कि अंजनासुन्दरी और उसकी सखी दोनों ही श्री चन्द्रप्रभूस्वामी की पूजा नित्य करती थीं। अत: इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि स्त्री को षट्कर्म (दान-पूजा-अभिषेक) आदि करने का पूर्ण और समान अधिकार है।

दानप्रकरण में तीर्थंकर महावीर स्वामी ने स्त्री के हाथ से आहार लिया बताया गया है। यदि स्त्री सर्वदा अशुद्ध रहती तो महावीर स्वामी स्त्रियों के हाथ से आहार नहीं लेते।

कोई कहे कि स्त्री पूजा करे यह तो ठीक है, परन्तु वह अभिषेक नहीं करे। इसका समाधान यह है। पूजा तो अभिषेक पूर्वक ही होती, अभिषेक बिना होती ही नहीं यह नियम है। यदि मैनासुन्दरी ने अभिषेक नहीं किया तो वह गन्धोदक कहां से लाई? इसलिये स्त्री को भगवान के अभिषेक करने का निषेध नहीं है।

पूजाद्रव्यसमर्पण की आन्तरिक क्रिया

(1) श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने वालों को आठों द्रव्यों में से कौन से द्रव्य से किस तरह पूजन करना चाहिये (चढाना चाहिये) यह बतलाया जाता है-

जल की पूजा भृङ्गार (झारी) से जल की धारा छोडकर अन्यपात्र (रकाबी आदि) में जल रखकर उसी से करना चाहिये। गन्ध, अक्षत, पुष्प और फल ये चार पूजाएँ पात्र (रकाबी) से करे अथवा हाथ से भी करे तो की जा सकती हैं।

चरु (नैवेद्य) पूजा सुवर्णपात्र से करना चाहिये। यदि इतनी शक्ति न हो तो शक्त्यनुसार पात्र में रखकर की जायी सकती है दीपपूजा दीपा पात्र (आरती) से या आरती रकाबी में रखकर करना चाहिये।

धूपपूजा धूपपात्र (धूपदानी) से की जाय। अर्घ्यपूजा (रकाबी) से ही करना चाहिये। शान्तिधारा पूजा झारी से जल की धारा छोड़कर करना चाहिये। यदि झारी उपलब्ध न हो तो अन्य लोटा या कलश आदिकों से जलधारा छोड़कर की जाती है और पुष्पान्जलि पूजा हाथ से ही की जाय।

(2) भगवान् को द्रव्य चढ़ाते समय की जाने वाली द्रव्य सम्बन्धी क्रिया इस प्रकार है-जल, गन्ध, अक्षत, चरु और फल इन द्रव्यों को मन्त्रपूर्वक चढ़ाते समय जान के नाभि और मुख के सामने साधारणत: तीनवार आकार घुमाकर चढाना चाहिये। दीप, धूप, अर्घ्य भी इसी प्रकार चढाना चाहिये।

विशेष यह है कि दीपपूजा यदि मूलनायक की प्रतिमा तो पहले प्रतिमा के चरणों से लेकर घुटने तक आरती उठाकर क्षण भर स्थिर कर जहां की तहां ही तीन बार फिर इसी तरह ऊपर नाभि तक उठाकर क्षणभर स्थिर वत् घुमावे। अनन्तर पुन: नाभि से मुख तक ऊपर क्षण भर स्थिर कर पूर्ववत् घुमाना चाहिये। और यहां पर चरणों तक भगवान के सामने तीन बार वर्तुलाकर घुमाकर फिर मुख से नाभि तक, नाभि से घुटने तक और

घुटने से चरणों तक नीचे नीचे पूर्ववत् घुमाते हुए ले जाकर धीरे धीरे प्रतिमा के सामने दाहिनी ओर रखना चाहिये। इसी तरह धूप पूजा करके धूपदानी प्रतिमा की बाई ओर रखना चाहिये। अर्घ्य का पूजन भी इसी तरह करना चाहिये।

(3) मूलनायक की प्रतिमा के सिवाय दूसरी प्रतिमाओं के सामने जल, गंध आदि आठों द्रव्य और अर्घ्य पर्यन्त सब पूजा साधारणतः तीन बार उतारकर (घुमाकर) करना चाहिये। यक्ष-यक्षिणी आदिकों की पूजा दो बार उतारकर और भूम्यर्चन, कलशार्चन आदिकों की पूजा एक बार उतारकर करना चाहिये। पूजा करने वालों को यह क्रम अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये।

(4) आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, विनय व नमस्कार ये पांच मुद्राएँ होती हैं। इन मुद्राओं से यथासमय, यथायोग्य देव, शास्त्र, गुरु व यक्ष का आह्वानन आदि करते रहना चाहिये।

(5) अर्घ्यद्रव्य—देव-शास्त्र-गुरु की पूजन में जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, धूप और फल ये 'अर्घ्यद्रव्य' कहलाते हैं। किन्तु यक्षादिकों के पूजन में-गन्ध, अक्षत, पुष्प, और दर्भ ये अर्घ्य द्रव्य कहलाते हैं। 'पूजासार ग्रन्थ' में लिखा है कि-

पद्मः क्षीर कुशोशीर, -तिलाक्षतयवान्वितं । अर्घ्यद्रव्यमिति प्रोक्तं, सश्यामासितसर्षपम् ॥

अर्थ—जल, दूध, कुशा (दर्भ या डाभ), खस, तिल, अक्षत, जौ ये सब 'अर्घ्यद्रव्य' कहलाते हैं। इनमें सफेद और काला सरसों और मिलाना चाहिये।

(6) पाद्यद्रव्य—कमल की जड़, सरसों, दुर्वा और अक्षत को 'पाद्यद्रव्य' कहते हैं। यह पाद्यद्रव्य भगवान के अभिषेक में लिया जाता है। वही 'पूजासार' ग्रन्थ में लिखा है कि-

समूलपद्मसिद्धार्थ-दूर्वामृततृणाक्षतम् । पाद्यद्रव्यमिति प्रोक्तं, जिनस्नपनपूजने ॥

किन्तु यक्षादिकों के पूजन में केवल जल 'पाद्यद्रव्य' बतलाया गया है।

(7) मङ्गलार्घ्यावतरण—दूर्वा, स्वस्तिक, दर्भ, कमल फल (कमलगट्टा), नदी के किनारे की शुद्ध मिट्टी, श्रीखण्ड अर्थात् बावन चन्दनादिक सुगन्धित द्रव्य, स्वर्ण, चांदी, पुष्प, दीपक, भृङ्गार, सरसों, तिल, शाली अक्षत, केशर, जौ, धूप ये सब मङ्गल सूचक द्रव्य हैं। अभिषेक वा पूजा के समय किसी पात्र में रखकर भगवान् के आगे अर्घ्य के समान उतार कर उनके चरणों के आगे चढ़ाने को 'मङ्गलार्घ्यावतरण' कहते हैं। वही 'लघुस्नपन में' दध्युज्वलाक्षतमनोहरपुष्पदीपैः' इत्यादि पद्य में लिखा है।

(8) स्वास्तिक—किसी रकाबी-थाल आदि पात्र में चावलों से अथवा चन्दन, केशर आदि सुगन्धित द्रव्य से बनाये गये 卐 इस प्रकार चिह्न को 'स्वास्तिक' कहते हैं। पूजा करने वालों को पहले यथाविधि स्वास्तिक बनाना चाहिये। फिर पूजा प्रारम्भ करना चाहिये। यह प्राचीन आम्नाय (परिपाटी) है।

(9) पुष्पाञ्जलि—दोनों हाथों से अँजुली करके अर्थात् प्राकर्षिणी मुद्रा से फूल या अक्षत क्षेपण करने को 'पुष्पाञ्जलि' कहते हैं।

(10) यज्ञभाग—एक वस्त्र में बँधे हुये जल, गन्ध, अक्षत और पुष्प आदिक द्रव्यों को 'यज्ञभाग' कहते हैं।

(11) आ च म न द्रव्य—

धातकीनुमनश्चन्द्र-जातीफलसलवङ्गकम् । घटस्याचमनस्येदं, द्रव्यमित्युच्यते बुधैः ॥

अर्थ—धातकी (धाय के) पुष्प, कपूर, जायफल, लौंग ये सब द्रव्य जल के घट में डालकर विधिपूर्वक आचमन करना चाहिये, ऐसा 'पूजासार' ग्रन्थ में लिखा है कि अर्थात् ये सब 'आचमन द्रव्य' हैं।

(12) आचमन, पाद्य, नीराजनावतरण—जिन भगवान् का आचमन जन्माभिषेक की भावना से किया जाता है। महामेरु पर अभिषेक के समय देवेन्द्र ने पाद्य, आचमन और नीराजनावतरण आदि किया था। इसलिए हमें भी उस भावना से जिनप्रतिमा के पादमुल में भृङ्गार (झारी) से जलधारा छोड़ना चाहिये इसी क्रिया को 'पाद्य' कहते हैं।

जिनबिम्ब के दाएँ बाजू में आचमनद्रव्य से मिले हुए जलपात्र से जलधारा छोड़ना-'आचमनक्रिया' कहलाती है।

भस्मादि नीराजन द्रव्यों से आठों दिशाओं में आठ प्रकार का नीराजन करना 'नीराजनावतरण' कहलाता है। विशेष वर्णन 'पूजासार' तथा 'वृहत्स्नपन' आदि ग्रन्थों में लिखा है। वहां से जानना चाहिये।

(13) लाजादिचूर्णोद्वर्तन—मल्लिका के फूलों के समान सफेद वर्ण वाले लाई के चूर्ण, बहुत से सुगन्धित द्रव्य और सुन्दर हल्दी के चूर्ण से युक्त श्रेष्ठचूर्ण के द्वारा जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का उबटन करने को 'लाजादिचूर्णोद्वर्तन' कहते हैं।

(14) कल्कचूर्णोद्वर्तन—काश्मीर, कालागरुधूप, लौंग, हल्दी, चांवल, चन्दन इत्यादि द्रव्यों का चूर्ण पानी में मिला कर उससे लेप (उबटन) करने को 'कल्कचूर्णोद्वर्तन' कहते हैं।

(15) सर्वौषधि स्नपन—इक्षुरस, घी, दूध, दही के अभिषेक के बाद जो सर्वौषधि का अभिषेक होता है, उसके लिये सरसों, चन्दन, वचकूट, कंकोल, कालीमिर्च, इलायची, लौंग, जायत्री, कपूर आदि अनेक सुगन्धित द्रव्यों के समूह को जल में घोलकर सर्वौषधि तैयार करना चाहिये। उसी से अभिषेक करने को 'सर्वौषधि स्नपन' कहते हैं।

(16) कषायोदकस्नपन—कंकोल, ग्रन्थिपर्ण, अगरु, जटामासी, जायत्री, लौंग, चन्दन, इलायची का चूर्ण, अबधूली (इन्द्रधूली), केशर, चावलों का आटा, बड़ आदि क्षीरिवृक्षों की सूखी छाल के चूर्ण से बने हुए चूर्ण के मिश्रण से बनाये गये कषायजल से भगवान् की प्रतिमा का अभिषेक करने को 'कषायोदकाभिषेक' कहते हैं।

(17) दश प्रकार के दर्भ (डाभ)

कुशाः कासाः तथा दूर्वे, उशीराश्च ककुन्दराः । गोधूमा व्रीहयो मुण्जा, दश दर्भाः प्रकीर्तिताः ॥

अर्थ:—कुश, कांस, जौ का पूला, दोनों प्रकार की दूर्वा, खसखस का पूला, ककुन्दर (.....), गेहूँ का पूला, धान का पूला, मूंज ये दश दर्भ (डाभ) कहलाते हैं। धर्मरसिक ग्रन्थ में भी लिखा है कि दर्भ के अभाव में कांस उपयोग में लेना चाहिये। ये दोनों एक ही हैं। यथा 'कुशाभावे तु कासाः स्युः, कासाः कुशमयाः स्मृताः' इस प्रकार डाभ के दश भेद हैं। इनमें से समय पर जो मिले वही उपयोग में लेना चाहिये। अर्थात् डाभ न मिले तो पूर्वोक्त दश में से जो मिले सो ही काम में लाना चाहिये।

(18) बलि-शब्द की अनेकार्थवाचकता।

बलिः सामान्यतः पूजा, बलिःस्याद्वलिवर्तिका । बलिः स्याद्वर्णपूरोऽपि, बलिरन्नं सतोयकम् ॥

अर्थ—सामान्य पूजा, बलिवर्तिकारूपक्रिया, सुन्दर सुन्दर रंगों का पूरना (चौक बनाना) और जल सहित अन्न। ये सब बलि शब्द से कहे जाते हैं।

(19) यक्षादिकों के लिये समर्पण करने योग्य पाद्यादि द्रव्य कौन से रहते हैं, इसका प्रमाणवचन भट्टाकलङ्क संहिता में इस प्रकार लिखा है कि-

यक्षादिपूजने पाद्य, पानीयं केवलं भवेत् ॥ 1 ॥
अर्घ्यं तदन्वितं जन्ध-पुष्पाक्षतकुशं मतम् ॥ 2 ॥
यज्ञभाजस्तदेव स्यात् कुशखण्डेन वर्जितम् ॥ 3 ॥
बलिः सामान्यत पूजा, बलिःस्याद्वलिवर्तिका ॥ 4 ॥
बलिः स्याद्वर्णपूरोऽपि, बलिरन्न सतोयकम् ॥ 5 ॥

अर्थ—यक्ष-यक्षिणी प्रभृति शासनदेवों की पूजनविधि में केवल जल 'पाद्य' कहा जाता है। जल, गन्ध, पुष्प, अक्षत और कुश का मिश्रण अर्घ्य कहा गया है। कुश के बिना जल, गन्ध, पुष्प और अक्षत यज्ञभाग कहलाते हैं। सामान्य रूप से पूजा करना बलि है। जलसहित अन्न देना या अन्न का अर्पण करना बलि है।

(20) **अष्टगन्ध**—केशर, इलायची, लवङ्ग, जायत्री, जायफल, कंकोल, कपूर, श्रीगन्ध आदि सुगन्ति चीजें कूटकर बना हुआ चूर्ण।

मुद्राओं का स्वरूप

(1) **सुरभिमुद्रा या धेनुमुद्रा**—दोनों हाथ जोड़ कर दाहिने हाथ की छिगुरी को बाएँ हाथ की अनामिका (छिंगुरी के पास की) अँगुली से मिलाना।

बायें हाथ की छिंगुरी को दाहिने हाथ की अनामिका (छिंगुरी के पास की) अँगुली से मिलाना।
दाहिने हाथ की तर्जनी को बाँए हाथ के बीच की अँगुली से मिलाना।

बायें हाथ की तर्जनी को दाहिने हाथ की बीच की अँगुली को लगाना और दोनों हाथों के अँगूठा जोड़ना। इस प्रकार अँगुलियों को मिलाने से जो एक विशेष आकृति बनेगी, उसी को 'सुरभिमुद्रा' या 'धेनुमुद्रा' कहते हैं।

(2) **पंचगुरुमुद्रा**—अपने दोनों हाथों को सीधाकर हाथों की आठों अंगुलियों को एक सीध में मिलाकर खड़ी करना चाहिये। फिर दोनों अनामिका अँगुलियों को मिली हुई खड़ी करना चाहिये। पश्चात् दोनों हाथों की मध्यमा अँगुलियों को तर्जनी अँगुलियों से दाबना चाहिये। पीछे दोनों कनिष्ठा (छिगुरी) अँगुलियों को अँगूठे से दाबना चाहिये। इस प्रकार करने से पाँच अंगुलियां ऊपर को खडी हुई दिखाई देंगी तथा पांच दबी हुई अदृश्य रहेंगी। इसी को 'पंचगुरुमुद्रा' कहते हैं।

(3) **आह्वाननमुद्रा या आकर्षिणीमुद्रा**—दोनों हाथों को खोलकर एक साथ मिलाकर फैलाना। फिर दोनों अंगूठे दोनों अनामिकाओं के मूलस्थान में रखना इससे हाथों की जो आकृति बनती है यह 'आह्वाननमुद्रा' कहलाती है।

(4) **स्थापिनी मुद्रा**—उसी आकर्षिणी मुद्रासहित दोनों हाथों को उलटा रखने से 'स्थापिनीमुद्रा' होती है। अर्थात् आकर्षिणी मुद्रा में जो दोनों हथेली ऊर्ध्वमुख थीं: वे ही अँगूठों को जहां के तहां रखकर अधोमुख कर देने से जो आकृति होती है उसे 'स्थापिनीमुद्रा' कहते हैं।

(5) **सन्निधीकरणमुद्रा**—दोनों हाथों की मुट्ठी बांधकर मिलाने से और दोनों अँगूठे ऊपर की ओर रखने से 'सन्निधीकरणमुद्रा' होती है। सन्निधीकरण करते समय में सन्निधीमुद्रा से हृदयस्पर्श और नमस्कार करना चाहिये यही मुद्रोद्धार शास्त्र में लिखा है :-

हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा- नामिकामूलपर्वणि ।
अंगुष्ठौ नाक्षिपेत्स्वेयं, मुद्रा त्वावाहिनी मता ॥
अधोमुखौ चेयं चेत्स्यात्, स्थापिनी मुद्रिका मता ।
उच्छ्रितावङ्गु ष्ठयुग्मोत्सक-संयोगात्सन्निधापिनी ॥ । ॥

(6) जिन मुद्रा

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा, पादयोश्चतुरङ्गुलम् ।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं, प्रलम्बितभुद्वयम् ॥ 2 ॥

अर्थ:—दोनों पैरों का चार अङ्गुल प्रमाण अन्तर (फासला) रखकर दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर कायोत्सर्ग रूप से खडा होना 'जिनमुद्रा' कहलाती है।

(7) योग मुद्रा

जिनाः पद्मासनादीना-मङ्कमध्ये निवेशनम् ।
उत्तानकरयुग्मस्य, योगमुद्रां वभाषिरे ॥ 3 ॥

अर्थ:—पद्मासन, पर्यङ्कासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियां को चित (सीधा कर) रखने को जिनेन्द्र देव 'योगमुद्रा' कहते हैं।

(8) वन्दना मुद्रा

मुकुलीकृतमाधाय, जठरोपरि कूर्परम् ।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा, करद्वन्द्वं निवेदिता ॥ 4 ॥

अर्थ:—दोनों हाथों को मुकुलित कर उनकी कुहनियों को उदर पर रखकर खडे हुए पुरुष के हाथों के उस विशेषाकार को वन्दनामुद्रा कहते हैं। अर्थात् दोनों कुहनियों को पेटपर रखकर दोनों हाथों को मुकुलित करना 'वन्दनामुद्रा' कहलाती है।

(9) मुक्ता शुक्ति मुद्रा

मुक्ताशुक्ति मंता मुद्रा, जठरोपरि कूर्परम् ।
उर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं, संलग्नाङ्गुलि सूरिभिः ॥ 5 ॥

अर्थ:—दोनों हाथों की अङ्गुलियों को मिलाकर दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खडे हुए पुरुष के हाथों, अंगुलियों और कुहनियों के विशेष आकार को आचार्य 'मुक्ताशुक्तिमुद्रा' कहते हैं।

भावार्थ:—दोनों कुहनियों को पेट पर रखकर दोनों हाथों को जोड़कर अँगुलियों को मिला देना 'मुक्ताशुक्तिमुद्रा' है।

(10) विनय मुद्रा—कमलों के दल के समान मुकुलित कर दोनों हाथों को जोड़ना 'विनयमुद्रा' कहलाती है।

(11) नमस्कार मुद्रा—दोनों हाथों की हथेलियां परस्पर चिपकाकर हाथ जोड़कर दोनों अँगूठे जोड़कर माथे (कपाल) से लगाकर नमस्कार करने को 'नमस्कार मुद्रा' कहते हैं।

(12) ज्ञानमुद्रा—पद्मासन से या सुखासन से बैठ कर अपनी बायीं जंघा पर बाँया हाथ चित्त रखकर उसकी ज्ञानमुद्रा करे। अर्थात् बाँए हाथ के अंगूठे से तर्जिनी अंगुली को दबाकर रखे तथा शेष तीनों अंगुलियां जैसी की तैसी ही लम्बी रहने देवे और दृष्टि नासिका पर रखकर दाहिना हाथ ऊपर ऊंचा उठाकर 108 मणि का माला हाथ में लेकर बैठना 'ज्ञानमुद्रा' कहलाती है। एकाग्रचित्त से विधिपूर्वक माला फेरना 'जाप' कहलाता है। अथवा 'तर्जन्यंगुष्ठयोगेन ज्ञानमुदेति भाषिता' अर्थात्-तर्जिनी अँगुली को नवाकर अँगूठे की जड़ से लगाना शेष तीनों अँगुलियां खड़ी रखना 'ज्ञानमुद्रा' है।

(13) आहारमुद्रा—मुनिराज जब आहार के लिए जाते हैं, तब अपने बांये हाथ से पीछी और कमण्डलु लेकर दाहिने हाथ की पांचों अँगुलियों को मिलाकर उन मिली हुई अँगुलियों को कन्धे पर रख लेते हैं। उनकी इस मुद्रा को 'आहार मुद्रा' कहते हैं।

(14) आचमन मुद्रा—अपने दाहिने हाथ की हथेली, पांचों ही अंगुलियों को लम्बा कर चित्त रखे। अनन्तर तर्जिनी (अंगूठे के पास की अंगुली) को अंगूठे के नीचे लगा देवे तथा उसके ऊपर अंगूठों को दबाकर रखे और बाकी की तीनों अंगुलियां जैसी की तैसी ही लम्बी रहने देवे। इससे हाथ की हथेली अपने आप गड्ढारूप बन जाती है। इसी को 'आचमनमुद्रा' कहते हैं।

(15) अमृतस्नान या प्रोक्षण करने की मुद्रा—दोनों हाथों की हथेलियों को परस्पर जोड़कर सब अंगुलियां परस्पर मिलाते हुए मिटा देवे और केवल अंगूठे के पास की दोनों हाथों की दोनों ही अंगुलियां (तर्जिनी) लम्बी करते हुए परस्पर जोड़ देवे, इससे जो आकृति बनती है। उसे 'अमृतस्नानमुद्रा या प्रोक्षणमुद्रा' कहते हैं।

आसनों का स्वरूप

पद्मासनं श्रितौ पादौ, जङ्घाभ्यामुत्तराधरे ।
ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वो वीरासनं क्रमौ ॥ 85 ॥

—अनागार ध. अ. 8

(1) पद्मासन—दोनों जंघाओं से दोनों पैरों के संश्लेष को पद्मासन कहते हैं। अर्थात्-दाहिने पैर के नीचे बाँए पैर को या बाँए पैर के ऊपर दाहिने पैर को कर अथवा बाँए पैर के नीचे दाहिने पैर को या दाहिने पैर के ऊपर बाँए पैर को रखकर पालथी मारने को पद्मासन कहते हैं।

(2) पर्यङ्कासन—जंघाओं को ऊपर नीचे रखने को पर्यङ्कासन कहते हैं। अर्थात्-बाँए पैर के ऊपर दाहिने पैर को रखना पर्यङ्कासन कहलाता है।

(3) वीरासन—दोनों ऊरु (जांघों) के ऊपर दोनों पैरों के रखने को वीरासन कहते हैं। अर्थात् बाँया पैर दाहिनी जाँघ के ऊपर रखना और दाहिना पैर बाँयी जाँघ के ऊपर रखना वीरासन कहलाता है।

(4) दण्डासन अथवा कायोत्सर्गासन—दोनों पैरों को चार अंगुल प्रमाण अन्तर (फाँसला) से रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर नासिकाग्रदृष्टि से सहजरूप में खड़ा होना दण्डासन कहलाता है। इसी को कायोत्सर्गासन और खड्गासन भी कहते हैं।

अरिहन्तपूजा की विधि में यक्ष, यक्षिणी, दशदिक्पाल आदि के आह्वान, स्थापन आदि के विषय में विचार

आस्तिक शिरोमणियों द्वारा अपने आराध्य देवता अरिहन्त भगवान आदि को मान्यता देना स्वाभाविक बात है। जैन सिद्धान्त में पंच परमेष्ठियों को मान्यता दी गई है। उनमें भी अरिहन्त और सिद्ध को देव तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु को गुरु माना गया है। ये पांचों ही परमेष्ठी पूज्य भावना में तरतम (तारतम्य) भाव से भव्यों द्वारा आराधन किये जाते हैं।

इन परमेष्ठियों की आराधना करने वाले यक्षादि परिवार देवता भी उचित सत्कार के लिये माननीय होते हैं। इन यक्ष आदिकों की मान्यता के विषय में कुछ भाइयों का मतभेद है अर्थात् वे इन यक्षादि की मान्यता का निषेध करते हैं। परन्तु यक्षादि शासन देवों की मान्यता का निषेध करने वाले अदूरदर्शी ही हैं क्योंकि उन लोगों की समझ में यह बात नहीं आई कि इन यक्षादि शासन देवों के प्रति किया जाने वाला तरतम (तारतम्य) भावरूप सत्कार अपने घर पर आये हुये योग्य अतिथियों या सम्बन्धियों के सत्कार के समान है। यह अभिप्राय किसी का भी नहीं है कि देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान के समान इन देवताओं का भी पूजन सन्मान हो।

इसी तरह भगवद्भक्तों को यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जिनेन्द्र भगवान के समान यक्षादि परिवार देवताओं का पंचामृत अभिषेक आदि विधि-विधान नहीं होता। यह बात भट्टाकलङ्क संहिताशास्त्र आदि में स्पष्ट है। साधर्मी सम्यग्दृष्टियों का अर्घ्य पाद्य आदिक सत्कार (समर्पण) करना व्यवहार दृष्टि से योग्य ही है।

अरिहन्त भगवान के लिये पंचोपचार पूजन का और यक्षादि शासन देवताओं के लिए षोडशोपचार पूजन का विधि-विधान बतलाया गया है। इसका प्रमाण भट्टाकलङ्क संहिता में लिखा है कि-

आह्वाननं स्थापनं च, सन्निधीकरणं तथा । पूजा विसर्जनं चेति, उपचारास्तु पंचधा ॥

अर्थ—आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजा और विसर्जन ये पांच जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के उपचार या अङ्ग कहलाते हैं।

षोडशोपचार पूजा

आह्वाननं स्थापनं च, सन्निधीकरणं तथा ।
हविर्दानमथार्घ्यं च, पाद्यं गन्धाक्षतास्ततः ॥
पुष्पं दीपश्च धूपश्च, चरुर्बलिस्ततः फलम् ।
स्वस्तिकं यज्ञभाजश्चे-त्येवमेते यथाक्रमम् ॥
दिक्पालस्तर्पणे ज्ञेया, उपचारास्तु षोडश ।

अर्थ:—आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, हविर्दान, अर्घ्य, पाद्य, गन्ध, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, धूप, फल, बलि, स्वस्तिक और यज्ञभाग ये सोलह शासनदेवताओं की पूजा के उपचार या अङ्ग कहलाते हैं।

जिनेन्द्र भगवान के आराधकों में अग्रसर ''यक्ष-यक्षिणी आदि शासन देवता सम्यग्दृष्टि नहीं होते'' ऐसा प्रलाप करना कहाँ तक योग्य होगा; इस पर विचार करना जरूरी है। भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क) देवों में, समावेश होने से जनन-काल में यद्यपि शासन देवों के अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं रहता, तो भी भगवत्सेवाधिकार, भगवन्महिमा-दर्शन आदि से पर्याप्तावस्था में इनके सम्यक्त्व अवश्य उत्पन्न हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। इसलिये भगवद्भक्तों में अग्रेसर इन शासन देवों का योग्यतानुसार पूजा-सत्कार से गौरव करना व्यवहार दृष्टि से योग्य ही है।

कोई कोई यह कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान की पूजा विधि में जो यक्ष-यक्षिणी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, आदिकों का आह्वानन, स्थापन और पूजन आदि लिखा है यह जैनियों को करने योग्य नहीं है। यह कार्य तो अन्यमतियों के योग्य है क्योंकि सम्यग्दृष्टि तो अरिहन्त देव, दयामय धर्म और निर्ग्रन्थगुरु को छोड़कर और किसी का पूजनादिक नहीं करते, जो करते है, वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं-ऐसा अनेक ग्रन्थों में लिखा है परन्तु यहां पर नित्यपूजन में ही इनका पूजन लिख दिया है। अत: ऐसा श्रद्धान सम्यग्दृष्टियों का नहीं हो सकता।

तथा यक्ष-यक्षिणियों को मंदिर में भी नहीं रखना चाहिये ! इनको मन्दिर में रखना मिथ्यादृष्टियों का काम है ! जैनियों में जो यह रीति चली है, वह विपरीत चलाई है !!! सम्यग्दृष्टि तो प्राणान्त होने पर भी इनकी पूजनादिक नहीं करता !!!! इत्यादि। यह ठीक है-कि श्री अरिहन्त देव के सिवाय अन्य देवों की मान्यता मिथ्यात्व है। परन्तु अन्य देवों की मान्यता का शास्त्रों में जो निषेध किया है, उसे ठीक तरह से समझ लेना चाहिये। देखो रत्नकरण्ड श्रावकाचार। उसमें लिखा है कि-'सम्यग्दृष्टि पुरुषों को भय, आशा, स्नेह या लोभ से कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रों को नमस्कार और विनय कभी नहीं करना चाहिये।' यथा-

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

यहाँ पर कुदेवादिक की विनयादिक का ही निषेध किया गया है, सम्यग्दृष्टि देवों की विनयादिक का निषेध नहीं किया गया है। इस प्रकार और भी अनेक शास्त्रों में लिखा है।

भावार्थ—अन्यमत के स्थापन किये हुए कुदेवादिकों की पूजन करने का ही निषेध किया है। जिन-शासन-देवों की पूजा का विधान जैन शास्त्रों में है, उसका निषेध नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो चौबीस तीर्थङ्करों के गोमुख आदि चौबीस यक्षों का वर्णन, चक्रेश्वरी आदि चौबीस यक्षणियों का वर्णन तथा क्षेत्रपाल आदि शासन देवताओं का वर्णन जिनागम में क्यों लिखा जाता ? तथा इन यक्ष-यक्षणियों की मूर्ति जिनप्रतिमा के अजल-बजल व नीचे क्यों बनाते ? और इसके ऊपर लिखे अनुसार पूजन आदिक की विधि शास्त्रों में क्यों कहते? इनका पूजन मिथ्यात्व होता तो जिनागम में क्यों लिखते ? इन सब बातों का विचार करना चाहिये।

शासनदेव सम्यग्दृष्टि, जिनभक्त और जैनशासन के रक्षक हैं, इसलिये ये साधर्मियों के समान हैं। शास्त्रों में भी साधर्मियों की सेवा आदरसत्कार आदि करना लिखा ही है तथा वर्तमान समय में भी श्रावक लोग परस्पर वात्सल्यभाव धारण कर एक दूसरे को दान, मान और सन्मान कर सन्तुष्ट करते ही हैं। तो फिर देवगति के साधर्मियों को मानने में मिथ्यात्व का दोष किस प्रकार आ सकता है ? सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अन्य कुदेवादिक को कभी भी नहीं मानते हैं, और न उनको कभी मानना ही चाहिये। जो व्यक्ति इस कथन के विपरीत कथन करते हैं, वे ही मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसा अनेक शास्त्रों से प्रस्पष्ट है।

देवताओं के भेद

देवतास्तु चतुर्भेदाः, प्रोक्ताः सततदेवताः ।
सक्रियादेवता देश-देवताः कुलदेवताः ॥ १ ॥

अर्थ—सततदेवता, सक्रियादेवता, देशदेवता और कुल देवता इस प्रकार ये देवों के चार भेद हैं।

अर्हत्सिद्धाचार्यदिभेदेन, भिद्यन्ते पञ्चधादिमाः ।
अन्ये चक्रातपत्राग्नि-त्रयभेदात् त्रिधा मताः ॥ 2 ॥
प्रथमा देवता सद्भिः, पूज्यते मुक्तिकारणम् ।
द्वितीयाऽभ्यर्च्यते होमे, शान्त्याद्यर्थं मनीषिभिः ॥ 3 ॥

अर्थ—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पांच 'सतत देवता' हैं और तीन चक्र, तीन छत्र और तीन अग्नि (गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिणाग्नि) ये तीन प्रकार के सक्रिय देवता है।

भव्य जीवों के द्वारा मुक्ति पाने के लिये अरिहन्त और सिद्ध रूप सततदेव पूजे जाते हैं और होम करने के समय तथा शान्तिक पौष्टिक क्रियाओं में दोषशान्ति के लिये सक्रिया देवता (तीन छत्र, तीन चक्र, तीन अग्नि) पूजे जाते हैं।

विश्वेश्वरी वैश्रवणो, धरणेन्द्रस्ततः परः ।
श्रीदेवता च विज्ञेया-श्चतुर्था गृहदेवताः ॥ 4 ॥
अयोध्यादि-महा-ग्राम-वासिनी पुण्यदेवता ।
जिनेन्द्र-जननी चापि, प्रोक्ता विश्वेश्वरीति सा ॥ 5 ॥

अर्थ—विश्वेश्वरी (जिनमाता), कुबेर, धरणेन्द्र और श्री देवता (श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी) ये चार गृहदेवता (देशदेवता) कहलाते हैं। अयोध्या आदिक नगरों में हुई पुण्यदेवतारूप, जगद्विख्यात जिनेन्द्र की जननी 'विश्वेश्वरी' कही जाती हैं।

वंशे पुरातनैरिष्टा, या च शासन-देवता ।
चक्रिणी ज्वालिनी-पद्मीत्याद्यास्ताः कुलदेवताः ॥ 6 ॥

अर्थ—कुल में पुराने पुरुषों के द्वारा परम्परा से मानी जाने वाली चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, पद्मावती प्रभृति जिनशासन देवता 'कुलदेवता' कही जाती हैं।

विश्वेश्वरी समाराध्या, कुलस्त्रीभिः निकेतने ।
तथा वैश्रवणस्यार्चा-विधिना विभवो भवेत् ॥ 7 ॥
धरणेन्द्रस्य पूजायाः, पुण्य-पुत्र-समुद्भवः ।
श्री देवताराधनायां, कृतायां क्षुद्रदेवताः ॥ 8 ॥
गर्भसन्धृतिघातिन्यो न विशन्ति गृहं कदा ।
तथा शासनदेव्याश्च, पूजने विहिते सति ॥ 9 ॥
प्रत्यूहानामनुत्पत्ति-रथवोपशमो भवेत् ॥
विश्वेश्वर्यादिबिम्बानि, पूजयेयुस्ततः स्त्रियः ।
अर्घेयव्यादिकार्याणि, स्वीकर्तुमभीप्सवः ॥ 10 ॥

अर्थ—कुलीनस्त्रियों को अपने घर में विश्वेश्वरी की पूजा करना चाहिये ! कुबेर की पूजा करने से वैभव प्राप्त होता है। धरणेन्द्र की पूजा करने से पुण्यवान् पुत्र उत्पन्न होता है। श्रीदेवता की पूजा करने से घर में स्त्री गर्भधारण में विघ्न बाधा करने वाले क्षुद्रदेव प्रवेश नहीं कर सकते। जिनशासन देवता की पूजा करने से कार्यों में विघ्न पैदा नहीं होते और पहले से उत्पन्न विघ्नों की शान्ति हो जाती है। इसलिए सौभाग्य को चाहने वाली कुलीन स्त्रियों को विश्वेश्वरी प्रभृति देवताओं की प्रतिमा की पूजा करना चाहिये।

जिनाभिषेक आगमानुकूल ही है

संग्रहकर्ता :- धर्मनंदीजी महाराज

संसार परिभ्रमण करने वाले प्राणियों को दैवदुर्विपाक से उत्तम कार्यों को करने की योग्यता बहुत कठिनता से प्राप्त होती है। वैसे तो मनुष्य का जन्म पाना ही दुर्लभ है तथापि येन-केन प्रकारेण वह प्राप्त भी हुआ तो उसमें उत्तम शरीर, आयु, आरोग्य, चिंता रहित आदि मिलना तो और भी कठिन है। उन सबसे अधिक कठिन उत्तम कुल में जन्म लेना है जिसे सज्जातित्व कहते हैं। यहां पर आकर सम्पूर्ण शुभ क्रियायों को करने की पात्रता (योग्यता) प्राप्त हो जाती है। बाह्य साधनों के ठीक होने पर अंतरंग शुद्धि के लिये अवसर मिल जाता है। जिसको यह सज्जातित्व प्राप्त हुआ है उनको अपने को जन्मत: धन्य समझना चाहिये। यदि उस प्राप्त रत्न की सदुपयोगिता की गई तो उनके लिये मोक्ष लक्ष्मी सन्निकट है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये ऐसे कुलीन श्रावकों को कल्याण मार्ग का उपदेश देते हुये सबसे प्रथम देव-पूजा को स्थान दिया है। देव-पूजा की विधि, देव-पूजा का फल व उससे उत्पन्न होने वाली लौकिक व पारलौकिक विशुद्धि आदि के विषय में एवं उसकी प्राचीन पद्धति व आधुनिक पद्धति पर तुलनात्मक विचार हम किसी स्वतन्त्र अन्य लेख में करेंगे, क्योंकि हमारे इस लेख का लक्ष्य वह नहीं है। यहां पर केवल अर्हंत पूजा के मुख्य अंग अभिषेक पर विचार किया जायेगा।

अभिषेक पूजा का एक मुख्य अंग है इस विषय पर किसी को विवाद नहीं हो सकता है पूजन हो चाहें अभिषेक यह सर्व भाव शुद्धि की अपेक्षा से किये जाते हैं। जिन कार्यों को करने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो, हमारी भक्ति व श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़े वह कार्य गृहस्थ को करना चाहिये। यही उद्देश्य अभिषेक में भी है। सामान्य पूजन की अपेक्षा अभिषेक पूजन में भक्ति व भाव शुद्धि की प्रकर्षता पाई जाती है इसलिये महर्षियों ने इस अभिषेक पूजन को विशेष महत्व देकर गृहस्थ को इसके द्वारा कर्तव्य पालन की आज्ञा दी है।

अभिषेक का महत्व व उसकी उपयोगिता स्पष्ट है इस विषय पर हम आचार्यों के अभिप्राय के अनुसार ही प्रकाश डालेंगे। और जलाभिषेक हो चाहे पंचामृत अभिषेक परन्तु है तो वह अर्हंत का अभिषेक ही। व्यक्तिगत मान्यता चाहे जो हो परन्तु आगम विहित आचार्यों ने तो यत्र-तत्र पंचामृत अभिषेक ही स्वीकार किया है इस विषय पर पूज्य श्री सोमदेव सूरि के अभिप्राय मनन करने योग्य हैं-

श्री केतनं वाग्वनितानिवासं। पुण्यार्जनक्षेत्र मुपासकानाम ।।
स्वर्गापिवर्गेजमनेकहेतुम् । जिनाभिषेकं श्रयमा श्रयामि ।।

इसलिये जबकि हमारे प्रात: स्मरणीय ऋषि महर्षि भी अभिषेक विधान के महत्व को मुक्तकंठ से अंगीकार करते हैं फिर इस विषय को कौन अभागा स्वीकार नहीं कर सकता है वस्तुत: इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता है। अभिषेक पाठों में, अभिषेक विधानों में, आचार्यों ने पंचामृत अभिषेक को अधिक से अधिक महत्व दिया है परन्तु हमारी दिगम्बर जैन समाज का बहुभाग दक्षिण प्रान्त में व यत्र-तत्र उत्तर प्रान्त में भी प्राय: पंचामृत अभिषेक को करके अपने को धन्य मानता है। विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा विशिष्ट भक्ति की उत्पत्ति एवं तज्जनित तुष्टि होना स्वाभाविक है।

परन्तु कुछ विभाग दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का इस अभिषेक क्रिया को पाप का कारण समझ (चाहे जलाभिषेक हो चाहे पंचामृत अभिषेक) सर्वथा ही सर्वथा नष्ट करने पर उतरा हुआ है और मात्र जिनाभिषेक को घोर घृणा की दृष्टि से देखता है।

जो विधि शास्त्र की आज्ञा से युक्त है, आचार्य परम्परा जिस बात को स्वीकार करती है वह एक जिनागम श्रद्धानी के लिये आपत्तिजनक नहीं हो सकती है क्योंकि हम आज्ञा प्रमाणवादी हैं। बहुत से लोग इस क्रिया से अधिक आरम्भ होता है ऐसा कहकर इसको सर्वथा मिटाने पर आरुढ है कोई तो इसे आम्नाय विरुद्ध बताकर ही इस अभिषेक क्रिया से बचने पर तुले हैं, कोई कुछ कोई कुछ कहकर अपना बचाव करते हैं परन्तु विवेक पुरुषों का यह कर्त्तव्य नहीं है। उन्हें उचित है कि प्रत्येक विषय को गम्भीरता की दृष्टि से विचार करना चाहिये। जिन बातों में विचार करने पर युक्त्यागम विरुद्धता न पाई जाती हो उस विषय पर आना-कानी करना हठग्राहिता के सिवा और कुछ नहीं हो सकता है। साथ में आचार्य वचनों की अवहेलना करने के कारण घोर मिथ्यात्व का कारण है। बहुत से लोग उस विषय से अनभिज्ञ होने के कारण कुछ लोगों के कहें अनुसार उनके पीछे चलने लगते हैं। ऐसे लोग दया के पात्र हैं और कोई-कोई विद्वान अपने स्वार्थ साधने के निमित्त विषय से परिचित होते हुये भी किसी श्रीमान को खुश करने के निमित्त अन्यथा ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसे लोग घोर पापी हैं। इसलिये उन सब महाशयों से मेरा सादर निवेदन है कि शास्त्र की आज्ञा जो है उस विषय को आप मनन कर शिरोधार्य करें। यदि आप शांति से विचार करेंगे, तो अवश्य आपको इस अभिषेक की उपादेयता समझ में आजायेगी। यदि आप इससे सहमत ना भी हों, तो कृपया मुझ पर क्रुद्ध न हों और न उन पूज्य ऋषियों-महर्षियों को अप्रमाण कोटि में सिद्ध करने की कुचेष्टा ही करें क्योंकि जिन शासन को पालन न करने की क्रिया के साथ-साथ यह भी पाप का ही कारण होगा।

इस समय प्रत्येक सम्प्रदाय सत्य की खोज में लगा हुआ है। ऐसी अवस्था में जैन समाज के भी विवेकी पाठकों से हम यह आशा किये बिना नहीं रह सकते हैं कि वे अपनी हठग्राहिता को छोड़कर सत्य सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार हों। प्रत्येक मानव का यह ध्येय होना चाहिये कि 'जो सत्य है वह हमारा आदर्श है' और यह न हो कि 'जो हमारा अभिमत है वही सत्य है' इसलिये निष्पक्ष हृदय वालों को सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिये।

जो भाई, आरम्भ होता है इस कारण अभिषेक या पंचामृताभिषेक का निषेध करते हैं उनसे हमारा निवेदन है कि क्या श्रावक की अन्य क्रियायों में आरम्भ नहीं होता है तो फिर उनका आप निषेध क्यों नहीं करते हैं ? पूजा करने से भी तो आरम्भ होता है फिर अच्छा है केवल दर्शन करने से ही सन्तुष्ट हो जायें, फिर हम पूछते हैं कि दर्शन करने में भी आरम्भ होता है इसलिये यह बहतर है कि घर में ही बैठकर जाप्य दे देवें। इस प्रकार विचार करने से क्या फल निकलता है आप स्वयं विचार करें।

इस प्रकार आरम्भ के भय से जो शास्त्र विहित क्रियाओं को छोड़ने का आग्रह करते हैं वे उन विकृत मस्तिष्क व आलोक जानबूझ कर मौका देते हैं जो सबको आर्य समाजी बनाना चाहते हैं। फिर ये मन्दिर और मूर्ति वगैरह की किसी को आवश्यकता नहीं होगी। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आरम्भ के भय बताकर जो जिनाज्ञा के उल्लंघन करने के आदेश को करते हैं वे जिनाज्ञा लोपी होने के अलावा घोर पाप बन्ध करते हैं। इस विषय में श्री योगेन्द्र देव के निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य हैं कि-

आरंभे जिणण्हइवेजोसावज्जं भणंतिदंसणं । तेण जिम इयलोयो इच्छुण काई उभंति ॥

भावार्थ—जो पुरुष भगवान के अभिषेक में पाप गिनता है उसको कभी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।

इसलिये आरम्भ का भय बता कर जिनाभिषेक का निषेध करना जिन मार्ग का निषेध करना है और इसके अलावा गृहस्थ ऐसे आरम्भ के त्यागी भी नहीं हुआ करते हैं। दूसरी बात गृहस्थ को जिन कार्यों के करने में पाप कम लगता हो और पुण्य बन्ध अधिक होता हो ऐसी क्रियाओं को करना चाहिये।

उदाहरणार्थ मन्दिर बनवाने में अनेक प्रकार का आरम्भ होता है तथा अनेक प्राणियों की हिंसा होती है, क्या इसका तात्पर्य है कि मन्दिर नहीं बनवाना चाहिये, कदापि नहीं। कारण कि जिस मन्दिर के बनवाने में इतना आरम्भ होता है उसी से असंख्य प्राणियों का कल्याण भी होता है। इसलिये सावद्य लेश होने से पुण्य राशि अधिक होने से दोष युक्त नहीं है। इस विषय में आचार्य समन्तभद्र के निम्न वाक्य बड़े महत्व के हैं कि-

पूज्यं जिनं त्वर्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्य राशौ।
दोषायनालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥

हे भगवान आपकी पूजा करने में जो आरम्भ होता है वह बहुत ही अल्प है अर्थात उससे पाप का आस्रव अतिमन्द रूप से होता है कारण कि आपकी चरण भक्ति से उत्पन्न जो पुण्य राशि रूपी जल है वह अगाध है जिस प्रकार शीतल जल से भरे समुद्र को विष की कणिका दूषित नहीं कर सकती है उसी प्रकार पूजन आदि कार्यों में उत्पन्न भक्ति से जो सातिशय पुण्योपार्जन होता है उसको तज्जनित आरम्भ पाप जरा भी दूषित नहीं कर सकता है। इसलिये इस विषय में आरम्भ विषयक भय बताना विवेक शून्यता को स्पष्ट करता है।

इतना ही नहीं सार संग्रह के रचयिता महर्षि ने तो यहां तक लिखा है कि-

जिनाभिषेके जिने प्रतिष्ठा जिनालये जैन सुपात्र कावाम् ।
सावद्यलेशो वदते स पापी स निन्दको दर्शनघात कश्च ॥

जो पुरुष भगवान का अभिषेक करने में, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने में, जिनालय के निर्माण कराने में तथा जिन यात्रा, तीर्थ-यात्रा आदि में सावद्यलेश अर्थात् हिंसादिक आरम्भ पाप बतलाते हैं वे जैन धर्म को पालन करते हुये भी मिथ्या दृष्टि और पापी हैं। सम्यग्दर्शन के घातक हैं और निंदा करने वाले हैं। यहां पर ऐसे पुरुषों को दर्शन का घातक बतलाया है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अष्टपाहुड में ऐसे दर्शन घाती को मोक्ष प्राप्त करने का निषेध किया है।

दंसण भट्टा भट्टा संदण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसण भट्टाण सिज्झंति ॥

बहुत से लोग अपनी हठग्राहिता से इस अभिषेक (पंचामृताभिषेक) को काष्ठा संघ के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कहकर निषेध करते हैं। उनमें से बहुत कम अर्थात इने-गिने व्यक्ति ऐसे होंगे जो इस काष्ठासंघ और मूल संघ के उत्पत्ति भेद इत्यादि को जानते होंगे। बहुत से महाशय ऐसे अभिषेक सरीखे विषय जो उनकी बुद्धि में, समझ में नहीं हैं, जिस शास्त्र में वर्णित हों झट से कह देते हैं कि यह तो काष्ठा संघ का है। भट्टारक प्रणीत ग्रन्थ है उनकी अक्ल कम हो तो दूसरा इलाज ही नहीं है। हम यहाँ पर यह परीक्षा करने को नहीं बैठे हैं कि कौन संघ प्रमाण है, कौन सा अप्रमाण है क्योंकि अभी अवसर नहीं है। परन्तु ऐसे अविवेकियों की बात पर कुछ धर्मात्मा भाई भी अविचार पूर्ण प्रवृत्ति करते हैं। जहां मूल संघ के भी प्रमाण जिस विषय के मिलते हों फिर भी उसे अन्यथा रूप बताकर प्रवृति करना यह श्रुत का अवर्णवाद है ऐसे लोगों के लिये दर्शन मोहनीय का बन्ध होता है।

जो लोग ऋषि प्रणीत मार्ग को उठाने की धुन में हैं उन कूढा पंथियों के लिये यह हमारा प्रयास नहीं है क्योंकि वे न तो काष्ठा संघ को प्रमाण मानते हैं और न मूल संघ को। उनकी दृष्टि में यह सब शास्त्र स्कूली किताबें हैं। वे चाहते हैं कि यदि क्रम से इन आगमों को हम अप्रमाण ठहरा दें तो फिर हमारे मतलब की बात ही कही जावेगी। ऐसी लोगों के लिये दूर से नमस्कार है।

परन्तु जो अपनी ऋषि परम्परा के आम्नाय को प्रमाण स्वीकार करते हैं परन्तु अपितु कुछ विषयों की व्यवहार नीति को देखकर अपनी अजानकारी से अन्यथा समझ बैठे हैं उनको इस विषय पर निष्पक्ष विचार करना चाहिये। आम्नाय के दुरभिमान को एक तरफ रखकर निष्पक्ष बुद्धि से आगम की आज्ञा पर विचार करना चाहिए। हम प्रकृति विषय पर मूल संघाम्नायी ग्रन्थों से ही विचार करते हैं। फिर भी उनका वही राग चलता रहे इसका तो हमारे पास कुछ इलाज है भी नहीं।

दिगम्बर जैन आम्नायी श्री सोमदेव सूरि द्वारा निर्मित यशस्तिलक चम्पू एक अत्यन्त प्रमाणीक ग्रन्थ है और आचार्य सोमदेव मूल संघ में प्रसिद्ध हैं। इस में कोई विवाद नहीं है। मूल संघ में जो संघ भेद हुये थे वह चार संघ प्रमाण कोटि में ग्रहण करने योग्य हैं। उनमें एक देवसंघ भी है। इन्द्रनन्दि कृत नीति सार में इन चार संघों का उल्लेख किया है और यह भी बताया है कि इन चारों संघों के आचार विचार और सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है इसलिए यह मूल संघ का ही भेद है अतएव प्रमाण है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि देवसंघ मूलसंघ का ही एक भेद है। जिस प्रकार हमें मूल संघ आदरणीय है उसी प्रकार देव संघ भी आदरणीय है। इसीलिए सोमदेव देव संघ के आचार्य थे। यही मालूम होता है। साथ में इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के आधार से उन संघों के ऋषियों की परम्परा व चिन्ह हमें मालूम होते हैं। उससे यह जान सकते हैं कि देव संघ के आचार्यों के अन्त में देव पद रहता है। यही ऋषि परम्परा पद्धति है। इससे यह जानने में विलम्ब नहीं होगा कि सोमदेव देवसंघ के एक उद्भट विद्वान थे।

सोमदेव के दादा गुरु यशोदेव थे और नेमिदेव थे और उनका स्वयं का नाम सोमदेव था। और स्वयं सोमदेव ने यशोदेव को संघ के तिलक ऐसा स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे भी मालूम होता है कि परम्परागत देव पद के चिन्ह होने से ये अवश्य देवसंघ के आचार्य थे इसलिये मूलसंघ के

आचार्यों के समान ही आदरणीय हैं। इसके अलावा इन्द्रनन्दि कृत नीतिसार में जिन-जिन आचार्यों के द्वारा प्रणीत शास्त्रों को प्रमाण कोटि में लेना हो उन आचार्यों का नामोल्लेख किया है। उससे "सोमदेवो विदाम्बरः" ऐसा शब्द पड़ा है। इसलिये सोमदेव मूलसंघ के आचार्य हुये हैं। इसमें तिल मात्र भी सन्देह नहीं है। सोमदेव द्वारा प्रणीत कई ग्रन्थ हैं। यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म तरंगिनी, पण्णवति प्रकरण आदि ग्रन्थ उनकी विद्वत्ता के लिए साक्षी हैं। ये किसी एक विषय के विद्वान नहीं थे अपितु प्रत्येक विषय में अर्थात न्याय, साहित्य, सिद्धांत, ज्योतिष और व्याकरण विषय के अद्वितीय विद्वान थे ऐसी अवस्था में हमारा लिखने का प्रयोजन तो इतना ही है कि सोमदेव की प्रमाणिकता उनकी विद्वता की दृष्टि से ही नहीं उनके मूलसंघ के आचार्य होने के कारण भी निर्बाध है।

ऐसा श्री सोमदेव सूरि यशस्तिलक चम्पू में लिखते हैं कि "द्राक्षा, खजूर, इक्षु, आम्र, आदि रसों के द्वारा श्री जिनेन्द्र का अभिषेक करता हूँ। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। श्री सोमदेव सूरि मूल संघ के आचार्य हैं वे भी जिनाभिषेक मानते हैं। भले ही चाहे पंचामृत हो या जलाभिषेक हो उन्होंने अभिषेक को स्वीकार किया है यह बात उक्त प्रमाण से निर्बाध सिद्ध है।

षट्प्राभृत की श्रुत सागर सूरि कृत वृत्ति है। उसमें उन्होंने मूल संघ का उल्लेख करते हुये लिखा है कि श्री मूल संघो मोक्षमार्गस्य मूल कथितं नवुजैनाभाषादंक" आगे चलकर एक स्थान पर प्रतिमा कौनसी वन्दनीय है इसका उल्लेख करते हुये लिखते है कि "यातु जैनाभास रहिते : साक्षादर्हत संघ प्रतिष्ठिता चक्षुरतनादिषु विकार रहिता नन्द संघ, सेन संघ, देव संघ, सिंह संघे समुपन्यरता सावन्दनीय इस दृष्टि से यह निश्चित है कि देव संघ मूलसंघ का ही एक भेद है इसलिए सोमदेव आचार्य देवसंघ के आचार्य थे और उन्होंने जिनाभिषेक को स्वीकार किया है अत: अर्हन्त का अभिषेक आगम के अनुकूल है। जो इसका निषेध करते हैं वे स्वयं जैनाभास हैं और ढूंढकमत के प्रचारी हैं।

प्रात: स्मरणीय भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत षट्प्राभृत ग्रन्थ है, उस ग्रन्थ की वृत्ति श्री श्रुतसागर सूरिकृत है। श्री श्रुतसागर सूरि की विद्वता कितने उच्च दर्जे की थी यह बताने की आवश्यकता नहीं है उनके बनाये हुये बहुत से ग्रन्थों की वृत्ति उपलब्ध हैं। यशस्तिलक चम्पू की वृत्ति भी उन्हीं की है।षट् प्राभृत के ऊपर भी उक्त सूरि की वृत्ति है षट् प्राभृत की वृत्ति एवं यशस्तिलक की वृत्ति से ज्ञात होता है कि वे कलि काल सर्वज्ञ, कलि काल गौतम गणधर, उभय भाषा चक्रवर्तित आदि अनेक पदवियों से अलंकृत थे। उन्होंने 99 महावादियों को वाद में परास्त किया था यशस्तिलक चम्पू की वृत्ति के तीसरे आश्वास के अन्त में उन्होंने लिखा है कि-

"इति श्री पद्मनन्द देवेन्द्रकीर्ति विद्यानन्द मल्ल भूषणाम्नायेन भट्टारक श्री मल्लभूषणगुरु परमाभीष्ट" इत्यादि बहुत बड़ी वृत्ति है वहां के देखने से पता चलता है कि इनके बनाये हुये अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं व टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उनकी प्रशस्तियों से मालूम होता है कि ये श्रुतसागर सूरि मूल संघ, सरस्वती गच्छ बलात्कार गण आचार्य विद्यानन्द के शिष्य थे। उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार की थी-

पद्मनन्दि, देवेन्द्रकीर्ति विद्यानन्द इसलिए अब इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं रही कि श्रुतसागर सूरि मूल संघ के मुनि थे। यह

बात उपर्युक्त कथन से स्पष्ट सिद्ध है। षट्प्राभृत ग्रन्थ की वृत्ति भी इन्हीं श्रुतसागर सूरि की है। बोध प्राभृताधिकार में वैयावृत्य के प्रकरण में लिखते हैं कि-

"तथा चकारात्पाषाणादिघटि तस्य जिनबिंबस्य पंचामृतै स्नपनं अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पुजनकुरुत यूयम् वन्दनां भक्तिं च कुरुत:। यदि तथा भूतं जिनबिम्ब न मानिष्यथ गृहस्था अपि तंतस्तदा कुम्भीपाकादि नरकादौ प्रतिष्यथ यूंयं"

इस उपर्युक्त गद्य पाठ में चकार जो पड़ा है उसमें पाषाण की जिन प्रतिमा का पंचामृत द्रव्यों से अभिषेक और अष्ट प्रकार पूजन द्रव्यों से पूजन करो। यदि इस प्रकार की जिन प्रतिमाओं को नहीं मानेंगे तो गृहस्थ होते हुये भी कुम्भीपाकादि नरकों में पड़ेंगे। इत्यादि

यह वैयावृत्य का प्रकरण है आचार्य देव ने यहां भी जिनाभिषेक को नरकादिक से बचने के लिए योग्य और मान्य बतलाया है। ये आचार्य मूलसंघ के प्रमाणिक आचार्य हैं भले ही उन्होंने पंचामृत अभिषेक की प्रेरणा दी है और पंचामृत का उल्लेख किया है परन्तु जो मात्र अभिषेक का निषेध कर गृहस्थ को इस कुम्भीपाक से बचने के लिए प्रेरणा दे रहे हैं वे इस जिनाभिषेक को हेय बतलाकर स्वयं तो कुम्भीपाक में जाने वाले हैं ही और बेचारे जो गृहस्थ भगवान का अभिषेक नित्य प्रति करके कुम्भीपाक से बचने के लिए उद्यम कर रहे हैं उन्हें भी कुम्भीपाक को भेजने की तैयारी करें यह कितने दु:ख की बात है। अत: सद् गृहस्थों को निरन्तर जिनाभिषेक करना कुम्भीपाक से बचने का सर्वोत्तम आगम विहित मार्ग है। उसका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक महाअभिषेक पाठ है। जो महर्षि पूज्यपाद आचार्य द्वारा विरचित है। महर्षि पूज्यपाद को कौन नहीं जानता है। जैन धर्म में जन्म लेने वाले बच्चे-बच्चे पूज्यपाद स्वामी के नाम से परिचित हैं। स्वामी पूज्यपाद की विद्वत्ता के विषय में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। तत्वार्थ सूत्र के उपर जो सर्वार्थसिद्धि वृत्ति है वह श्री पूज्यपादाचार्य रचित है। पूज्यपाद आचार्य हर एक विषय के निष्णात विद्वान थे। न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, सिद्धान्त आदि सम्पूर्ण विषयों में प्रवीण थे इस बात के लिए उनके ग्रन्थ निदर्शन हैं। जिनेन्द्र व्याकरण जैसे व्याकरण के निर्माता परमपूज्य पूज्यपाद ही हुए हैं। उनके द्वारा रचित ज्योतिष ग्रन्थ भी मैसूर प्रान्त में किसी विद्वान के पास है ऐसा अभी मालूम हुआ है। पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ द्रविड प्रान्त में किसी श्रेष्ठी के यहाँ मौजूद हैं यह भी विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है। इसके अलावा शालिग्राम में भी इस की एक प्रति है। कहने का प्रयोजन इतना ही है कि पूज्यपाद ऋषि लक्षण कथन के अन्दर प्रसिद्धि प्राप्त होने के अलावा ये प्रत्येक विषय के विद्वान थे। उनके बनाये हुए बहुत से ग्रन्थ हैं उन ग्रन्थों में एक पूज्यपाद कृत अभिषेक पाठ भी है जो बम्बई सरस्वती भवन में आज भी सुरक्षित है।

यद्यपि परमपूज्य पूज्यपाद स्वामी का अभिषेक पाठ संक्षिप्त होते हुए भी बहुत महत्व का है। इसकी रचना शैली वर्णनक्रम बहुत अच्छे मालूम होते हैं साथ में यह बात ध्यान में रखने की है कि पूज्यपाद आचार्य का दूसरा नाम देवनन्दि था। इस अभिषेक पाठ का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है-

आनम्येवां विसृज्यामरगण मपिय: पूज्यते पूज्यपाद: ।
प्राप्नोत्येवाशसौख्यं भुविदिवि विबुधा देवनन्दीडित श्री: ॥

इस श्लोक से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि श्री पूज्यपाद स्वामी का दूसरा नाम देवनन्दि था और यह अभिषेक पाठ महर्षि देवनन्द्यापरनाम पूज्यपाद कृत है। इस ग्रन्थ में उक्त महर्षि ने पंचामृत अभिषेक की स्पष्ट आज्ञा दी है। अत: जो लोग अर्हन्त अभिषेक को आगमानुसार नहीं मानते हैं उन्हें तथा जो आगम को प्रमाण मानते हैं उन्हें भी इस ग्रन्थ को अवश्य देखना चाहिए। भूमिशोधन, पीठास्थन आदि के अनन्तर सबसे प्रथम जलाभिषेक का वर्णन है तद्नन्तर नारिकेल रसाभिषेक, आम्ररसाभिषेक, घृताभिषेक, क्षीराभिषेक, दधिअभिषेक का बड़े ही सुन्दर पद्यों में वर्णन देखने को मिलता है।

इस प्रकार पंचामृत अभिषेक का वर्णन कर आगे चूर्णाद्वतन कषायोदक अभिषेक के अनन्तर चतुकौण कुम्भों के जलाभिषेक का उल्लेख किया है। इसके अनन्तर गन्धोदकाभिषेक का वर्णन है। इसके अनन्तर अष्ट विधार्चन करने की विधि है। वस्तुत: देखा जाये तो यही जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने की प्राचीन विधि है। पूज्यपाद (देवनन्दि) मूलसंघ के चार भेदों में से नन्दिसंघ के परम श्रद्धेय आचार्य थे। जिन्होंने जिनाभिषेक को विधि पूर्वक बतलाकर श्रद्धावान श्रावक गृहस्थों को कुम्भीपाक से बचाने का मार्ग प्रदर्शन किया है। अत: अर्हन्त प्रतिमा पर अभिषेक का निषेध करने वाले मित्रों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

इसी तरह गुणभद्र कृत अभिषेक पाठ में भी विस्तृत प्रकरण आया है। जिस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

अब आइए सबसे प्रथम, प्रथमानुयोग के महान ग्रन्थ हरिवंश पुराण पर, जो जिनसेन स्वामी रचित है एक दृष्टिपात करें। दिगम्बर जैनागम में स्वीकृत प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में हरिवंश पुराण भी एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उपलब्ध प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण और बरांग चरित इससे भी प्राचीन हैं। पद्मपुराण के करीब 106 वर्ष बाद इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। यही कारण है कि जिनसेन स्वामी ने अपने ग्रन्थ में रविषेण कृत पद्मचरित का उल्लेख किया है। महापुराण के रचयिता भगवत जिनसेनाचार्य भी हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन स्वामी के समकालीन थे। महापुराण के जिनसेन स्वामी संघ भेद में वर्णित सेनसंघ के थे। और वे अपने को पंचस्तूपन्वय के बतलाते हैं- दोनों बातों का एक ही अर्थ है। उनकी गुरु परम्परा भी सेन शब्द से अंकित होती आ रही है इसलिए वे मूल संघ के चार भेदों में से ''सेनसंघ'' के थे।

हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन पुन्नाट संघ के हुए हैं। यह ग्रन्थ प्रशस्ति से मालूम होता है। वस्तुत: यह संघ का मूलभेद नहीं है- चार संघों में पुन्नाट संघ का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी अवस्था में ये जिनसेन या तो सेनसंघ के होना चाहिए अथवा नन्द संघ के परन्तु यह पुन्नाट संघ का उल्लेख आया है यह उनके रहने के देश विशेष के कारण हो सकता है। पुन्नाट देश में रहने के कारण पुन्नाट संघ के कहलाये हैं।

प्राचीन इतिहासों में कर्नाटक में पुन्नाट का अस्तित्व था यह बात मालूम होती है अथवा यह कल्पना की जा सकती है। श्रुतावतरण में भिन्न-भिन्न स्थान व वृक्ष मूल से आये हुए मुनियों को भिन्न-भिन्न संज्ञा दी गई है। उससे यह हो सकता है कि पुन्नाग वृक्ष जिसका नामान्तर नाग केशर भी हो सकता है और श्रुतावतरण में खंड केशर नाम से उल्लेख किया है। उस पुन्नाग वृक्ष के मूल में आने वालों को उस नाम से व्यवहृत किया होगा। जो हो। हमें इस विषय पर विशेष लिखना नहीं है।

अत: निर्विवाद सिद्ध है कि जिनसेन स्वामी मूलसंघ के थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में भगवज्जिनसेनाचार्य और उनके गुरु वीरसेन स्वामी को स्मरण किया है इससे मालूम पड़ता है कि वे मूलसंघ के ही थे।

इसके अलावा हरिवंश पुराण में उन्होंने वज्रनन्दि जो नन्द संघ के आचार्य थे और पूज्यपाद (देवनन्दि) के शिष्य थे उनका स्मरण किया है। उनकी गुरु परम्परा से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे मूल संघ के थे।

माणिकचन्द ग्रन्थ माला से प्रकाशित मूल ग्रन्थ की प्रस्तावना में एक दान पत्र व अन्य प्रमाणों के उल्लेख करते हुए श्री पं. नाथूराम जी प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि पुन्नाट संघ, नन्दिसंघ का ही एक भेद है नन्दि संघ मूल संघ के चार भेदों में से प्रसिद्ध भेद है। इस मूल संघ सम्मत हरिवंश पुराण में इस प्रकृत जिनाभिषेक के प्रकरण में यद्यपि पंचामृत अभिषेक के लिए एक प्रमाण मिलता है "अर्थात पंचामृतों के द्वारा पूर्ण कलशों से जिन भगवान का अभिषेक किया" इसके अलावा एक दो जगह और भी इसी ग्रन्थ में जिनाभिषेक (पंचामृत) का उल्लेख मिलता है।

जबकि मूल संघ के आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में स्पष्ट जिनाभिषेक का उल्लेख पाया जाता है तब न मालूम क्यों कुछ मन चले अपने को विद्वान समझने वाले अर्हन्त प्रतिमा के अभिषेक को आगम के प्रतिकूल बताकर भोली समाज को गुमराह करके कितना भयंकर पाप करते हैं।

इन उपर्युक्त ग्रन्थों में आचार्यों ने पंचामृत अभिषेक का ही विधान प्रतिपादित किया है परन्तु आज तो पंचामृत अभिषेक का निषेध करते करते जलाभिषेक पर आक्रमण कर दिया है यह कितने दु:ख की बात है इतना ही नहीं अब वर्द्धमान कविकृत वरांगचरित पर भी दृष्टि डालिए।

वरांगनेव सर्वांगै वरांग चरितार्थभाक्।
कस्य नोत्पादयेद्गाढ मनुराग स्वगोचरम्॥

—हरिवंश पुराण सर्ग 1 श्लोक 35

ऊपर उल्लिखित हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन स्वामी ने अपने हरिवंश पुराण में वरांग चरित की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इससे मालूम होता है कि वरांग-चरित हरिवंश पुराण से भी प्राचीन है।

बहुत से लोगों की यह कल्पना है कि वरांग चरित के कर्ता रविसेनाचार्य थे। इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता है और न अभी रविसेनाचार्य प्रणीत कोई वरांग चरित उपलब्ध हुआ है। ऐसी अवस्था में जब तक वह ग्रन्थ उपलब्ध न हो या कम से कम उसका रविषेण कृतत्व निश्चित न हो तब तक इस समय उपलब्ध वर्द्धमान भट्टारक (भट्टारक शब्द का प्रयोग मुनियों के साथ भी हो सकता है) कृत वरांग चरित ही हरिवंश पुराण में उल्लिखित है यह कहना अनुचित न होगा।

वर्द्धमान भट्टारक मूल संघ में हुए हैं यह बात ग्रन्थ की प्रशस्ति से मालूम होती है प्रशस्ति में लिखा है कि "पृथ्वी में प्रसिद्ध मूल संघ के बलात्कार गण में भारती गच्छ में सम्पूर्ण गुणों के निधि श्री वर्द्धमान भट्टारक हुए। उन्होंने वरांग चरित की रचना की जो कि भव्यों का कल्याण करने वाला है। इस पृथ्वी पर जब तक सूर्य व तारे रहेंगे तब तक यह चरित भी स्थिर रहे।"

इसकी रचना शैली, भाषा की सुन्दरता, अर्थ सौष्ठ व एवं गाम्भीर्य इत्यादि बातों को देखते हुए कवि के प्रति पूर्ण आदर भाव उत्पन्न होता है। वे अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे इसमें कोई सन्देह नहीं है। उनको 'परिवादिदन्ति पंचानन' यह उपाधि थी। इन्होंने अनेक वादियों को अपनी अलौकिक विद्वता के द्वारा परास्त करके जैन धर्म की अतीव प्रभावना की है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य लक्ष्य "सम्यग्दर्शन" के महत्व बताने का है। यह ग्रन्थ सुश्राव्य ही नहीं अति सरल है। वरांग राजा दिग्विजय करके जब आता है उसके अनन्तर जिनालय निर्माण कराते हैं। उसकी प्रतिष्ठा आदि विधि कराते हैं इसी बीच के अवसर में रानी के प्रार्थना करने पर राजा वरांग अनेक प्रकार से गृहस्थ धर्म का उपदेश देते हैं। कि-

यः संस्नाप्य जिनेश विधिवत्पंचामृतैर्जिनं यजते ।
जलगन्धाक्षतपुष्पैर्नैवेद्यै दीपधूपफलनिवहैः ॥
यो नित्यं जिनमर्चित स एव धन्यो निजेन हस्तेन ।
ध्यायति मनसा शुचिता स्तौतिव जिव्हाग्रतैस्तोत्रै ॥

—वरांग चरित सर्ग 12 श्लोक 16-17

भावार्थ—पंचामृत अभिषेक करके भगवतअर्हद परमेष्ठी की पूजा जल गंधाक्षत पुष्प चरु दीप धूप फल इनसे जो नित्य पूजा करता है वही धन्य है। अतः पूजा अभिषेक पूर्वक ही होना चाहिए।

इस आगम प्रमाण से जो मूल संघ के आचार्य हैं उनसे भी पंचामृत तो सिद्ध होता है परन्तु अभिषेक जिनेन्द्र देव का होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध हो रहा है ध्यान पूर्वक पढ़िये।

अब आइये और पद्मचरित के रचयिता श्री रविसेन स्वामी जी को जो काष्ठा संघ के आचार्य कहकर उनकी उपेक्षा करते हैं उनके सम्बन्ध में शान्तिपूर्वक विचार करें।

प्रथमानुयोग के उपलब्ध ग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना महावीर निर्वाण होने के 1203 वर्ष बाद हुई है। भगवज्जिनसेनाचार्य (महापुराण के कर्ता), जिनसेन स्वामी (हरिवंश पुराण के कर्ता) भी इसके अनुमानत: 100 वर्ष बाद ही हुये थे। रविसेनाचार्य ने अपनी गुरु परम्परा में इन्द्रगुरु दिवाकर यति- अर्हन्त मुनि लक्षणसेन रविषेण इस प्रकार उल्लेख किया है।

पद्मचरित का विषय वर्णन अत्यन्त रोचक ही नहीं प्रत्युत अत्यन्त महत्व का भी है। उनकी अगाध विद्वता और गम्भीरता की अन्य सम्प्रदाय के ग्रन्थ कर्ता भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य उद्योतन सूरि ने अपने 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत ग्रन्थ में रविषेणाचार्य व उनकी कृति का उल्लेख किया है।

जेहिं कए रमणिज्जे वरंग, पउमाण चरित वित्थारे ।
कहवण सत्ताहणिज्जे ते कईणो जइय रविषेणो ॥

अर्थात जिसने स्मरणीय, वरांग चरित (यह वरांग चरित ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है। जयचार्य और वर्द्धमान भ. कृत उपलब्ध है।) व पद्मचरित का विस्तार किया है ऐसे कवि 'रविषेण' की कौन सराहना नहीं करेगा।

इसके सिवाय एक जयचार्य कृत वरांग चरित उपलब्ध है संभवत: उसी वरांग चरित का उल्लेख हो। ऐसी अवस्था में टिप्पणी में जो गाथा है उसमें 'जइय' पद के स्थान में जडिल पद होना चाहिये ऐसा श्री प्रोफेसर ए. एन. उपाध्याय का मत है। बहुत कुछ ठीक भी हो सकता है।

जयचार्य की प्रशंसा महापुराण के कर्ता स्वामी जिनसेन ने भी की है। यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि आचार्य रविसेन मूल संघ के थे। कारण उनके समय तक कोई अन्य संघ भेद नहीं हुआ था। नन्दि सेन सिंह देव इस प्रकार संघ भेद अकलंक देव के स्वर्गवास के बाद हुए हैं ऐसा उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।

बहुत से विद्वानों का मत है कि रविषेणाचार्य काष्ठा संघ के थे। इसलिए उनके ग्रन्थ प्रमाणिक नहीं हैं। परन्तु वे भले आदमी इस विषय पर कोई प्रबल प्रमाण नहीं देते हैं। रविषेण स्वामी के समय में तो मूल संघ के चार भेद भी स्पष्ट नहीं हुए थे। काष्ठा संघ की उत्पत्ति कितने ही समय के बाद की है। जैसा कि नीतिसार में इन्द्रनन्दि उन चार मूल संघ के भेदों में वर्णन करने के बाद कहते हैं कि-

किंवत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरों अभवत
द्राविड़ो यापनीयश्च काष्ठासंघश्च मानत:

—नीतिसार श्लोक 9

रविसेनाचार्य जब पदम पुराण की रचना को पूर्ण कर चुके थे, उसके कई वर्षों बाद काष्ठा संघ की उत्पत्ति हुई है। ऐसी अवस्था में उनको काष्ठा संघी बताना यह नितान्त भ्रम है। इस विषय पर अनेक ग्रन्थों के सम्पादक एवं संशोधक अनुभवी स्व. श्री पं. पन्नालालजी सोनी अपने दिनांक 1 जून, 1932 के पत्र में लिखते हैं कि

'मेरी समझ में आगम प्रमाण मानने वालों को यह पुष्ट प्रमाण होगा कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति का समय दर्शनसार के अनुसार 753 विक्रम सम्वत है (यह ग्रन्थ बम्बई से जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से छपा है।)। रविषेणाचार्य ने पदमपुराण की रचना वीर निर्वाण के 1203 वर्ष बाद पूर्ण की है। वीर निर्वाण से 470 वर्ष बाद विक्रम सम्वत प्रारम्भ है। अत: 1203 से 470 कम करने पर 733 पदमपुराण के पूर्ण होने का विक्रम सम्वत बैठता है। काष्ठा संघ की उत्पत्ति पदमपुराण बन जाने के बाद 20 वर्ष पीछे हुई है। ऐसी हालत में रविषेणाचार्य को काष्ठा संघ के हैं ऐसा किस आधार से माना जाता है यह मैं नहीं कह सकता' अर्थात ये काष्ठा संघ के नहीं हो सकते हैं' यह पत्र शोलापुर में आज भी सुरक्षित है।'

स्व. श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी पदमचरित की संक्षिप्त प्रस्तावना में लिखते हैं कि-

इन्होंने किसी संघ या गण का उल्लेख नहीं किया है। जिससे मालूम होता है कि उस समय तक दिगम्बर सम्प्रदाय में देव-नन्दि-सेन-सिंह संघों की उत्पत्ति नहीं हुई थी कम से कम ये भेद बहुत स्पष्ट नहीं हुये थे।

शक सम्वत 1355 के लिखे नगराज कवि के शिलालेख में इस बात का उल्लेख किया गया है कि भट्टाकलंक देव के बाद यह संघ भेद हुआ है।

तस्मिन्गते स्वर्ग भुवं महर्षौ, दिवः पतिं नर्तुमिव प्रकृष्टां ।
तदन्वयो भूत मुनीश्वराणां, व भुवस्त्यं भुवि संघ भेदाः ॥

इससे मालूम होता है कि वे काष्ठा संघ के नहीं थे। यद्यपि इस विषय पर इतिहास वेत्ताओं के लिए मतभेद रहेगा। फिर भी यह बात हर तरह से हर एक को स्वीकार होगी कि रविषेणाचार्य काष्ठा संघ के नहीं थे। परन्तु जो हठ से इस बात को पुष्ट करने के लिए कहेंगे तो यह समझना चाहिए कि वे सद्यविद्य का सम्बन्ध करना चाहते है। अस्तु।

उक्त मूल ग्रन्थ के शिरोमणि रविषेणाचार्य के द्वारा रचित पद्मपुराण में यद्यपि पंचामृताभिषेक का विधान मिलता है। परन्तु जो अर्हन्त अभिषेक को ही समूल नष्ट कर आगम विहित नहीं बताकर भोले समाज को पथ भ्रष्ट करना चाहते हैं उन्हें पद्मपुराण को देखना चाहिए जिसके कर्ता श्री रविषेणाचार्य हैं जो मूल संघ के शिरोमणि हैं।

इस उपर्युक्त विवरण पढने के बाद भी कोई महाशय ये काष्ठा संघ के हैं ऐसा कहकर न उड़ावें और अपने पक्ष में प्रबल प्रमाण समर्थन में उपस्थित करें अन्यथा उनके इस प्रलाप की उपेक्षा ही की जायेगी।

प्रस्तुत विषय अभिषेक के सम्बन्ध में रविषेण स्वामी ने जिस समय रामचन्द्र के लक्ष्मण सीता सहित वनवास के जाने के अनन्तर भरत को राज्याभिषेक हुआ तो भी भ्राता के वियोग से उनका चित्त स्थिर नहीं था ऐसा कथन है। इस प्रकरण में द्युति नाम आचार्य उन्हें गृहस्थ धर्म का विस्तृत उपदेश देते हैं उसमें प्रकृति विषय ऐसा लिखा है कि-

अभिषेकं जिनेन्द्राणां कृत्वा सुरभि वारिणा, अभिषेकं मवाप्नोति यत्र तत्रोपजायेत ॥
अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधायक्षीर धारया, विमाने क्षीर धवले जायते परम द्युति ॥
दधिकुम्भै जिनेन्द्राणां यः करोत्यभिषेचनं, दध्याम्भकुद्मे स्वर्गे जायते स सुरोत्तमा ॥
सर्पिषा जिननाथानाम् कुरुते योऽभिषेचनम् कान्तिद्युति प्रभावाढ्यो विमानेशः सजायते ॥
अभिषेकं प्रभावेण श्रूयन्ते बहवो बुधाः पुराणे ऽनंतवीर्याद्या द्युमूलब्धा भिषेचनाः ॥

जो जलाभिषेक के द्वारा भगवान का अभिषेक करते हैं वे भी स्वयं जहां-जहां उत्पन्न होते हैं अभिषेक को प्राप्त होते हैं। जो क्षीर से जिनेन्द्र देव अभिषेक करता है वह क्षीर समान शुभ्र विमान में प्रभा सहित देव होकर उत्पन्न होता है। जो दधि का अभिषेक करता है वह भी उत्कृष्ट स्वर्ग में जन्म प्राप्त करता है। जो घृत का अभिषेक करता है कांति तेज प्रभाव से युक्त होकर उत्तम विमान का अधिपति होता है।

इस प्रकार पंचामृत से अभिषेक करने से इह पर भव में सौख्य उत्पन्न करने वाली सम्पत्ति ही नहीं परम्परा से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार भगवान अर्हन्त प्रभू का अभिषेक करने का विषद विवरण पद्म पुराण में रविषेण स्वामी ने किया है इसके अतिरिक्त और भी विवरण इस ग्रन्थ में अभिषेक और पंचामृत अभिषेक के विषय में आया है परन्तु विस्तार भय से यह हमने देने में उपयोगी नहीं समझा। विवेकीजनों को तो इतना ही पर्याप्त है।

जिन्हों को अपने पूर्वाचार्य के वाक्यों पर श्रद्धा है उनके लिये ये वाक्य अमृत तुल्य हैं परन्तु जिन्हें अपने आचार्यों पर श्रद्धा नहीं उन्हें छद्मस्थ और अल्पज्ञानी बताकर मूल बात को ही साफ करने पर उतारू हैं उनके लिए हम कुछ भी लिखने में समर्थ नहीं है। हम तो विवेकीजनों के समक्ष विधि मार्ग प्रस्तुत कर रहे हैं कि वे अपनी विवेकतुला पर हमारे उक्त प्रमाणों को तौलें निष्पक्ष रूप से विचार करें।

आचार्य मल्लिषेण कृत नागकुमार चरित्र नामक ग्रन्थ है। परम पूज्य आचार्य मल्लिषेण पूर्वाचार्यों में नामांकित एक उद्भट विद्वान आचार्य हुए हैं। आप प्रत्येक विषय के निष्णात विद्वान आचार्य थे। आप के द्वारा रचित दो तीन कल्प ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। पद्मावती कल्प, ज्वालामालनी कल्प, सरस्वती कल्प आदि मंत्र शास्त्र इस बात के लिए सबल निर्देशक हैं कि आप मंत्र शास्त्र में पूर्ण रूप से अधिकार रखते थे। आपके द्वारा रचित

एक त्रिपृष्टि लक्षण महापुराण भी उपलब्ध है और एक नागकुमार चारित्र नाम का कथा ग्रन्थ भी उपलब्ध है। दोनों ही अपकी कृति हैं। इन दोनों ग्रन्थों के देखने से मालूम हो जाता है कि अनेक श्लोकों की समानता, रचना शैली की श्रेणी, भाव सादृश्य आदि बातों पर अनुमान करने से ही मालूम हो जाता है कि यह दोनों ही आपकी ही कृति हैं। इसके अलावा दोनों ग्रन्थों में जब परिच्छेद का अन्त किया है, वहां पर जो वाक्य लिखे हुये हैं दोनों एक दूसरे से मिलते हैं। इससे भी मालूम होता है कि दोनों के कर्त्ता एक ही मल्लिषेण हैं।

वे पंक्तियां दोनों ग्रन्थों की निम्न प्रकार हैं-

''इत्युभय भाषा चक्रवर्ति श्री मल्लिषेण सूरि विरचित त्रिपृष्टि लक्षण महापुराण संग्रहे श्री वर्द्धमान तीर्थंकर''

पुराणं समाप्तं (महापुराण मल्लिषेण)

''इत्युभय भाषा चक्रवर्ति श्री मल्लिषेण सूरि विरचितायां नागकुमार पंचमी कथायाम् नागकुमार निर्वाण गमनोनाम पंचम: सर्ग, (नागकुमार चरित)

इसके अलावा दोनों ग्रन्थों की प्रशस्ति से कवि चक्रवति की गुरु परम्परा जानने से और भी स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थों के कर्त्ता एक ही मल्लिषेण हैं।

नागकुमार चरित में जिनसेन, कनक सेन जिनसेन उनके भाई नरेन्द्रसेन तदनन्तर मल्लिषेण इसी प्रकार की परम्परा दी है। इसी प्रकार की परम्परा महापुराण में भी दी है। पाठकगण उनका अवलोकन इस निम्न श्लोक से प्रारम्भ करने का कष्ट करें-

जित कषायरिपुर्गुण वारिधिर्निवत चारु-चरित्र तपो निधि
जयतु भूपकिरीट विघहितद्युगो जिनसेन मुनीश्वरा:

—नागकुमार चरित

इत्यादि छह श्लोक नागकुमार चरित्र की प्रशस्ति में दिये हैं। वहाँ से उन्हें अवलोकन कर फिर महापुराण की प्रशस्ति को निम्न श्लोक से अवलोकन करने का कष्ट करे। सम्पूर्ण प्रशस्ति लेख के विस्तार भय से यहां हम देने में असमर्थ हैं। अत: महापुराण की प्रशस्ति का अवलोकन इस निम्न श्लोकों से प्रारम्भ करें।

श्री मूलजिनसेन सूरि, जिनेन्द्र धर्माम्बरचारुचन्द्र
राजेन्द्र मौलि प्रविचन्द्रचुम्बितां- घ्रिर्जीवादशेषजग पारदृश्वा ॥ 148 ॥

शिष्येऽग्रजः कनकसेन मुनिस्तदीय इत्यादि श्लोक ॥ 157 ॥ तक

महापुराण की प्रशस्ति को अवलोकन करना आवश्यक है।

इन उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की प्रशस्तियां दोनों ग्रन्थों के कर्त्ता एक मल्लिषेण है ऐसा सिद्ध करने के लिये हमारा प्रकृति प्रयोजन है और महापुराण की प्रशस्ति में जो "श्री मूल संघे जिनसेन सूरिः" इत्यादि पद्य आये हैं उससे यह भी सिद्ध होता है कि ये मल्लिषेण 'मूल संघ' के आचार्य थे इससे अन्य किसी संघ के नहीं थे। इन्हीं के द्वारा रचित नागकुमार चरित में प्रकृति विषय 'अभिषेक' का उल्लेख मिलता है।

प्रथम प्रकरण में जब राजा सपरिवार वन क्रीड़ा को जाता है तब उसकी प्रिय रानी पृथ्वी देवी कोई कारण पाकर अर्द्धमार्ग से दुखित होकर वापस आती है जिन मन्दिर में आकर पिहतास्रव नामक मुनिराज से ग्रहस्थ एवं यती धर्म का उपदेश करने की प्रार्थना करती है तब वे मुनीश्वर उपदेश देते हुये कहते हैं कि-

कारयित्वा जिनेन्द्राणां सद्विवं स्नापयन्ति ये चोचेक्ष्वाम्ररसैर्नित्यं आज्यदुग्धादिभिस्तथा
पूजं यति च ये देवं नित्यमष्ट विधार्चनः पूजां देव निकायस्व लभते वेऽन्यजन्मनि ।।

—नागकुमार चरित श्लोक 112-13

भावार्थः—जिनेन्द्र की सुन्दर प्रतिमा करा कर भव्य आम्र रस, इक्षुरस, नारियल का रस, दूध, घी आदि द्रव्यों से जो अभिषेक करते हैं व नित्य अष्ट विधार्चना से जो पूजन करते हैं वे दूसरे जन्म में देव समूहों के द्वारा पूज्य होते हैं। इसलिये इस पंचामृत अभिषेक का अचिन्त्य महात्म्य है। यद्यपि यहां आचार्य श्री मल्लिषेण स्वामी ने पंचामृत का उल्लेख बड़े जोर से किया है परन्तु हमारा जो विषय है कि जिनाभिषेक आगमानुकूल ही है उसकी पुष्टि चाहे पंचामृत हो चाहे जलाभिषेक जो लोग जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक को आगम के अनुकूल नहीं बताकर उसका निषेध करते हैं उनके लिये यह प्रमाण प्रस्तुत है कि जिनागम 'अभिषेक' को स्वीकार करता है। आचार्य मल्लिषेण मूल संघ के आचार्य हैं और वे अनेक विषयों में प्रवीण थे। मंत्र शास्त्र के गूढ़ रहस्यों के जानकार होने से उनका अधिकार क्रिया काण्ड विषय पर होना स्वाभाविक बात है वे मूल संघ में प्राकृत व संस्कृत के उद्भट आचार्य थे।

अतः जो मूर्ति, पूजा में विकृतियां बतलाकर क्रिया काण्ड और अष्ट विधार्चन आदि पूजा पद्धति पर प्रहार कर रहे हैं उन्हें उक्त आचार्य श्री के गौरव पूर्ण कथन का अवलोकन करना चाहिये।

आचार्य सकल कीर्ति विरचित श्रीपाल चरित-यतिवर सकल कीर्ति मूल संघ के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य हैं। उनके द्वारा रचित श्रीपाल चरित्र में लिखा है कि-

कृत्वापञ्चामृतैर्नित्यमभिषेकं जिनेशनां
ये भव्याः पूजयंन्युच्चैः ते पूज्यंते सुरादिभिः ॥

अर्थात—जो भव्य नित्य ही पंचामृत अभिषेक कर जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं वे भी देवों के द्वारा पूज्य होते हैं। यद्यपि यहां पंचामृत अभिषेक का विधान है परन्तु चाहे पंचामृत हो या जलाभिषेक जो अभिषेक को आगम के विपरीत बताते हैं उनको उक्त महर्षि जो मूल संघ के प्रसिद्ध आचार्य हैं उन्हें उक्त आगम वाक्य पर गंभीरता से सोचना चाहिए।

इसी ग्रन्थ में श्रीपाल जब द्वीपान्तर में गये वहां पर सहस्र कूट चैत्यालय को देखकर वहाँ पर पूजा करने को गये। इसी प्रकरण में-

मूर्ध्ना नत्वानु संस्नाप्यामृतैः पञ्चाविधैवरैः
जिनेन्द्र प्रतिमां भक्त्या पूज्यत्स शुभाप्तये

—श्रीपाल चरित्र श्लोक 63

अर्थात—वह श्रीपाल जिनेन्द्र भगवान को बारम्बार नमस्कार कर तदनन्तर पंचामृताभिषेक करके भक्ति से पूजन किया।

इसके अलावा और भी प्रथमानुयोग ग्रन्थों में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भगवान जिनसेनाचार्य कृत महापुराण में जगह-जगह पर महाअभिषेक करना चाहिए ऐसा उल्लेख है। विचक्षण जन अब विचार कर सकते हैं कि यह महाअभिषेक क्या है। और उसकी सामग्री कौन सी है। इस बात पर स्वयं विचार करें। भगवान का अभिषेक शास्त्र विहित है। चाहे पंचामृत हो चाहे जलाभिषेक। विधान है अभिषेक का।

इसके अलावा और कोई भी ग्रन्थ जिसमें इस विषय का उल्लेख है। चाहे वह गृहस्थ कृत हो चाहे यति कृत काष्ठा संघ या भट्टारककृत क्यों न हो परन्तु उन ग्रन्थों को इस विषय के प्रतिपादक होने के कारण अप्रमाणिक नहीं कहा जा सकेगा। यह बात ध्यान में रखनी होगी। क्योंकि पूर्वाचार्यों के अवरोध कथन प्रमाण कोटि में ग्राह्य हैं। अब हम कुछ श्रावकाचार जो इस विषय की आज्ञा देते हैं। उनका भी उल्लेख कर देना उपयुक्त समझते हैं।

महर्षि वसुनन्दि सिद्धान्त देव उनके द्वारा वसुनन्द श्रावकाचार प्रसिद्ध हैं और वे मूल संघ के आचार्य थे यह बात उक्त ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दी हुई गुरु परम्परा से ज्ञात होती है।

आसी ससमयसम-यविदसिरेकुन्दकुन्द संजणे
भव्वयणकुमुय वणसिसिरयरो सिरिणंदिनामेण

अर्थात—कुन्दकुन्द स्वामी की आम्नाय में स्वपरमत को जानने वाले, भव्य रूपी वनलों को प्रफुल्लित करने वाले श्रीनन्दि नाम के यति प्रसिद्ध थे।

सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरउ सिद्धान्तपारंगउ । खन्तीमद्दवलाह वालिदसहाधम्माम्मिणिच्चोज्जउ ॥
पुण्णेदुज्जल कित्तपूरिय जउ चारित्तलच्छीहरो । संजाऊ णयणंदिणाम मुणिणो भव्वा सयाणंदऊ ॥

भावार्थ—उसी श्रीनन्दि मुनि का शिष्य जिन शासन में रत, सिद्धांत में पारंगत उत्तमक्षमादि दश धर्मों को पालने में तत्पर, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल कीर्ति से विस्तृत जगत चरित्र रूप लक्ष्मी से युक्त भव्यों के चित्त में आनन्द उत्पन्न करने वाले नयनन्दि नाम के मुनी थे।

सिस्सो तस्स जिनागमजल णिहिवेलातरंगधुयमाणो । संजाऊ सयलजए विरव्ववाऊ णेमि चंन्दुत्ति॥
तस्स पसाएण मए आयरियपरंपरागयं एयं । वच्छल्लसावर इयं भवियाण मुवासयज्झयण ॥

उन नयनन्दि देव के शिष्य सर्व लोक में प्रसिद्ध जिनागम के पूर्ण रहस्य को जानने वाले नेमिचन्द्र नाम के थे। उनके प्रसाद से आचार्य परम्परा से आगत इस उपासकाध्ययन शास्त्र को भव्यों के प्रति आदर के साथ मैंने बनाया ऐसा श्री वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ति कहते हैं।

इस गुरु परम्परा से ज्ञात होता है कि श्री सिद्धांत चक्रवर्ति वसुनन्दि देव मूल संघ के उसमें भी नन्दि संघ के एक उद्भट आचार्य थे। उन्होंने स्वकृत श्रावकाचार में इस जिनाभिषेक का विधान किया है। यह इस प्रकार है-

जन्भाववारजम्मा हिसेयणिरक्खवणणाणणिव्वाणं । जम्मदिणे संजाद जिणण्हवणं तद्दिवने कुज्जा।
इक्खुरससाप्पदहिखीरजंधजलपुण्यविविहकलसेहि णिसजागरं च संती पणाडवाईहिकायव्वं ॥

तीर्थंकर के गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा, केवलज्ञान व मोक्ष कल्याण के दिनों में इक्षु रस, घी, दही, क्षीर, जल गन्धादिक से अभिषेक करना चाहिए। इत्यादि। इसी अर्थ को पंडित प्रवर मेघावी ने अपने धर्म संग्रह श्रावकाचार में समर्थन किया है।

पंडित मेघावी ने अपनी गुरु परम्परा को इस प्रकार प्रकट किया है। नन्दि संघ के मुकुट रूप कुन्द कुन्द स्वामी की आम्नाय में पद्मनन्दि-शुभ चन्द्र श्रुति मुनि हुए। इन्हीं श्रुत मुनि से मैंने अष्ट सहस्री आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। तदनन्तर रत्न कीर्ति विमल कीर्ति जिनचन्द्र का स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे मूलसंघाम्नायी थे उन्होंने उपर्युक्त अर्थ के समर्थन में लिखा है।

गर्भादिपंचकल्याणमर्हतां वर्दिनेऽभवत् तथानन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चार्चनम् ।
स्नपनं क्रियते नानारसैरिक्षुघृतादिभिः तत्र गीतादिमांगाल्यं कालपूजा भवोदयम् ॥

गर्भावतरणादि पंचकल्याण जिस दिन हुआ है। नन्दीश्वर, रत्न त्रय, पर्व दिनों में जिनेन्द्र भगवान की पूजा और इक्षु रस घृतादि पंचामृतों से अभिषेक करना इसे काल पूजा कहते हैं। इसी प्रकार उमास्वामी श्रावकाचार में-

शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिर्दुग्धदध्याम्रजैरसैः सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भीवात्संस्नापयेज्जिनान् ।

अर्थात—शुद्ध जल, इक्षु रस, घी, दूध, दही, आम्र रस इत्यादि के द्वारा भगवान को अभिषेक करता हूं।

जोजिणुण्हावइपवहिंणहाविज्जइसोई। सो पावइ जो जंकरइ पहुपसिद्धउ लोए ॥

—श्री योगेन्द्र देव श्रावकाचार

अर्थात—जो जिनेन्द्र भगवान का घी, रस, दुग्ध इत्यादि से अभिषेक करते हैं वे देवताओं के द्वारा स्नान कराये जाते हैं। कारण ऐसा नियम है जो जैसा कर्म करते हैं उसका वैसा ही फल भोगते हैं इसलिए जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक करने वालों को भी तदनुसार फल मिलना चाहिए।

इन्द्रनन्दि पूजासार है उसमें कलश स्थापन करने के प्रकरण में लिखा है कि-

नालिकेरफलानिस्फस्तदनंतरमशके । आम्रादीनां रसैः पूर्ण फलानाभिक्षु सद्रसैः ।
शिते पूर्ण घटं पाद्यमाचाम्याद्यैंघट ततः घृतैदुग्धैभृतं कुम्भं दधि मिस्रीजकैरपिः ॥

जल कलशों के विधी बताने के अनन्तर अभिषेक के लिए नालकेर रस, आम्र रस, इक्षु रस, घृत, दुग्ध, दहि आदि द्रव्यों के कलश स्थापना की विधि का वर्णन करते हैं। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र भी इस विषय का उल्लेख है।

यदि श्रुतावतार के कर्ता ये इन्द्रनन्दि आचार्य हों तो यह कहा जा सकता है ये वे ही हो सकते हैं, जिनका उल्लेख आचार्य प्रवर नेमिचन्द्र ने गोमट्टसार की 396 वीं गाथा में अपने गुरु रूप में उल्लेख किया है।

प्रतिष्ठासारोद्धार-ऋषिकल्प पंडित प्रवर आशाधर ने हम लोगों के प्रति क्या उपकार किये हैं इस बात को बताने के लिए न यहाँ समय है और न प्रकृति में आवश्यकता ही है। जैन वाठमय की सेवा के लिए उन्होंने सर्वस्व अर्पण किया था। उनके द्वारा बनाये हुए अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वे प्रत्येक विषय के अद्वितीय विद्वान थे। न्याय, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष, क्रिया काण्ड आदि विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था।

उनको सरस्वती पुत्र और कलिकालिदास की उपाधि थी। उन्होंने बहुत से ग्रन्थों का निर्माण किया है। प्रमेय रत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय सिध्यैक, धर्मामृत आदि ग्रन्थों के रचयिता प्रसिद्ध हैं। वैद्यक शास्त्र के उमर अष्टांग हृदय नाम की टीका, अमर कोष पर क्रिया कलाप नाम की टीका, भगवती आराधना के उमर मूलाराधना दर्पण टीका, इष्टोपदेश की टीका आदि ग्रन्थों के अधिकृत निर्माता आशाधर सचमुच में आचार्य कल्प थे। उपर्युक्त प्रतिष्ठा सरोद्धार नामक जिनयज्ञ कल्प ग्रन्थ भी आशाधरजी की ही रचना है उसमें अभिषेक प्रकरण के आदि में कहते हैं कि-

अथ्रत्य स्नपनं विशोध्य तदिलौ लब्धां चतुः कुम्भयुक्,
कोणाद्यां सकुशाश्रियौ जिनपतिं न्यास्तांतमाप्वेष्टदिक ।
नीराज्यौं कुरुसाज्य दुग्ध दधिभिःसिक्ता कृतोद्वर्तनं ,
सिक्तं कुम्भज तैश्च गन्ध सलतै सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत्,

—प्रतिष्ठा सरोद्धार अध्याय 5 श्लोक 1

अर्थात—वेदी के चारों कोनों में जल कलश स्थापन कर भूमि शुद्धि करने के अनन्तर बीच में सिंहासन पर श्री जिन प्रतिमा को स्थापन कर पंचामृतों से अभिषेक करें। तदनन्तरु जलाभिषेक कर पूजा करें। इस प्रकार उल्लेख जिनाभिषेक का उन्होंने किया है।

इसी प्रकार नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ में भी भिन्न-भिन्न अमृतों के लिए भिन्न-भिन्न मंत्र प्रयोग कर विस्तृत विवेचन किया है। देखो नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ 694

इसी प्रकार वसुनन्द प्रतिष्ठा पाठ, नरेन्द्रसेन एकसन्धि, ब्रह्मसूरि अकलंक देव आदि विरचित प्रतिष्ठा पाठों में उल्लेख मिलता है। प्रकृत लेख बढ़ने के भय से उन ग्रन्थों को देखने की प्रार्थना है।

ऊमर प्रमाण रूप से उल्लिखित पूजा सार के अन्तिम श्लोक में आया है कि-

वीरसेनजिनसेन सूरिणा पूज्यपाद गुणभद्र सूरिणा
इन्द्रनन्दिगुरुणैक संधिना जैनपूजनविधिः प्रभाषितः

इन छह आचार्यों की कृति पूजन प्रतिष्ठा विधि होना चाहिए। इनमें से कुछ उपलब्ध हैं कुछ नहीं। पूज्यपाद के द्वारा रचित अभिषेक पाठ का प्रमाण हम ऊमर दे चुके हैं। वीरसेन जिनसेन इनका अभिषेक पूजन विधि हमें जहाँ तक मालूम है अभी उपलब्ध नहीं है। सुनने में आता है कि

जिनसेन प्रतिष्ठा पाठ द्रविड देश में जिन कांचीमठ के भण्डार में ताड़पत्र पर द्रविड लिपी में मौजूद है। इस विषय पर हम निश्चय कुछ नहीं लिख सकते हैं शायद खोज करने पर मिल जाय। इन्द्रनन्दि और एक सन्धि की कृति उपलब्ध है। गुण भद्र पूजन विधि उपलब्ध है। इसकी एक प्रति आज से 40 वर्ष पूर्व हमने शोलापुर के श्रीमान सेठ श्री रावजी सखाराम दोशी के पास देखी थी। वह अत्यन्त जीर्ण अवस्था में थी। हाथ में लेकर पढना भी कठिन था। वह ताड़-पत्र पर कन्नड़ लिपी में लिखा हुआ था। श्री रावजी भाई ने कन्नड वासियों से जानकारी प्राप्त की थी तो उस भाषा के जानकारों ने बतलाया था कि यह ग्रन्थ गुणभद्र द्वारा रचित है। इसके लिए यह प्रमाण हो सका है कि उनसें जो पाठ उन्होंने दिये हैं वे कोई कोई अन्य पूजा संग्रहों में मिलते हैं। आशाधर पाठ में भी कुछ पाठ इससे मिलते हैं ऐसा उन्होंने बतलाया था। इसलिये यह कृति सबसे प्राचीन होनी चाहिए।

ग्रन्थ कर्ता ने अन्तिम भाग में अपनी प्रशस्ति वगैरह कुछ नहीं दी है परन्तु प्रारम्भ में उन्होंने अपना नाम उल्लेख एक श्लोक में किया है। उसमें जिनाभिषेक का उल्लेख भिन्न-भिन्न रूप से किया है। जो बहुत विस्तार में है लेख अधिक बढ जाने से यहां उसको उद्धृत नहीं किया है।

देखो ताड़पत्र ग्रन्थ नं. 401 बम्बई सरस्वती भवन से प्राप्त पत्र नम्बर 41 से 50 तक (श्री रावजी सखाराम दोशी के सौजन्य से) षट कर्मोपदेश रत्न माला यतिवर शुभ चन्द्रदेव के शिष्य आचार्य सकलभूषण हुए हैं। उन्होंने षट्कर्मोपदेशमाला नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनकी रचना अन्य भी उपलब्ध हैं। उन्होंने उक्त ग्रन्थ के अन्तिम भाग में अपनी गुरु परम्परा दी है। श्री मूलसंघ (नन्दि संघ) सरस्वती गच्छ में श्री कुन्दकुन्द स्वामी उस परम्परा में पद्मनन्दि सकल कीर्ति ज्ञान भूषण विजयकीर्ति शुभचन्द्र सूरि सकल भूषण इस प्रकार परम्परा है। नीचे आकर लिखते हैं कि श्री नेमिचन्द्राचार्य आदि यतियों के आग्रह से वर्द्धमान आदि की प्रार्थना से वि. स. सोलहवीं शताब्दी हुई है। उल्लिखित ग्रन्थ में लिखा है कि-

पंचामृतैसुमंत्रेण मंत्रितैर्भक्तिनिर्भरः अभिषिंच्य जिनेन्द्राणां प्रतिविंवानि पुण्यवान ॥

पवित्र मंत्र पूर्वक पञ्चामृतों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह महान भाग्यशाली है। इन्होंने यद्यपि पंचामृत अभिषेक का विधान किया है परन्तु चाहे पंचामृत हो चाहे जलाभिषेक परन्तु अभिषेक की परम्परा प्राचीन प्रसिद्ध है।

भाव संग्रह—महर्षि देवसेनाचार्य कृत यह ग्रन्थ बहुत महत्व का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये मूल संघ के थे यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इनके द्वारा रचित नयचक्र आलाप पद्धति, तत्व सार, आराधना सार, दर्शन सार व प्राकृत भाव संग्रह आदि उपलब्ध हैं उन्होंने अपने गुरु के स्थान में श्री विमलसेन गणी का नाम लिया है। दर्शन सार के अवलोकन में यह बात मालूम होती है कि वे मूल संघ के आचार्य थे। दर्शन सार में उन्होंने काष्ठा संघ, द्रविड संघ, माथुर संघ और यापनीय संघ आदि संघों की उत्पत्ति बतलाई है। और उनको मिथ्यात्वी कहा है। इससे मालूम होता है कि वे मूल संघ निष्ट थे। दर्शन सार की गाथा नं. 43 में उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण इस प्रकार किया है।

जइपउमणंदिणाहो सीमंधरस्वामि दिव्व णाणेण ण विवोहइ तो समणा कइं सुमाज्जं पयाणंति

अर्थात—यदि आचार्य पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान के द्वारा बोध न देवें तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ये मूल संघ में कुन्दकुन्दाचार्य के आम्नाय के थे। ऐसे महर्षि देवसेन द्वारा रचित भाव संग्रह में देश विरत गुण स्थान के प्रकरण में पूजा विधि बताई है वहां पर-

कलस चउरुठाविय चउसुवि कोणेसु णीकपरिपुण्णं घयदेद्रदहिवभरिवं णव सयदल छण्णमुह कमलं

—भाव सं. गाथा नं. 438

अर्थात—पीठ के चारों कोनों में चार कलशों को स्थापन कर उनमें क्रम से पानी, घी, दूध, दही ये पदार्थ भरे और कलशों के मुख कमलों से शोभित किये। आगे वे 441 वीं गाथा में लिखते हैं उसका अर्थ यह है कि अभिषेक मंत्रोच्चारण कर श्री जिन प्रतिमा पर क्रम से जल, घृत, दुग्ध, दही का अभिषेक करना चाहिये।

इसके अलावा एक वामदेव कृत भाव संग्रह भी उपलब्ध है। ये वामदेव भी मूल संघ के थे, और मूल संघ आम्नायी आचार्य लक्ष्मीचन्द के शिष्य थे। यह बात ग्रन्थ प्रशस्ति से ज्ञात होती है उक्त ग्रन्थ में भी लिखा है कि-

तदः कुम्भे समुद्धार्य तोय चोचे क्षुस्द्रसं सद्घृतेश्च ततो दुग्धेर्दधिभिः स्नपयेज्जिनम्

—वामदेव कृत भाव संग्रह श्लोक 483

भावार्थ— तदनन्तर कलशोद्धरण इक्षु रस, आम्ररस, घृत, दुग्ध, जल आदि से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करना चाहिए।

उपसंहार

इस प्रकार इस जिनाभिषेक विषय का समर्थन व विधि के लिए अनेक ग्रन्थ मूल संघ आम्नायी ही मौजूद हैं ऐसी अवस्था में इस विषय पर निष्पक्ष विचार कर अपनी हठग्राह्यता को छोड़ देना चाहिये। इसके अलावा और भी ग्रन्थों के प्रमाण इस जिनाभिषेक के विषय पर बहुत हैं परन्तु अब मैं अपने पाठकों का समय और लेख बढ़ने के भय से यहां इतना ही पर्याप्त समझता हूं। आवश्यकता पड़ने पर हम फिर भी इस विषय पर लिखने को तैयार हैं। परन्तु सुधी पाठकों से निवेदन है कि उपर्युक्त लेख को निष्पक्ष दृष्टि से अवलोकन करें। यदि कुछ वक्तव्य हो तो उन महर्षियों के प्रति किसी भी प्रकार से अविनय आदि न हो इस प्रकार लिखें।

इतना ध्यान रहे कि आगम की अवहेलना करना मिथ्यात्व का कारण है।

इस लेख के लिखने में जिन-जिन मेरे मित्रों ने सहयोग प्रदान किया है या जिनकी कृति से मैंने यह प्रमाण लिये हैं उनका मैं कृतज्ञ हूं।

॥ इति शुभम् ॥

— श्री छोटेलाल बरैया के साभार से

अंगपूर्वा नराधीश स्थास्यंति मत्परं खलु। पक्षत्रुसोमवर्षांते प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ 625 ॥
चाग्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यंति मुनीश्वरा: । ग्रंथानां सकलानांच पर्णेषु रचनां खलु ॥ 626 ॥
हायनं प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता। भविष्यति शरीरस्य हीनसंहननाश्च वै ॥ 627 ॥
जिनधर्मात् भविष्यंति भूदेवा भू'मिपास्तदा। सुबोधवर्जिताश्चास्य निंदकाश्च परान्मुखा: ॥ 628 ॥
ह्रतो मुनिपदस्यैव धारका: पुरुषा: कलौ। तु°च्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजा: ॥ 629 ॥

अर्थ—श्रीसर्वज्ञ देव महावीर स्वामी ने राजा श्रेणिक से कहा कि हे राजन् मेरे निर्वाण होने के बाद एक सौ बासठ वर्ष पर्यंत अंगपूर्वों का ज्ञान पूर्ण रूप से रहेगा ॥ 625 ॥

अर्थ— इसके बाद मुनीश्वर गण नि:स्वार्थ और पवित्र वृत्ति से धर्म प्रकाशन के लिये श्रीजिनदेव की ही वाणी को ताड़-पत्र पर लिखकर ग्रंथों की रचना करेंगे ॥ 626 ॥

अर्थ—इसके बाद क्रम से प्रतिवर्ष मुनिमार्ग की हानि होती जायगी। पंचम काल में हीन संहनन होने से सिंह वृत्ति के चारित्र को धारण करने वाले विरले ही होंगे ॥ 627 ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम काल में राजा और ब्राह्मण जिनधर्म से परान्मुख हो जांयगे। उनमें सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जायगा जिससे वे उलटे जैन धर्म के निंदक बन जायंगे ॥ 628 ॥

अर्थ— हे श्रेणिक उपर्युक्त कारणों से मुनिपद के धारक वीर पुरुषों की संख्या स्वल्प होगी। सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती ही है।

1—धर्म की स्थिति और वृद्धि के कारण राजा धर्मगुरु और निर्ग्रंथ ऋषिगण माने हैं। राजा यदि नीतिवान, सदाचारी और सत्य धर्म में तत्पर है तो प्रजा भी राजा के समान नीतिवान, सदाचारी और धर्म में तत्पर होगी। यथा राजा तथा प्रजा। वर्तमान समय में राजाओं में धर्मश्रद्धा—नीति और सदाचार का अभाव हो गया तो प्रजा भी वैसी हो गई। ऐसे कायदे कानून बन गए जिनसे अधर्म फैलाया जा सके—हिंसा की जा सके—व्यभिचार में धर्म बतलाया जाने लग गया। इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्यों के अभाव होने से (ब्राह्मण लोगों ने जैन धर्म छोड़ देने से) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणों का अभाव हो गया। नीति प्रतिदिन उठने लग गई। ब्राह्मणों की देखा-देखी अन्य प्रजा भी धर्म से परान्मुख हो गई। निर्ग्रंथ ऋषियों का अभाव होने से धर्म का मूल ही नष्ट हो गया। लोगों ने धर्म में मनगढ़नी कल्पना करली और ऋषियों के अभाव के कारण उपदेश न होने से जैन संस्कार का अभाव हुआ। नवीन जैन बनते नहीं, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे।

2—धर्म की वृद्धि और पवित्रता की स्थिरता रखने वाली में मुख्य मुनिराज ही होते हैं। वे एकत्राय हजारों जीवों से अधर्म छुड़ाकर सबको धर्म मार्ग में लगा सकते हैं। ऐसी सामर्थ्य गृहस्थ में नहीं होती है-परंतु काल के दोष से अपने धर्म भाई ही मुनियों की निंदा कर मुनिधर्म का उठाने का प्रयत्न करेंगे। मुनियों में मिथ्या अपवाद लगावेंगे। इन कठिनाइयों से मुनि धर्म का अभाव होगा और मुनि धर्म के अभाव होने से जैनधर्म की भी अत्यंत हानि होगी।

आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्या: सर्वेषु चोत्तमा: ॥ 630 ॥
जिनधर्मविनाशाय तेच जाता बुधोत्तमा: । दुष्टकालप्रदोषेण न दोष: कस्यचिद् भुवि ॥ 631 ॥
तुर्यकाले समा: सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजा: । खलु चैकेव चेष्टाढ्या जिनधर्मप्रसेवका : ॥ 632 ॥
अस्मिन् भूपा द्विजा: सर्वे प्राप्ताश्चैकत्वतां खलु । केवलंच स्थिता वैश्याश्चैकाश्चार्य प्रपालका: ॥ 633 ॥
अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मोयं दृश्यते च वै । अल्पवत्तस्य दृष्टांतं शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ 634 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक–श्री आदिप्रभु भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने जिन ब्राह्मणों की स्थापना धर्म की वृद्धि और धर्म की पवित्रता स्थिर रखने के लिये की थी– इसीलिये जिन ब्राह्मणों को पूज्य माना था और सर्व वर्णों में श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैन धर्म के नाशक–निंदक– और द्वेष करने वाले हो जायंगे। यह सब काल का ही दोष है। इसमें किसी का अपराध नहीं ॥ 630–631 ॥

अर्थ:— चौथे काल में समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों की एक समान क्रिया–आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी। इसलिये सब एक ही जिनधर्म के सेवन करने वाले धार्मिक थे ॥ 632 ॥

अर्थ:— हे राजन्! पंचम काल में तो समस्त ब्राह्मण एवं राजा गण विधर्मी क्रियाभ्रष्ट और सदाचार विहीन हो गये। एक केवल वैश्य ही जिनधर्म के प्रतिपालक रह गये ॥ 633 ॥

अर्थ:—हे राजन्! इसीलिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पंचम काल में अल्प संख्या धारक जीवों में ही देखा जाता है। इसका दृष्टांत बतलाते हैं ॥634 ॥

अर्थ:—हे राजन्! महाविक्रमशाली सिंह अकेला ही समस्त गजों को मार कर शीघ्र ही भगा देता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। सिंह की शक्ति सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट है। तो भी वह पर्वत पर के आम्र के फलों को तोड़ने के लिये समर्थ नहीं है। इसका कारण क्या है। इसका कारण यही है कि उसे पक्ष (पंख) नहीं है। यद्यपि कौआ शक्ति रहित है और जाति से हीन है तथापि वह पक्ष या पंखों को धारण करने वाला है। इसलिये अर्थात् केवल पक्ष धारण करने से ही वह कौआ उन पर्वत के आम के फलों को खाने में समर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है। उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं। पक्ष रहित होने से सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता। इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है।

कंठीरवो यथा मत्तवारणावारसंक्षयम् । क्षणेनैकेन संकुर्यात् एकश्च नात्र संशय: ॥ 635 ॥

स च आम्रमरुस्थानां फलानामदनेषु च । नो क्षम: कारणं किं तु विपक्षत्वात् बुधा: खलु ॥ 636 ॥

ध्वांक्षश्च शक्तिहीनाढ्य: तथापि पक्षमाक् खलु । स्याददनेषु तेषां च जातिहीनोपि स क्षम: ॥ 637 ॥

ह्यस्त्यनंतश्च संसारे पक्ष: स्यात् यस्य दृश्यते । महत्वत्वं च तस्यैव तद्दते अमहत्वता ॥ 638 ॥

मित्रकालेच अस्यैव पालका धारका नृपा: । प्रजा: सर्वा द्विजा: सर्वे अत: सर्वेषु भो बुधा: ॥ 639 ॥

उसको वही पा सकता है जिसके भगवान अरहंत देव का पक्ष है। जिसके अरहंत भगवान का पक्ष नहीं है, उनके वचनों में जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये भगवान अरहंत देव के वचनों का पक्ष अवश्य रखना चाहिये। भगवान अरहंत देव के वचनों का श्रद्धान करना ही मोक्ष का मूल कारण है।

अथवा समुदाय शक्ति से जातिहीन मनुष्य अपने ऐसे कार्य निकाल लेते हैं। जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालों से भी नहीं हो सकें। परंतु इसमें बडप्पन नहीं है। बड़े-बड़े शक्तिशालियों को नीचा दिखा देते हैं ॥635 से 637 ॥

अर्थ— हे राजन् कलिकाल में इस संसार में जिसके पक्ष में बहुत सी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा उसका महत्व प्रकट होगा और जिनके पक्ष में संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रगट नहीं कर सकेंगे। अपना जैन धर्म यद्यपि संसार में सर्वोत्कृष्ट हैं, सर्वोत्तम है, पवित्र है और सदाचार से परिपूर्ण है परंतु राजाओं का पक्ष न रहने से कमजोर हो गया है। इसी प्रकार मुनिवर्ग का पक्ष जब से कम होने लगा तब से उसका महत्व छुपता जाता है। इसलिये जो लोग धर्म का महत्व प्रगट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य कर धर्म के रहस्य जानने वाले सच्चे विद्वान त्यागियों की पक्ष में रह कर अपने धर्म की रक्षा और वृद्धि करनी चाहिये। जो सुधारक मुनिगण और विद्वानों की सत्य और आगमोचित पक्ष को छोड़कर धर्म के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है और धर्म की पवित्रता विधवा विवाह, जाति-पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणों से नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद कर देने से धर्म का सत्यानाश ही होगा। समुन्नति नहीं ॥ 638 ॥

अर्थ:—चतुर्थ काल में इस जैनधर्म के प्रतिपालक राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से बजता था ॥ 639 ॥

उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु। तद्वते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम् ॥ 640 ॥

कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षित: । नूतनां स्[1]थापनां लोका: करिष्यंति च मायिन: ॥ 641 ॥

केचिद्य द्वेष का मर्त्या: केचिद्य सेवका: खलु। एवं तस्मिन् भविष्यंति कलौ च मगधाधिप ॥ 642 ॥

जैनागमसु[2]वाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर। निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम् ॥ 643 ॥

ग्रंथानां पूजका: केचित् जिनबिंबस्[3]य निंदका: । कलौ भेदा ह्यने के च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ॥ 644 ॥

अर्थ:—यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है, त्रिलोक पूजित है और सर्व मान्य है। और धर्म इस धर्म (जैन धर्म) से सब बातों में अधम हैं। परंतु जैन धर्म का पक्ष मुनियों के सदुपदेश के बिना समस्त जीवों को मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्म के पालन करने वालों की संख्या कम हो गई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगम के जानकार विद्वानों की पक्ष को एकदम मजबूत बना देना चाहिये जिससे धर्म की विपरीतता नष्ट हो जाय ॥ 640 ॥

अर्थ:—हे मगधाधिप कलिकाल में मायावी मनुष्य धर्म प्रकाशन के लिये समस्त लोगों की साक्षी से नूतन स्थापना करेंगे। कितने ही मनुष्य उनके द्वेषी हो जायंगे और कितने ही सेवक बन जायंगे ॥ 642 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! संशय से मन और बुद्धि जिनकी भ्रमित हो गई है ऐसे उपर्युक्त मनुष्य श्री जिनागम के सत्य-सत्य वचनों का भी निश्चय (श्रद्धान) नहीं करेंगे ॥ 643 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! कितने ही तो केवल ग्रंथों के पूजक बन जायंगे। कितने ही जिन बिंबों को पूजा करनेका निषेध

1—कलिबल से जैनधर्म के भीतर इस प्रकार धर्म की स्थापना मायावी लोगों से कितनी बार हुई है। परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियों ने उनको संघबाह्य सम्मलकर उनका बहिष्कार ही किया है। जैन संख्या बढ़ाने के लोभ में उनको भ्रष्ट शिथिलाचारी संघबाह्य नवली जैनधर्मपालक जैनों को अपने में नहीं मिलाया। भद्रबाहू के समय जब श्वेतांबर संघ उत्पन्न हुआ तब भी दिगंबर जैन महर्षियों ने उनको (श्वेतांबर) अपने में नहीं मिलाया। मायावी लोगों ने लोगों को धर्म का बहाना बतलाकर नवीन धर्म-अपने स्वार्थ को सिद्ध किया। समाज में भेदभाव डालकर कितने ही मनुष्यों को अनुकूल बनाया और जो सच्चे धर्मात्मा थे उनको द्वेषी माना। इसी प्रकार बार-बार जैन धर्म में से कितने ही नवली धर्म उत्पन्न हुए।

2—वर्तमान समय में कितने ही अल्पज्ञानी अपने मतलब के लिये सत्य ग्रंथों की अमान्यता कर रहे हैं। उनके जिनागम का सर्वथा श्रद्धान नहीं है तो भी अपने को जैनावलंबी बतावाकर लोगों को यह जाहिर करते हैं कि हम भी जैन हैं परंतु उनके जब आगम का सर्वथा ही श्रद्धान नहीं है। तब जैनपना कैसा ? उनका जैनपना कुछ स्वार्थ पर है । जो अतिशय भयानक है।

3—श्वेतांबरी में से ढूंढिया जिनबिंबों की पूजा का निषेध करते हैं। दिगंबर में तारण पंथी भी जिनमंदिर में पूजन नहीं करते परंतु दिगम्बर जैन धर्म में या उसके आगम में अवर्णवाद नहीं लगाते । जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनबिंबों की पूजन करने का निषेध करते हैं इसका कारण उनको आगम के श्रद्धान का अभाव है।

वसुभूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नराः खलाः । दृढं पक्षं करिष्यंति सप्तघावनिदुःखदम् ॥ 645 ॥

जिनाप्तपुरुषाणां च केचिच्छ्राद्धानिका नराः । खला निंदां करिष्यंति जिनागमप्रघातकाः ॥ 646 ॥

पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिष्यंति ते मूढाः पंचमोद्भवाः ॥ 647 ॥

नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यंति जडाशयाः । ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पतः ॥ 648 ॥

करेंगे। हे राजन् ! कलिकाल में जैनधर्म में से बहुत से पंथ अपने अपने मन से असत्य कल्पना कर अनेक प्रकार से जैन धर्म का रूप बिगाड़ेंगे ॥ 644 ॥

अर्थ— हे श्रेणिक महाराज ये लोग वसुभूपाल के समान अपने-अपने मिथ्या मत का हठग्राही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप संचय करेंगे।

भावार्थ—सत्यधर्म (जो अरहंत भगवान ने कहा है) को दूषण लगा कर वे लोग जैनधर्म में से नवीन धर्म अपने मनकल्पना से गढ़ कर अरहंत भगवान का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोषणा करेंगे और अपने मिथ्यामत के पक्ष को दृढ करेंगे। श्वेतांबर-ढूंढिया और भी अनेक पंथवालों ने इसी प्रकार अपने-अपने मत दिगंबर जैनमत में से निकाल कर बनाये और कितने ही दुष्ट मनुष्य अब भी ऐसा ही पाप कर रहे हैं ॥ 645 ॥

हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अंतरंग से श्रीजिनागम का घात कर मूलोच्छेद करेंगे परंतु फिर भी अपने को श्रावक कहला कर जिनाप्त पुरुषों की (मुनियों की) अथवा साधर्मी सज्जनों की निंदा करेंगे। भावार्थ, कितने दुष्ट हृदयके श्रावक मन की दुष्टता और मिथ्यात्व के तीव्रोदय से जिनागम का तो नाश करेंगे ही परंतु जिनागम के अनुसार चलने वाले मुनिजण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावकों की निंदा भी करेंगे। इस प्रकार अपने धर्म का मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पाप के भागी बनेंगे ॥ 646 ॥

अर्थ— हे राजन् पंचम काल के श्रावकगण पूर्वाचार्यप्रणीत और तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित अभिषेकादि पवित्र आगमोक्त क्रिया का उच्छेद करेंगे ॥ 647 ॥

अर्थ—हे राजन् पंचम काल के श्रावकगण नवीन-नवीन क्रियायें अपने मन से गढ़कर करेंगे और धर्म के सत्य मार्ग का लोप करेंगे ॥ 648 ॥

वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका: । मानयिष्यंति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिता: खलु ॥ 649 ॥

स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके । कार्यं प्रवर्तयिष्यंति नो तद्धिते खलाशया: ॥ 650 ॥

इत्थं जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्करा: खलु । तस्मिन्नेव भविष्यंति स्वस्वमतविनाशका: ॥ 651 ॥

भवंत्येव कलौ भेदा: प्राक् चतुर्थाच्च निश्चयात् । चैलनाकांत बुद्धस्य शर्मलेशविवर्जिते ॥ 652 ॥

हुंडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ 653 ॥

चेद्विभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह तं प्रति दिव्यभाषया ॥ 654 ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्री जिनदेव प्रदिपादित प्राचीन क्रियाओं का लोप करने वाले श्रावकगण अपने को सम्यग्दृष्टि प्रसिद्ध करेंगे और जो श्री जिनदेव के मार्ग पर आगमानुकूल चल रहे हों उनको मिथ्यात्वी बतलायेंगे इस प्रकार की पवित्र क्रियाओं का परित्याग करेंगे ॥ 649 ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपने मन की कल्पना से अपने मतलब के ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथों से ही पूजन आदि धर्मक्रियाओं की प्रवृत्ति करायेंगे। ऐसे लोग आत्महित के लिये कुछ नहीं करेंगे।

अर्थ—इस प्रकार इस जैन धर्म में अनेक भेद होंगे और वे अपने अपने धर्म का नाश करने वाले ही होंगे।

अर्थ—हे श्रेणिक ! जिसमें कल्याणमार्ग का सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकाल में आगामी चौथे काल के पहले-पहले इस जैनधर्म में बहुत से भेद हो जायंगे।

भावार्थ:— इस पंचमकाल में जैनधर्म में भी बहुत से भेद हो जावंगे जो आत्मकल्याण से सर्वथा रहित होंगे ॥ 652 ॥

अर्थ:— हे राजन् यह इतना धर्म का भेदभाव का विप्लव हुंडावसर्पिणी काल में ही होता है। अन्य कालों में नहीं। इसीलिये इस काल में जैनधर्म की हानि विशेष होगी ॥ 653 ॥

अर्थ:—महाराज श्रेणिक ने हुंडावसर्पिणी काल को ऐसा दुष्ट सुनकर भगवान से पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने काल के बाद हुंडावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनि से भगवान ने कहा कि 148 एक सौ अड़तालीस चौबीसी व्यतीत होने पर एक हुंडक काल आता है॥

वसुवेदेन्दुसंख्यानां चतुर्विंशतीनां गते। हुंडको जायेते होको। तत्रयाणां मतश्च स: ॥ 655 ॥

अस्मिन्नेव भवंत्येव ह्यनर्था: चेलनापते। तीर्थकरस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ 656 ॥

प्रभोर्गात्रादप्यधिको दोर्बलेरुचता तनो: । जेमनार्थंच भ्रमता धरायां वृषभस्य वै ॥ 657 ॥

पदवीधारकाणां च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणां कलंकाश्च सतीनामपमानता ॥ 658 ॥

स्थापना सिद्धक्षेत्राणां चातिदूरा: शिवार्थदा: । जिनशासनयक्षाणां तुच्छाश्चातिशया: खलु ॥ 659 ॥

मिथ्याशासनदेवानां प्रचार: सघनो ननु। श्रीजिनाधिपबिंबानामपमान: कुमानजै: ॥ 660 ॥

साधर्मिपुरुषाणां च निंदा ते श्रावका: खला: । करिष्यंति कलौ भूय निंदाया: किं फलं भवेत् ॥ 661 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुंडक काल के प्रभाव से बड़ी-बड़ी विपरीत बातें इस भरतक्षेत्र में होंगी। महान् अनर्थ होंगे :

1. तीर्थंकरों के पुत्री का जन्म होना। 2 चक्रधर का अपमान होना। 3. प्रभु तीर्थंकर के शरीर से अधिक ऊंचा शरीर बाहुबलि का होना। 4. श्री वृषभदेव का आहार के लिये षट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना। 5. पदवी धारक त्रेषठ सलाका पुरुषों का ह्रास होना । 6. तीर्थंकर देव को छद्मस्थ अवस्था में उपसर्ग होना। 7. धर्मात्मा पुण्यपुरुषों को कलंक का लगना। 8. सतियों का अपमान होना। 9. सिद्ध क्षेत्रों की अतिशय दूर स्थापना होना। 10. जिनशासन यक्षगणों का अतिशय कम होना। 11. मिथ्या शासन देवों की महिमा का बढ़ना। 12. पाखंडियों की बढ़वारी होना। 13. श्री जिनबिंबों का कुमनुष्यों के द्वारा अपमान होना। 14. और श्रावकों के द्वारा ही सत्यमार्ग पर जिनागम के अनुकूल चलने वाले साधर्मी पुरुषों की निंदा का होना। 15. जैनधर्म में भेदभाव का होना। इत्यादि बहुत से अनर्थ काल के प्रभाव से इस भरत क्षेत्र में होंगे।

उपर्युक्त दिव्य ध्वनि के द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराज ने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओं की निंदा करेंगे उसका क्या फल है ? 656 से 661 ॥

भवंति परनिंदाया जातांधा: परजन्मनि। मूका: सदातंकमग्ना: कुब्जा दुष्टाश्च कुस्वना: ॥ 662 ॥

वधिरा विकलांगाश्च षंडा दारिद्रधारका: । कुरुपा दु:खभोक्तार: पुत्रपौत्रादिवर्जिता: ॥ 663 ॥

सदा शोकधरा क्रूरा: निर्भाग्या मतिनिंदिता: । नराश्चेदृग्विधा: भूप ज्ञानलेशविवर्जिता: ॥ 664 ॥

मुन्यादिवजितां धर्ममार्गपरान्मुखा: खला: । गुणमानविहीनांगा: परस्यनि सेवका: ॥ 665 ॥

प्रतिपद्दर्शनीवांते म्रियते मगधाधिप। अष्टमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ 666 ॥

षोडशे यौवने काले अत्रामुत्र धवाश्च ये। जानीहि परनिंदाया: तद्ध भो कारणं खलु ॥ 667 ॥

संसारभयभीतैश्च महादु:खप्रदायका। अतोहि पर निंदाच नो कर्त्तव्या कदाचन ॥ 668 ॥

परदोषं न दातव्यं मा वक्तव्यमसत्यवाक्। प्रमादं नैव कर्त्तव्यं देवपूजादिकर्म्मसु ॥ 669 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज जिनागम के अनुकूल चलने वाले भव्य जीवों की निंदा करने से पर जन्म में अंधेगूंगे, बधिर, रोगी, कूबड़े, विकलांग, नपुंसक, दरिद्र, कुरूप, दु:खी, कुटुंब परिवार रहित, भाग्यहीन शोकातुर और ज्ञान रहित होते हैं। वे बड़े भयंकर दुखों को प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। उनसे मुनियों का धर्मपालन नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि वे धर्ममार्ग से परान्मुख गुणविहीन दूसरों के गुलाम होते हैं।

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्य जीवों की निंदा करने वाले प्रतिपदा चंद्रमा के समान शीघ्र ही मरण को प्राप्त होते हैं अथवा आठ-दस, ग्यारह-बारह और सोलवें वर्ष जवानी अवस्था में ही मरण कर जाते हैं। इस लोक तथा परलोक में विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं ॥ 666-667 ॥

अर्थ—इसलिये संसार के दु:खों से भयभीत पुरुषों को चाहिये कि महान् दु:ख की देने वाली दूसरों की निंदा न करें। न किसी धर्मात्मा में मिथ्या दूषण लगावें। न झूंठ वचन बोलकर गुणों का निन्हव करें। तथा देवपूजादि महान पुण्यकार्य में प्रमाद न करें। सच्चा धर्मात्मा वही है जो निंदा के भय से सत्य धर्म का त्याग नहीं करता है। प्राणांत होने पर भी जो अपने धर्म से च्युत नहीं होता वही धर्मात्मा है।

सोमशर्माद्विजस्येयं सुता लक्ष्मीमती वरा। रूपयौवनसंपन्ना किंचिन्निंदा यतेः कृता ॥ 670 ॥

तेन पापेन तत्रैव तस्या गात्रेऽसुखाकरः । उदंबरमहाकुष्टः समुत्पन्नोतिदुस्सहः ॥ 671 ॥

व्याधिना तेन संतप्ता महादुःखेन सा मृता । शुनी च गर्दभी पश्चात्सुकरीत्यादियोनिषु ॥ 672 ॥

भ्रमित्वा च खला तत्र प्राप्यातिदुःखसंततिम् । जनंगमसुता पश्चाज्जाता च दुःखभोजका ॥ 673 ॥

मत्वेति भो स्त्रियः साधु नराः शर्मविनाशका। कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषां स्वात्मशुद्धये ॥ 674 ॥

कार्यातः स्वस्य निंदा भो स्वस्यैव पापघातका। उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसंहतिदायका ॥ 675 ॥

परनिंदासमो लोके ह्यन्यत् पापंहि प्राणिनां। नास्त्येव तन्न कर्तव्यं यदीच्छा शर्मसंततेः ॥ 676 ॥

यत्कलंकं समापैव सीता शीलगुणान्विता। तद्धि निंदाप्रभावेण मा कुर्वंतु परस्य वै ॥ 677 ॥

अर्थ:—हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण की लक्ष्मीमती नाम की पुत्री ने मुनियों की किंचित् निंदा की थी। उस निंदा के फल से उसको उसी भव में भयंकर कुष्टरोग हो गया था। जिससे उसको महान दुःख प्राप्त हुआ और परलोक में वह मर कर कुत्ती, गधी-सूकरी आदि कुत्सित योनि में भ्रमण कर महान दुःख को प्राप्त हुई तथा पीछे वह अनेक दुःखों को भोगने वाली चांडाल की पुत्री हुई और किंचित् मुनिनिंदा का इतना महान कष्ट सहन करना पड़ा। इसलिये भव्य जीवों तथा स्त्रियों अपने आत्मा को शुद्ध रखने के लिये धर्म-धर्मायतन, साधर्मी भाई और मुनि आदि की निंदा कभी भी नहीं करनी चाहिये ॥ 670 से 674 ॥

अर्थ:—जो अपने से पाप कर्म अज्ञान या प्रमाद से हो जावे तो उसको दूर करने के लिये अपनी आत्मा की निंदा करनी चाहिये। जिससे मोक्ष सुख का प्रदान करने वाला ऊंच गोत्र का बंध हो ॥ 675 ॥

अर्थ:—परनिंदा के समान अन्य कोई पाप नहीं है। इसलिये अपने आत्मकल्याण के लिये या स्वभाव रूप से भी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिये ॥ 676 ॥

अर्थ—सती शिरोमणी सीता को कलंक का योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभव में गुरुदेव और साधर्मी की निंदा है ॥ 677 ॥

खलानां सज्जनानांच ह्यत्र भेद: प्रदृश्यते। खलेच्छा चेत्तदा कार्या परनिंदा ह्यनर्थदा ॥ 678 ॥

ये ये दु:खाश्च जायंते प्राणिनां दुखदायका: । ते ते ज्ञेया: शरीरेषु परनिंदाया भो फलम् ॥ 679 ॥

दुर्जनानां स्वभावोयं परनिंदतत्परा: । स्वात्मदोषं न जानंति ह्यनर्थधारकाश्च ते ॥ 680 ॥

प्रत्यक्षं येत्र मूढा वै निंदां कुर्वंति सर्वदा। ज्ञेया: श्वपचसा तुल्या: स्वमतस्य क्षयंकरा: ॥ 681 ॥

ह्येवं सर्वे भविष्यंति कलौ भूप न संशय: । स्वचित्ते मानयिष्यंति वयं श्राद्धानिका: खलु ॥ 682 ॥

ग्रंथलोप[1]ज पापेन ते च श्राद्धानिका: खलु। नरकावनौ च यास्यंति सर्वेहि मगधेश्वर ॥ 683 ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन में मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसी की निंदा नहीं करते हैं और दुर्जन करते हैं। जो सज्जन बनना हो तो निंदा करना छोड़ देना चाहिए ॥ 678 ॥

अर्थ—जो जो दु:ख शरीर में प्राप्त होते हैं वे प्राय: परनिंदा के फल से उत्पन्न होते हैं ॥ 679 ॥

अर्थ—दुर्जनों का स्वभाव ही निंदा करने का होता है। परंतु वे अपने दोषों को नहीं जानते हैं। वे केवल अनर्थ धारण करने वाले होते हैं ॥ 680 ॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वदा साधर्मी भाइयों की निंदा ही करते रहते हैं, एक प्रकार से वे प्रत्यक्ष ही चांडाल के समान हैं और अपने धर्म का नाश करने वाले हैं ॥ 681 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक कलियुग में ऐसे निंदक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे। जो जैन धर्म के धारकों की व जैन धर्म की निंदा करेंगे और अपने को अपने आप ही श्रावक मानेंगे ॥ 682 ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! ग्रंथों का लोप करने के पाप से श्रावकगण अवश्य ही नरक या निगोद में जायंगे ॥ 683 ॥

1—ग्रंथों को असत्य ठहराना मानो ग्रंथों का लोप करना है। इसके समान संसार में अन्य पाप नहीं है। आगम की सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभु की सत्यता पर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकाल में उनकी प्रामाणिकता स्वत: सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञ के वचनों में अपनी दुष्ट बुद्धि की कल्पना से असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगम का या ग्रंथ का लोपी है। उसके न तो आगम की श्रद्धा है और न सर्वज्ञ प्रभु की। ऐसी अवस्था में वह अपनी इन्द्रियजनित बुद्धि को ही कुत्सित तर्क और अनुमान जनित विचार से स्थिर रखकर शास्त्रों की मिथ्या समालोचना कर पाप का भागी बनता है। कितने ही ढोंगी-जिनधर्म की श्रद्धा से रहित जैन सुधारक मिथ्यात्व के उदय से शास्त्र और गुरुओं की मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रों में अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभु के आगम को असत्य ठहराना चाहते हैं। उनको संस्कृत प्राकृत का ज्ञान नहीं है, आगम का श्रद्धान नहीं है। अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्त के समान प्रत्यक्ष में पतित हो रहे हैं।

यद्वत् वै ब्रह्मदत्ताख्यः चक्री धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमं श्वभ्रं नानादुःखभयांकिते ॥ 684 ॥
न्यायोयं लोकमान्यं स्यात् यदुक्तं वचनं वरम् । सर्वज्ञाज्ञाऽविरुद्धं यन्महता पुरुषेण वै ॥ 685 ॥
यदुक्तं वीतरागेण प्रोक्तं गणधरादिभिः । मर्यादायाश्च ग्रंथेषु तदेव संधृताः खलु ॥ 686 ॥
यत्याचारक्रियाः सर्वाः श्रावकाणां क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायकाः ॥ 687 ॥
भद्रबाहुर्मुधनंदी पूर्वाशधारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋषीश्वरः ॥ 688 ॥
सुरार्च्यो गणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकरः । सकलागमवेत्ता च मारवारणकेसरी ॥ 689 ॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य दर्शकः संयताग्रणीः । नाम्ना श्रीकुंदकुंदो वै जिनधर्मप्रकाशकः ॥ 690 ॥
वसुनंदी तथा धीरः सकलकीर्तिधर्मभाक् । शुभचंद्रो गुणैः पूर्णो मिथ्यामार्गविघातकः ॥ 691 ॥
इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रैः दिशावासोधरैः वरैः । पूज्यैश्च लेखसंदोहैः फलादिगुणधारकैः ॥ 692 ॥

अर्थ—जैसे ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती ने जिनागम को असत्य ठहराकर जिनागम का लोप किया था तो वह पाप के फल से मरकर अनेक दुःखों से परिपूर्ण ऐसे सातवें नरक को प्राप्त हुआ ॥ 684 ॥

अर्थः—यह एक साधारण न्याय है कि संसार में लोगों को वे ही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुष के द्वारा सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अविरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेव की आज्ञा के विरुद्ध वचन कभी मान्य नहीं होते ॥ 685 ॥

अर्थः— जो सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवान ने कहा हो और गणधरादि देवों ने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परंपरा से उन सर्वज्ञ देव की मर्यादा को कायम रखने वाले ही ग्रंथ भव्य जीवों को मान्य करना चाहिये। ऐसे आचार्य भद्रबाहु जिनसेन कुंदकुंद सकलकीर्ति आदि अनेकों हुए हैं। ये सर्व धर्म के प्रकाश करने में अत्यंत उद्यमी थे, इन्होंने मुनियों के आचरण निरूपण करने वाले अनेक ग्रंथ बनाये हैं तथा श्रावकों के आचरणों का निरूपण करने वाले तथा कल्याण करने वाले

1—धर्मरहस्य सुलोचना आदि ग्रंथ, आगम ग्रंथों का लोप करने के अभिप्राय से बनाये जा रहे हैं। धर्मरहस्य के कर्ता तो मिथ्यादर्शन के प्रभाव से जैन धर्म से बहिर्भूत हैं। उनके ज्ञान में रजस्वला स्त्री जिनमंदिर जा सकती है। ढेड और भंगी के साथ खाना-पीना आदि तथा विधवा विवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणों को धर्मरूप कहलवाने के लिये महावीर स्वामी तथा गौतम गणधर का संबंध जोड़ा गया है। यह भी आगम में अवर्णवाद लगाकर आगम का लोप करना है।

जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमायाविवर्जितैः । भो बुधा जिनधर्मस्य वर्द्धनैकृतोद्यमैः ॥ 693 ॥

तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यंति ये च सप्तसु । श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः ॥ 694 ॥

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रंथकारकैः । वाक्यं तदेव मान्यं स्यात् ग्रंथवाक्यं न लंघयेत् ॥ 695 ॥

अतः श्राद्धानिका यूयं स्वकल्पोक्तमघकरम् । त्यक्त्वा ग्रंथेषु यत्प्रोक्तं कुर्वीध्वं शिवप्राप्तये ॥ 696 ॥

ये मूढा जैनवाक्यं हि त्यक्त्वा स्वमतिकल्पतः । चलंति तेहि धर्मघ्ना धर्मबाह्या मता बुधैः ॥ 697 ॥

प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः । यास्यंति वै निकोतेषु नानादुःखाकरेषु च ॥ 698 ॥

पूजा अभिषेक आदि की क्रियाएं बतलाई हैं। क्रियाओं को जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं, उन क्रियाओं का लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखों से भरे हुए नरकों में प्राप्त होंगे ॥ 687-694 ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का यही एक लक्षण है कि जिसको श्री जिनेन्द्र देव के आगम का श्रद्धान है। आगम के एक अक्षर को भी जो अपनी बुद्धि से मिथ्या नहीं ठहराता न मन में भी ऐसी भावना रखता है और न मलिन तर्क व हठाग्रह से जिनागमविरुद्ध पदार्थों के स्वरूप को सत्य मानता है वही सम्यग्दृष्टि है। जिसके ऐसा आगम का दृढ श्रद्धान नहीं है उसके सर्वज्ञ प्रभु का भी यथार्थ श्रद्धान नहीं है इसलिये ग्रंथों के वचनों की अमान्यता मिथ्यात्व है ॥ 695 ॥

अर्थ—इसलिये भव्य श्रावकों को चाहिये कि आगम ग्रंथों को ही मान्यकर श्रद्धान करें और कपोल कल्पित वचनों पर श्रद्धाभाव न रखें। यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। उससे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्यथा अनंत संसार है ॥ 696 ॥

अर्थ—जो मूर्ख अपनी कुबुद्धि की कल्पना मात्र से भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों का उल्लंघन करते हैं उनके अनुसार क्रियाएं नहीं करते वे धर्म को नाश करने वाले धर्म से बहिष्कृत समझे जाते हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है। अभिप्राय यह है कि जैनधर्म के वचनों का उल्लंघन करना धर्म का नाश ही करना है। इसलिये जैन शास्त्रों के वचनों का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥ 697 ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान के वचनों का लोप करने से जीव निगोद राशि में प्राप्त होकर महान दुःख को प्राप्त होता है ॥ 698 ॥

अथापरं श्रृणु भूप पठनीयं विभोः पुरः । स्तवनं तद्गुणप्राप्त्यै तद्गुणैर्मंडितं वरम् ॥ 699 ॥

प्रभो : स्तवनपाठेन सर्वोहा दुःखदायकाः । तत्क्षणात् प्रलयं यांति नागाः खगेश्वरेक्षणात् ॥ 700 ॥

विभोः गुणानुवादाढ्यं नानाशर्मप्रदायकम् । पठंतु सर्वदा भव्याः स्तवनं ह्यवरोधकम् ॥ 701 ॥

कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदाप्तये खलु । प्रभोः पुरो बुधैर्नित्यं दुखदावाग्निवारिदा ॥ 702 ॥

नृत्यं गानं जिनस्याग्रे ये कुर्वंति नरोत्तमाः । तेषां पुरो दिवि लेखाः करिष्यंति सदा मुदा ॥ 703 ॥

गानविद्याप्रभावेण चित्तरोधश्च जायते । चित्तरोधात् शुभं ध्यानं ध्यानाद्धि परमं पदम् ॥ 704 ॥

अर्थ— हे राजन् अब भगवान के समक्ष प्रभु के गुणानुवाद नाम की क्रिया को कहता हूं। जो मनुष्य भगवान के समक्ष प्रभु के गुणों का स्तवनों द्वारा गुणगान करता है वह प्रभु के गुणों को प्राप्त होता है ॥ 699 ॥

अर्थ— प्रभु के गुणों के स्तवन पठन-पाठन आदि करने से समस्त पापों का नाश होता है तथा कुदेव विद्याधर आदि सब दुष्ट क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥ 700 ॥

अर्थ—प्रभु के गुणानुवाद करने से अनेक सुख प्राप्त होते हैं इसलिये भव्य जीवों को भगवान का स्तवन अवश्य ही करना चाहिये ॥ 701 ॥

अर्थ—दुखःरूपी दावानल को बुझाने के लिये बादलों के समान प्रभु के गुणों का गान संगीत और वाद्य घोष आदि सब नित्यही करना चाहिये जिससे मन को प्रसन्नता हो ॥ 702 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान के सामने नृत्य गान और संगीत आदि भाव भक्ति से करते हैं उनका गान देवों से होता है ॥ 703 ॥

अर्थ—गान विद्या से भगवान के गुणों में चित्त संलग्न होता है, गुणों में चित्त संलग्न होने से शुभ ध्यान होता है और शुभ ध्यान से परम पद प्राप्त होता है ॥ 704 ॥

मत्त्वैवं जिननाथाग्रे भो बुधाः स्वात्मशुद्धये । स्तवनं तद्गुणैर्युक्तं प्रपठंतु त्रिशुद्धितः ॥ 705 ॥

गात्रांहः पाठ्यत्नानां क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या। दुःखानां दानदक्षं सकलसुखहरं श्रीजिनेशैः प्रहेयम् ॥ 706 ॥

पापानां घातनार्थं नरखचरपतेः श्रीजिनस्य प्रधीराः । यांत्येवातः सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठंतु ॥ 707 ॥

जपाभिधां क्रियां वच्मि शिवशर्मकरां वराम् । अंतस्थिताघवृंदानां नाशकां त्वं शृणु मुदा ॥ 708 ॥

ॐ नमः अर्हद्भ्यो नमः ओं सिद्धेभ्यो नमोस्तुवै। आचार्येभ्यः पाठकेभ्यः साधुभ्यः सर्वदा नमः ॥ 709 ॥

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं भगवति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु ।

इसलिये भव्य जीवों को अपनी स्वात्मा की विशुद्धि के लिये प्रभु के गुणों का गान अनेक प्रकार के स्तोत्रों द्वारा मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक करना चाहिये।

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहंत भगवान के स्तोत्रों का पाठ करते हैं उनके, दुःख देने में चतुर समस्त सुखों को नाश करने वाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीर संबंधी समस्त पाप, दूर हो जाते हैं। इसलिये भव्य जीवों को अपने समस्त पाप दूर करने के लिये देव विद्याधरों के स्वामी भगवान जिनेंद्रदेव का मोक्ष सुख देने वाला स्तोत्र सदा पढ़ते रहना चाहिये।

अर्थ—अब आगे जप क्रिया को कहता हूं। जिससे भव्यजीवों को सुख प्राप्त होता है और समस्त पापों का नाश होता है। उसको हे राजन्! श्रवण कर।

अर्थ— ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नमः सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्येभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नमः सर्वसाधुभ्यः। ये पंच परमेष्ठि के वाचक मंत्र हैं । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भगवति सरस्वति देव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठ तु। यह सरस्वती मंत्र है।

ओं ह्रीं श्रीवृषभादिवर्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्पषहानये ।

ॐ ह्रीं श्रीं समृद्धिमंडितगात्राः गर्यज्ञानालंकृताः प्रभूणां सन्निधो यौवराज्यपदस्था वृषभसेनादिगौतमांतगणधरा सकलां होनाशकाः श्री वीतरागप्रकाशकाः स्वात्मतेजसा जितदिवाकराः महासारयुक्ताः स्मरमातंगकंठीरवसदृशाः प्रचंडमोहनगपवितुल्याः इत्यादि अनेक गुणधार केभ्यो नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

जिनधर्मधारकेभ्यो हतकर्मकलंकरजोभ्यः सदा नमोस्तु ।

श्री जैनधर्माय जयतु । ॐ सम्यग्दर्शनाय नमः । ॐ सम्यग्ज्ञानाय नमः । ॐ सम्यक्चारित्राय नमः । त्रय एते मे हृदि तिष्ठंतु ।

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवर्द्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्पषहानये । श्रीवृषभादि महावीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार हो ।

अर्थ—जिनका शरीर सप्त ऋद्धियों से सुशोभित है, जो चार ज्ञान के धारक हैं, भगवान अरहंत देव के समीप जो यौवराज्य अवस्था में विराजमान हैं, जो समस्त पापों को नाश करने वाले हैं, वीतराग अवस्था को प्रकाशित करने वाले हैं, अपने आत्मा के तेज से सूर्य को भी जीतने वाले हैं, संसार में सारभूत वीतरागता सहित हैं, कामदेवरूपी हाथी के लिये जो केशरी सिंह के समान हैं, प्रचंड मोहनीय कर्मरूपी पर्वत के लिये जो वज्र के समान हैं, इत्यादि और भी अनेक गुणों से सुशोभित ऐसे वृषभसेन से आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवों के लिये मैं तीन बार नमस्कार करता हूं।

भगवान अरहंत देव के कहे हुए धर्म के धारण करने वाले और कर्मरूपी कलंक को नाश करने वाले श्री अरहंत भगवान में लीन ऐसे गणधर देवों को मैं सदा नमस्कार करता हूं।

श्री जैन धर्म की जय। ॐ सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो, ॐ सम्यग्ज्ञान को नमस्कार हो, ॐ सम्यक् चारित्र को नमस्कार हो। ये तीनो मेरे हृदय में सदा विराजमान रहें।

ॐ ह्रीं आदिधर्मप्रकाशकाय श्रीवृषभनाथाय जिनेंद्राय नमोस्तु । श्रीवीतरागाय नमः ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नमः ।

ॐ ह्रीं पंचपरमेष्ठिभ्यो नमः

ॐ ह्रीं सर्वसिद्धान्तेभ्यो नमः

ॐ श्रीसीमंधर प्रत्यक्षदर्शन प्राप्ताय भव्याब्जमार्तंडसदृशाय मारवारण केशरितुल्याय नरामरपूज्यपादाब्जाय मिथ्यात्वतमोविध्वस्वत्तुल्याय श्रीकुंदकुंदयतीश्वराय दिशाम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

श्री वीतरागाय नमः— श्री वीतराग परम देव को नमस्कार हो।

इस अवसर्पिणी काल के प्रारंभ में सबसे पहले धर्म का स्वरूप प्रकाशित करने वाले श्रीवृषभनाथ जिनेंद्र देव को बार बार नमस्कार हो।

समस्त कर्मों से रहित अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित ऐसे जिनेंद्र श्री महावीर स्वामी को नमस्कार हो।

ॐ ह्रीं पंच परमेष्ठियों को नमस्कार हो।

ॐ ह्रीं समस्त सिद्धान्तों को मैं नमस्कार करता हूं।

जिन्होंने श्री सीमंधर स्वामी का प्रत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलों के लिए सूर्य के समान हैं, कामदेवरूपी हाथी को वश करने के लिए केशरी सिंह के समान हैं, देव विद्याधर मनुष्य आदि सब जिनके चरणकमलों की पूजा करते हैं, जो मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान हैं और जो केवल दिशारूपी वस्त्रों को धारण करने वाले अर्थात दिगम्बर हैं ऐसे श्री मुनिराज कुंदकुंद स्वामी को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं।

युच्छ्वासेन जपंति ये मंत्रराजं नरोत्तमा: । भंजति ते चतुर्थंच ह्यष्टोतरशतप्रमम् ॥ 1 ॥

अहो भव्या: सदाकाले दु:खेऽदु:खे इमं वरं । परमेष्ठिमंत्रराजं जपंतु शुद्धभावत: ॥ 2 ॥

बहुना कथनेनालं सर्वाहोघातने क्षमम् । मंत्रराजसमं मंत्रं न स्याद्धि सकलावनौ ॥ 3 ॥

एका ह्यपि शिवाप्त्यर्थं कालकला बुधोत्तमै: । प्रमादे नैव नेतव्या मंत्रराजादृते खलु ॥ 4 ॥

अतो भव्या जपध्वं वै मंत्रवृंदं जिनोद्भवं । सहस्रलक्षसंख्याढ्यं नानादु:खविनाशकम् ॥ 5 ॥

ये नरा न जपंत्येव मंत्रराजं जगन्नुतम् । पशुसमा मतास्ते हि विपुच्छमतिवर्जिता: ॥ 6 ॥

कुरुध्वं मोक्षप्राप्त्यर्थं जापं मंत्रस्य भो बुधा: । शक्त्यनुसारत: शुद्धया मत्वेति शिवदायकं ॥ 7 ॥

मंत्रं दुर्गतिनाशकं ह्यघहरं जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवम् । दु:खातंकविनाशकं मुनिनुतं स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥

संसारातपघातने पयसमं नानर्द्धिसंपादकम् । त्यक्त्वान्यं बुधसत्तमा ह्यनुदिनं चेमं जपध्वं खलु ॥ 8 ॥

अर्थ—जो भव्यजीव णमोकार मंत्र को 3 श्वास में जपता है तथा इसी प्रकार एक सौ आठ बार जपता है वह सर्वोत्कृष्ट मोक्ष फल को प्राप्त होता है। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं–यह प्रथम श्वासोच्छ्वासमें, णमो आयरीयाणं णमो उवज्झायाणं– यह द्वितीय श्वासोच्छ्वासमें, णमो लोए सव्वसाहूणं–यह तृतीय श्वासोच्छ्वास में जपना चाहिए। हे भव्यजीवों इस पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्रराज का जप दु:ख सुख सब समय में एकाग्र मन से शुद्ध भाव से करो। इससे समस्त प्रकार के पाप सहज में विलीन हो जाते हैं और सर्व प्रकार की सिद्धि स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। इसके बिना अपने जीवन की एक घड़ी भी व्यर्थ कभी मत खोओ। इस मंत्र के समान संसार भर में अन्य कोई मंत्र नहीं है।

अर्थ—जप क्रिया को बतलाकर अब ध्यान क्रिया का स्वरूप बतलाते हैं। ध्यान के समान समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त करने वाला और दु:खों का नाश करने वाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ 8 ॥

ध्यान की विधि

ध्यानाख्यां वच्मि हे भव्य क्रियां सकलदुःखहाम् । यत्समं नापरं धर्म गृहस्थानां जिनागमे ॥ 9 ॥
पद्मासनेन संस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम् । एकांते शुद्धभूमौच सन्निधौ वा प्रभोः मुदा ॥ 10 ॥
मानस्तंभादिस्तूपांतां सभाद्वादशमंडिताम्। सर्वां समवसारस्य रचनां देवजां खलु ॥ 11 ॥
चिंतनीयं त्रिधा शुद्ध्या चित्तकल्मषहानये। ततः शास्त्रानुसारेण पश्चात् सिद्धपदाप्तये ॥ 12 ॥
गंधकुट्युपरिसंस्थे तप्तहाटकनिर्मिते। सिंहासने निरौपम्ये सुराचलसमुन्नते ॥ 13 ॥
तस्योपरि निरौपम्यं सर्वबाधाविवर्जित। सर्वदेवाधिदेवं च वृषभादिजिनेश्वरम् ॥ 14 ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवो भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए तथा समस्त दुःखों को दूर करने वाले ऐसे मंत्रों को हजारों लाखों की संख्या में जप करो। जो मनुष्य समस्त संसार द्वारा पूज्य ऐसे मंत्रराज का-नमस्कार मंत्र का जप नहीं करते हैं वे बुद्धिहीन तथा पूंछ रहित पशुओं के समान हैं। हे विद्वानों यह नमस्कार मंत्र का जप मोक्ष देने वाला है इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध भावों से इसका जप अवश्य करो। यह भगवान जिनेंद्र देव का कहा हुआ नमस्कार मंत्र समस्त दुर्गतियों को दूर करने वाला है, पापों का नाश करने वाला है, रोग और दुःखों को दूर करने वाला है, मुनिराज भी इसको नमस्कार करते हैं, यह स्वर्ग मोक्ष के सुख देने वाला है, संसार रूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान है, और ऋद्धियों को देने वाला है। इसलिये हे विद्वानों अन्य सब मंत्रों को छोड़कर प्रतिदिन इस मंत्र का जप करो ॥ 9 ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर-मन वचन काय की सर्व प्रकार की शल्य मिटाकर स्वस्थ चित्त होकर-समस्त प्रकार की चिंताओं को छोड़कर और संकल्प विकल्पों का सर्वथा त्यागकर निराकुल होकर निराबाध स्थान में पवित्रता के साथ पवित्र भावों से पद्मासनपूर्वक ध्यान करने के लिये स्थिर चित्त से बैठना चाहिये। अथवा अरहंत प्रभु के समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ 10 ॥

तुर्यांगुलमूर्ध्वस्थंच तस्मादपि प्रभावतः । निर्जरेन्द्रोरगेन्द्राच्यं वैदर्तुधामरैर्युतम् ॥ 15 ॥

वसु वै प्रातिहार्याढ्यं तुर्यास्यभूषितं वरम् । मेघवद् गर्जनायुक्तं सप्ततत्वप्रकाशकम् ॥ 16 ॥

अनंतमहिमोपेतं यतीश्वरनमस्कृतम् । मदचंद्रमहादोषवर्जितांगं विबोधकम् ॥ 17 ॥

सौम्यरूपं दयारूपं वासाभरणवर्जितम् । विभयं निर्विकारं च मानमाया विवर्जितम् ॥ 18 ॥

विमोहं सर्वलोकेशं पूज्यपादं निरंजनं । तारकं सर्वजीवानां सर्वजीवाभयंकरम् ॥ 19 ॥

ईदृशं ह्यात्मनि भव्याः सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गकरं शुद्धं चिंतयंतु दिनं प्रति ॥ 20 ॥

अनेन ध्यानयोगेन सर्वाहो दुःखदायकम् । तत्क्षणात् प्रलयं याति ध्यानिनां वज्रतो नगाः ॥ 21 ॥

अर्थः—सबसे पहले मानस्तंभ से लेकर स्तूपपर्यंत समवसरण की देव रचित सब शोभा का चिंतवन करे फिर सिद्ध पद प्राप्त करने और सब पापों को दूर करने के लिये शास्त्रानुसार श्रीमंडप का चिंतवन करे। मध्य में एक गंधकुटी उस पर मेरु पर्वत के समान उपमारहित सुवर्णमय सिंहासन है। उस पर चार अंगुल ऊपर अधर सब उपमाओं से रहित तथा बाधाओं से रहित भगवान वृषभदेव विराजमान हैं। देव विधाधर इन्द्र नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं। चौसठ चमर उन पर ढुल रहे हैं। आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं। चारों ओर चार मुख शोभायमान है। मेघ की गर्जना के समान जिनकी दिव्य ध्वनि खिर रही है। जो सातों तत्वों को प्रकाशित कर रहे हैं। अनंत महिमा संयुक्त विराजमान हैं, सब मुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषों से रहित हैं, पूर्ण ज्ञानरूप हैं, सौम्य हैं, दयामय हैं, वस्त्राभरण रहित हैं, निर्भय हैं, निर्विकार हैं, मानमाया से रहित हैं, मोह रहित हैं, तीनों लोकों के स्वामी हैं, पूज्यपाद हैं घातिया कर्मों से रहित हैं, सब जीवों को पार कर देने वाले, सब जीवों को निर्भय करने वाले, समस्त कर्मरूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान, शुद्ध और मोक्षमार्ग को प्रगट करने वाले भगवान विराजमान हैं—ऐसा ध्यान प्रतिदिन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान करने से जिस प्रकार वज्र से पर्वत चूर चूर हो जाते हैं उसी प्रकार दुःख देने वाले सब पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। यह ध्यान मोक्ष देने वाला है। समस्त पापरूपी वन्हि के लिये मेघ के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चिंतवन कर सकते हैं और आत्मरसास्वादियों के लिये यह आनंद देने वाला है। ऐसे ध्यान को भो भव्य हो शुद्ध भावों से प्रतिदिन करो।

कुरुथ सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्धये । परमरसयुतानां ध्यानमानंदरूपम् ॥
शिवयुवतिविलासादायकं धीरध्येयं । सकलकलुषवन्हेः मेघपुष्पोपमं वै ॥ 22 ॥
षष्ठीं च क्रियां वक्ष्येहं महदानंददायकाम् । यत्प्रसादात्तरंत्येव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ 23 ॥
वीतरागमुखोद्गीतान् ग्रथितान् मुनिनायकैः । ख्यातपूजाव्यतिक्रांतधितैर्मायाविवर्जितै ॥ 24 ॥
त्यक्तलोभैर्दिशावासोधरैर्मार्गप्रभावकैः । ग्रंथान् भव्याः गुरोरास्यात् श्रृणुध्वमीदृशान् वरान ॥ 25 ॥
त्रिषष्टिपुरुषाणां च पुराणं वा चरित्रकम् । चान्येषां मनुजानां वै श्रोतव्यं वासरं प्रति ॥ 26 ॥
श्रावकाचारग्रंथं वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थैः कर्मनाशार्थं नित्यं पापविनाशकं ॥ 27 ॥
शास्त्राणां श्रवणात्सर्वाः क्रियाः स्वर्मोक्षसाधिकाः । जानात्येव ह्ययं प्राण्यभिषेकाद्यास्तथा बुधाः ॥ 28 ॥
पात्रापात्रस्य भेदंच हेयोपादेयकं तथा । सुखासुखस्य भेदं वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ 29 ॥
चतुर्धादानभेदंच मुनिमार्गं च तत्क्रियाम् । सल्लेखनाविधिं सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ 30 ॥

अर्थ—गृहस्थों की षष्ठी क्रिया स्वाध्याय है। स्वाध्याय सब क्रियाओं से अधिक आनंद प्रदाता है। जिस स्वाध्याय के प्रसाद से भव्य जीव संसार समुद्र से पार होते हैं।

स्वाध्याय के ग्रंथ कैसे होने चाहिये ?

जो ग्रंथ—श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान की दिव्य ध्वनि के ही प्रतिरूप हों और जिनकी रचना मुनीश्वरों ने की हो और वह राग-द्वेष के वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढाने के लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रंथ स्वार्थ या किसी मतलब के कारण स्वकल्पित बातों से न बनाये गये हों जिनमें मात्र श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी की ही रचना हो, मायाचार या लोभ से जिन ग्रंथों में दिव्यध्वनि से विपरीतता न हो, जो जैन धर्म के सत्य स्वरूप को प्रतिपादन करने वाले हों ऐसे ग्रंथों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिये।

जिन ग्रंथों में त्रिषष्टि शलाका पुरुषों का पवित्र जीवन चरित्र हो अथवा पुण्यपुरुषों का आदर्श चरित्र हो। श्रावकाचार और यत्नाचार के द्वारा जिनमें गृहस्थों के समस्त आचरणों की आज्ञा प्रतिपादित की हो।

सम्यग्दृग्ज्ञानव्रतस्य स्वरूपं शिवदायकम्। पुण्यापुण्यस्य भेदंहि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ 31 ॥

ग्रंथाग्रंथं तथा शीलस्वरूपं गात्रमंडनम् । परलोकस्वरूपंच गुणस्थानादिवर्णनम् ॥ 32 ॥

षट्जीवनिकायानां लक्षणं जीवरक्षणं। भक्ष्याभक्ष्यप्रमेदं च ह्यात्मरूपं सदास्थिरम् ॥ 33 ॥

विवेकमविवेकत्वं ज्ञानाज्ञानप्रलक्षणं। सप्ततत्वस्य भेदं च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ 34 ॥

बंधाबंधस्वरूपं च चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यत्स्वरूपं च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ 35 ॥

शास्त्रों का स्वाध्याय करने से गृहस्थों की पवित्र क्रियाओं का ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि, खान-पान का आचरण और अपने समस्त कर्त्तव्यों को धार्मिक समझ कर भव्यजीव उनको आगम के अनुकूल ही रखने में अपनी पवित्रता मानते हैं। षट् आवश्यक कर्मों का परिज्ञान शास्त्र श्रवण से ही होता है जिससे जिनेंद्र भगवान के पवित्र अभिषेक विधि पूजनविधि-जिनयज्ञ विधियों का स्वरूप सत्य-सत्य जाना जाता है। पात्र-अपात्र, दान-कुदान, पुण्य-पाप, हित-अहित, कर्त्तव्य-अकर्तव्य, सदाचार-दुराचार, मार्ग-कुमार्ग, नीति-अनीति, सत्य-असत्य आदि बातों का सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्याय से ही होता है। मुनियों का मार्ग सल्लेखना विधि क्रिया का ज्ञान भी स्वाध्याय से ही होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का स्वरूप स्वाध्याय से जाना जाता है।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप भी स्वाध्याय से मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकार की मलिनता स्वाध्याय से जानी जाती है।

गुणस्थान जीवस्वरूप जीवों की दया भक्ष-अभक्ष विचार आदि समस्त बातें स्वाध्याय से जानी जाती हैं।

विवेक और अविवेक का स्वरूप ज्ञान अज्ञान का स्वरूप बंध अबंध का स्वरूप भी स्वाध्याय से जाना जाता है। स्वाध्याय से ही कुशिक्षा और आत्माज्ञान रहित शिक्षा को ज्ञान स्वरूप नहीं जानता और न उसको हितरूप समझता है। ये सब बातें शास्त्रों के स्वाध्याय से सत्य-सत्य जानी जाती हैं।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देव के परम पवित्र आगम का ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्य की प्राप्ति हो और पाप क्रियाओं का परित्याग हो।

पश्यत भो बुधा ह्येतत् प्रभावमागमस्य वै । करस्थरेखावत्सर्वं ग्रंथानां श्रवणात् भवेत् ॥ 36 ॥

श्रृणुध्वं प्रतिघस्नं वै भो भव्या: कल्मषापहं। श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नं ग्रंथं वैराग्यदायकम् ॥ 37 ॥

ग्रंथान् श्रीजिनवक्त्रजानघहरान् संसार विध्वंसकान् । धर्माचारप्ररूपकान् मुनिनुतान् वंद्यान् सुरेन्द्रादिभि: ।

मिथ्यामार्गविघातकान् नरवरै: सेव्यान् शुभान् भो बुधा: । संसारातपहानये ह्यनुदिनं यूयं श्रृणुध्वं खलु ॥ 38 ॥

ग्रंथों के स्वाध्याय करने का एक यही अभिप्राय है कि स्वाध्याय के पवित्र ज्ञान से पापक्रिया और आगमविरुद्ध विचारों का परित्याग कर आत्मा की वास्तविक उन्नति का मार्ग शोधन कर आत्म कल्याण करें। न कि संसार को बढ़ाने वाली क्रियायों का विचार कर अपने को मोक्षमार्ग से गिरा वें। वही ज्ञानी है उसी ने शास्त्र स्वाध्याय का लाभ लिया है कि जिसने शास्त्र के स्वाध्याय से अपने मलिन विचारों को छोड़ दिया है।

जिनमें केवल तमाशे भरे हैं, जो ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले हैं, वीर रस से भरे हैं, अशुद्ध हैं, कुकथाओं से भरे हैं, जिनका आदि अंत कुछ नहीं है, जो राग-मोह को बढ़ाने वाले हैं, जिनमें दयारहित जीवों की कथाएं भरी हों जो बुद्धि को नाश करने वाले हों, जो कुदान का निरूपण करते हों, जो हेयोपादेय पदार्थों के ज्ञान से रहित हों, जिनमें उन्मत्तपुरुष के वचनों के समान सबंध रहित कथन हो , जो संसार को बढ़ाने वाले हों, क्रिया कर्म के उपदेश से रहित हों, क्रोध मानादि के बढ़ाने वाले हों, धर्म के स्वरूप से रहित हों, अधर्म की पुष्टि करने वाले हों, दुर्गति के देने वाले हों, तत्वज्ञानी विद्वानों के द्वारा त्याज्य हों, जो मोक्षमार्ग को रोकने वाले हों, लोभी पुरुषों ने अपनी कल्पना से बनाये हों और कुमार्ग को बढ़ाने वाले हों ऐसे ग्रंथ विद्वानों को कभी नहीं सुनने चाहिये। जो ग्रंथ धर्म का नाश करने वाले हैं, पाप के कारण हैं, समस्त विद्वानों के द्वारा निंद्य हैं, सत्य रहित हैं, पापबंध करने वाले हैं, सब सुखों को नाश करने वाले हैं, सब दोषों से भरपूर हैं, जो निंद्य हैं और आत्मज्ञान से रहित, इन्द्रिय सुखों में लीन रहने वाले धूर्त लोगों के बनाये हुए हैं ऐसे ग्रंथ विद्वानों को कभी नहीं पढ़ना चाहिये।

अर्थ:—अरहंत भगवान के मुख कमल से प्रतिपादित ग्रंथ संसार का नाश करने वाले हैं, मिथ्यामार्ग का नाश करने वाले हैं, मुनियों द्वारा बंद्य हैं, इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य हैं, सबका कल्याण करने वाले हैं और सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए भव्य जीवों को संसार के समस्त दु:ख दूर करने के लिए ऐसे ग्रंथों का स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए ॥ 38 ॥

कौतूहलभृतं ग्रंथं ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररसभृताशुद्धं कुकथाव्रातमंडितम् ॥ 39 ॥

आद्योपांतविहीन वै रागमोहविवर्धकम् । निर्दयादिकथावृंदकथकं बुद्धिनाशदम् ॥ 40 ॥

कुदानकथकं हेयोपादेयवस्तुवर्जितम् । मत्तवत्कथकं चैव संसारभ्रमकारणम् ॥ 41 ॥

क्रियाकर्मविहीनं च मानक्रोधादिकारणम्। सद्धर्मरसहीनं च कुधर्मपथपोषकम् ॥ 42 ॥

दुर्गतेर्दायकं हेयं बुधैस्तत्व विदाम्वरै: । स्वस्वकल्पोक्तितस्तैश्च प्रणीतं लोभधारकै: ॥ 43 ॥

भो बुधा: चेदृशं नित्यं शिवमार्गकपाटदं। कुमार्गवर्द्धकं त्याज्यं मा श्रृणुथ कदाप्यहो ॥ 44 ॥

घर्मघ्नं पापबीजं सकलबुधजनै: सत्वहीनं विनिंद्यं। पापानां बंधहेतुं सकलसुखहरं सर्वदोषै: प्रयुक्तम् ॥ 45 ॥

धूर्तैर्वै यच्च प्रोक्तं करणसुखरतैश्चात्मविद्याविहीनै: । निद्यं या मा पठध्वं बुधजननिकिराबेदृशं वै कदापि ॥ 46 ॥

प्रतिघस्रं गृहस्थानां सुकर्तव्या षट्धा क्रिया । जिनागमेहि कथिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ 47 ॥

षट्धा दुष्कृतनाशार्थं षट्क्रियां भो बुधोत्तमा: । कुर्वीध्वं पूर्वकालेहि शिवशर्मकरां वराम् ॥ 48 ॥

पापकार्यं प्रकुर्वंति ये नरा: तेऽधमा मता: । सर्वदु:खपदं हेयं धर्मस्य खलु न क्रियां ॥ 49 ॥

अर्थ—प्रत्येक दिवस गृहस्थों को करने योग्य ये षट्क्रियायें जिनागम में कहीं हैं, ये पाप को नाश करने वाली और परम पवित्र हैं ॥ 46 ॥

अर्थ— गृहस्थों को आरंभ और पंचशूना पाप से छह प्रकार के पाप नित्य प्रति लगते हैं। उनकी निवृत्ति के लिये समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त कराने वाली आवश्यक षट्क्रियाएं अवश्य ही करनी चाहिये ॥ 47 ॥

अर्थ—जो मनुष्य पाप कार्य के करने में रत हैं वे अधम हैं। यह पापकर्म सब तरह के दु:ख देने वाला है इसलिये त्याज्य है परंतु धर्म की क्रिया कोई भी त्याज्य नहीं है ॥ 49 ॥

षट्कार्येण भवेत् पापं तथा धर्मोपि भो बुधा: । समत्वता गृहस्थानां भवेतां द्वौ यदा खलु ॥ 50 ॥
यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धत्येव तदा भवेत् । नाकलोकस्य संप्राप्ति: पारंपर्यात् शिवस्य वै ॥ 51 ॥
यदहो वर्द्धतां याति तदा प्राप्ति: भवेत् खलु। अधोगतेरहो भव्या निकोतस्य ह्यनुक्रमात् ॥ 52 ॥
अतो द्वयो: फलं ज्ञात्वा प्रात:काले बुधोत्तमा: । प्रतिघस्रांहोनाशाय कुरुध्वं षट्क्रियां वराम् ॥ 53 ॥
षट्क्रियां ये प्रकुर्वंति मतास्ते गृहनायका: । आगमे जिननाथेन तेच धर्मप्रभावका: ॥ 54 ॥
अहो श्राद्धानिका यूयं कुरुथ षट्क्रियां वरां। भवतां यदि श्रद्धा स्यात् ग्रंथानां वै दृगाश्रये ॥ 55 ॥
प्रत्यक्षं पश्यथ यूयं सर्वग्रंथेषु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारमुख्येषु ॥ 56 ॥

अर्थ—कृष्यादिकार्य से पाप ही होता है। धर्म कार्य से धर्म होता है तथा गृहस्थों से दोनों हो सकते हैं इसलिए गृहस्थों को पापों को दूर करने के लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ 50 ॥

अर्थ—जब धर्मक्रियाएं बढ़ती हैं तब ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ 51 ॥

अर्थ—जब पाप कर्म बढ़ जाते हैं। तब यह जीव अधोगति को प्राप्त होता है और अनुक्रम से निगोद पर्याय को प्राप्त होता है ॥ 52 ॥

अर्थ:—पाप कर्मों का फल दु:ख की प्राप्ति और धर्मक्रिया का फल सुखों की प्राप्ति है। इसलिये पाप क्रियाओं का परित्याग कर नित्य ही षट् आवश्यक क्रियाओं को भावपूर्वक करना चाहिये ॥ 53 ॥

अर्थ:—जो भव्य जीव षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन भावभक्ति से नित्य प्रति करते हैं वे सद्गृहस्थ माने गये हैं। जिनेन्द्र भगवान ने उनको भव्य माना है और उनसे ही धर्म की प्रभावना होगी ॥ 54 ॥

अर्थ:— हे भव्य श्रावक ! इसलिये आप षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन नित्य ही अपनी शक्ति को न छुपाकर भाव भक्ति से करो जिससे जिनागम में श्रद्धा हो तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ॥ 55 ॥

अर्थ:—हे भव्य जीवों ! यह बात सबको प्रत्यक्ष है और ग्रन्थों से भी सबको निश्चय है। महापुराण और श्रावकाचार आदि मुख्य ग्रंथों में ये क्रियाएं स्पष्ट बतलाई हैं ॥ 56 ॥

सर्वत्र वर्णिता: श्रीमज्जिनसेनादियोगिभि: । दिशांबरधरै: धीरै: मिथ्यामार्गविघातकै: ॥ 57 ॥

सर्वत्र वर्णिता: शुद्धा गृहस्थानां क्रिया वरा: । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका: ॥ 58 ॥

स्नानाद्या: कथिता: शुद्धा गृहस्थानां क्रिया वरा: । पालनार्थं प्रतिदिनं ह्यागमे शिवदायका: ॥ 59 ॥

भवद्भि: केन ग्रंथेन वक्तव्यं खलु लोपिता: । षट्क्रिया जिननाथेन इमा: प्रोक्ताश्च गेहिनां ॥ 60 ॥

स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च । कुरुध्वं जिननाथस्य षट्क्रियां वासरं प्रति ॥ 61 ॥

त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु । ग्रंथानां लोपनं मूढा मा कुरुध्वं मतापहम् ॥ 62 ॥

अर्थ:—ये क्रियायें आगम में सर्वत्र कहीं है और मिथ्यामार्ग को नाश करने वाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिगंबराचार्यों ने कही हैं ॥ 57 ॥

अर्थ:—गृहस्थों के लिये आगम में प्रति दिवस करने के लिये आवश्यक षट क्रियाएं प्रतिपादन की हैं। उनसे इस लोक में सुख और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है और क्रम से मोक्ष भी होती है ॥ 58 ॥

अर्थ:—श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान की पंचामृत रसों से अभिषेक पूर्वक पूजा आदि उत्तम क्रियाएं गृहस्थों को नित्य ही करनी चाहिये जिससे मोक्ष के सुख की प्राप्ति हो ॥ 59 ॥

अर्थ—जो लोग स्नानादि क्रियाओं का निषेध करते हैं उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रंथों में स्नानादि क्रियाओं का निषेध देखा है ? आगम में तो किसी भी ग्रंथ में निषेध नहीं है। बल्कि समस्त ग्रंथों में इसका विधान ही मिलता है। जब समस्त ग्रंथों में विधान है तो फिर लोप क्यों करते हो। भगवान जिनदेव ने बतलाई हुई क्रियाओं का लोप करना ठीक नहीं है ॥ 60 ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगम में दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित षट्क्रियाओं को नित्य प्रति भाव भक्ति से करना चाहिये ॥ 61 ॥

अर्थ—अपने कल्पित विधि को ही सत्य मानकर जिनागम का लोप करना वसु राजा के समान दु:ख को प्रदान करने वाला है इसलिये भव्य जीवों को ग्रंथ का लोप नहीं करना चाहिये ॥ 62 ॥

मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणांच योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम् ॥ 63 ॥
तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टः किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ 64 ॥
भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणाः । चाल्पमात्रापि दृश्यंते सर्वद्वापरनाशकाः ॥ 65 ॥
वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवद्भिः मतिवर्जितैः किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥ 66 ॥
दोषः किं स्यात् प्रभोः पादलेपने चंदनादिभिः । दीपस्योद्योतने किंच जिनांकयक्षपूजने ॥ 67 ॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥ 68 ॥
पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु। केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोकरैः प्रपूजने ॥ 69 ॥

अर्थ—मति श्रुत और अवधिज्ञान के धारक मुनीश्वरों ने गृहस्थधर्म का व्याख्यान करते समय षट्क्रियाओं का वर्णन किया है। इन षट्क्रियाओं में उन्हें कोई दोष दिखाई नहीं दिया। इसलिये जो भव्य जीव इन क्रियाओं को नहीं करते हैं– श्रीजिनेन्द्र भगवान का अभिषेक नहीं करते वे मूर्ख हैं।

अर्थ—हे भोले जीवों आप लोगों में समस्त संदेहों को दूर करने वाले मतिज्ञान आदि सद्गुण थोडी मात्रा में भी नहीं हैं फिर आप किस आधार पर अभिषेक आदि क्रियाओं का निषेध करते हैं।

अर्थ—आप लोग शास्त्र के ज्ञान से रहित हैं फिर आप किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओं का निषेध करते हैं। क्या किसी शास्त्र में इन क्रिया संबंधी दूषण आपने देखा है ? जो निषेध करते हैं।

अर्थ— प्रभु के चरण कमलों पर चंदन का लेप करना, दीप को चढ़ाना और जिनशासन देवों की पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें हैं जिनेन्द्र भगवान ने कहीं हैं निर्दोष हैं॥ 67 ॥

अर्थ—रात्रि में धूप का चढ़ाना, पूजन करना और जिन मुद्रा धारक पुरुषों का मोक्ष मार्ग बढ़ाने वाला वात्सलय करना यह सब क्रिया उत्तम है निर्दोष है और शास्त्रविहित है॥ 68 ॥

अर्थ:—इसी प्रकार पुष्पों से भगवान के चरण कमलों की पूजा करनी चाहिये। केला, आम, द्राक्ष आदि उत्तम फलों से पूजा करनी चाहिये। इत्यादि समस्त विधि जिनदेव ने बतलाई है उनका लोप करना भगवान की आज्ञा का लोप करना है। जो मनुष्य भगवान की आज्ञा का लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नहीं रहता है ॥ 69 ॥

इत्याद्या या: क्रिया: सर्वा जिननाथेन वर्णिता: । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धित: ॥ 70 ॥
अतो यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगा: । न श्रद्धा नि:फला जाता जिनाज्ञालोपत: खलु ॥ 71 ॥
यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोपि नास्ति वै । अतो यूयं कुश्रद्धाया: पालकाश्च न संशय: ॥ 72 ॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तत् वचनस्य च । तदा ह्यंगीकुरुध्वं भो स्नपनादिकसत्क्रियां ॥ 73 ॥
आख्यापयथ मूढा: कस्याज्ञाया: स्नपनादिका: । यूयं त्यक्ता: क्रिया मुख्या ग्रंथपक्षं प्रदर्शत ॥ 74 ॥
ग्रंथानुसारत: त्यक्ता: वदध्वं च क्रिया: खला: । इमे यूयं तथा किं च स्वमते: सारत: खलु ॥ 75 ॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रंथाज्ञां भुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्रा: खचरेश्वरा: ॥ 76 ॥
सर्वे ते मानयंत्येव नि:शंकां निखिलार्थदाम् । मतिश्रुतावधिभिष्टशुद्धदृग्धारका: खलु ॥ 77 ॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वरा: । न कुर्वंत्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥ 78 ॥

अर्थ:—जहां पर अज्ञान है वहां धर्म का लेश मात्र भी पालन नहीं है। इसलिये जो लोग इन क्रियाओं को छोड़ देते हैं वे मिथ्या श्रद्धान के पालन करने वाले समझे जाते हैं ॥ 70 ॥

अर्थ:—जो आपको आगम की श्रद्धा है तो अभिषेक आदि षट् क्रियाओं को स्वीकार करो ॥ 71 ॥

अर्थ:—यह तो बतलाइये कि स्नपन आदि क्रियायें किसकी आज्ञा से आपने छोड़ रखी है ? ऐसा कोई ग्रंथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रंथ दिखलाइये ॥ 74 ॥

अर्थ:—जो आपने किसी ग्रंथ के आधार से समस्त क्रियाओं का परित्याग किया है या अपने ही मनसे ? मन की बात तो ठीक नहीं है और आगम ग्रंथ में कहीं पर निषेध नहीं है ॥ 75 ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान के मुख कमल से प्रकाशित आगम ग्रंथों की आज्ञा सब तरह की शंकाओं से रहित है और समस्त तत्त्वों का बोध करने वाली है इसलिये तीनों लोकों के देवेन्द्र नरेन्द्र विद्याधर और विद्वान सभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव भी इसे स्वीकार करते हैं व श्रद्धान करते हैं।

अर्थ— श्रीजिनदेव की आज्ञा को सुरेश्वर भी उत्थापन नहीं करते हैं वे भी जिनदेव की आज्ञानुसार अपनी समस्त क्रिया करते हैं। परंतु आप लोग परंपरा से प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित क्रियाओं का लोप क्यों करते हैं ? जिन जिनेंद्र की आज्ञा

युयं वदथ भो मर्त्या: पारंपर्यात्समागता: । भवद्भिरभिषेकाद्या: कथमुत्थापिता: खलु ॥ 79 ॥

सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन । जिनाज्ञालोपने मूढा: भवद्भि: लोपिता: कथं ॥ 80 ॥

यूयं तदधिका: किं वै अत: उत्थापितं प्रभो: । वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम् ॥ 81 ॥

वदध्वं पुन: भो मूर्खा ह्यसत्या: स्युरिमा: क्रिया: । सर्वे ग्रंथा असत्या: स्यु: सर्वसंदेहनाशका: ॥ 82 ॥

युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै । तदा किं न कुरुध्वं भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ 83 ॥

पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रंथपक्षं जगन्नुतम् । यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये ॥ 84 ॥

ह्यधुना पंचमे काले नो संति भो बुधोत्तमा: । तीर्थंकरा: सुरै: पूज्या: केवलज्ञानमंडिता: ॥ 85 ॥

को लोप करने की शक्ति देवों में नहीं है। मालुम पड़ता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रों से भी अधिक है ! इसीलिये देवेन्द्रों से पूज्य जिनागम के लोप करने में आपकी बुद्धि हो रही है। इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेक को नष्ट कर मिथ्यात्व को प्रकाशित करेगी।

अर्थ—क्या शास्त्रों में बतलाई हुई क्रियाएं असत्य हैं। जो असत्य हैं तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे। जिन शास्त्रों के पढ़ने से सर्व संदेह नाश होता है और सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा निरावाध प्राप्त होती है उनको असत्य किस प्रकार माना जाय।

अर्थ—जो आपकी जिनागम में श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओं को स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो ।

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओं के करने में पक्षपात का परित्याग कर देना चाहिये। जगतमान्य ग्रंथों का पक्ष करना चाहिये। यदि आप आगम के अनुकूल चलना चाहते हैं तो धर्म की सिद्धि के लिये क्रियाओं कों पालन करो।

अर्थ—इस पंचम काल में इस समय देवों से पूज्य केवलज्ञान मंडित समोसरण युक्त चौंतीस अतिशय युक्त अष्टादश दोष रहित-परम वीतराग-ऐसे तीर्थंकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नहीं हैं। वे तो चतुर्थकाल में ही मोक्ष में जा विराजे हैं। इसलिये तीर्थंकर प्रभु की प्रत्यक्ष पूजा इस समय नहीं होती है। किंतु उनके गुणों की प्राप्ति के लिये परोक्ष पूजा इस समय की जाती है। भगवान का स्वरूप चिंतवन करने के लिये तदाकार धातु पाषाण आदि की सुंदर मूर्ति निर्माण कर और आगम की विधि से उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है ॥

समवसरणशोभामंडिता भव्यबोधकाः । मित्राग्न्यतिशयैर्युक्ताः पुष्पदंतप्रभाधिकाः ॥ 86 ॥
तेपि सर्वे शिवस्थाने गताः शर्माब्धिभोजकाः । प्रत्यक्षं नैव दृश्यंते जिनाश्च केवलेक्षणाः ॥ 87 ॥
चिंतनार्थं च तेषां वै स्थापना पंचमे बुधाः । धातुपाषाणद्रव्येषु मुनिभिः स्थापिताः शुभाः ॥ 88 ॥
शिलास्फोटसुहस्तेन घटिताः तत्समाश्च वै । पश्चाद्धि तत्प्रतिष्ठाच संभवेद्धि यथाविधि ॥ 89 ॥
स्यात्तदा पूजया योग्या तन्मूर्तिः सकलावनौ । सर्वे भव्याः प्रतिघसं तद्विंबस्य तदाग्रये ॥ 90 ॥
उदकेक्षुघृतैर्दुग्धैर्दधिसर्वौषधादिभिः । अभिषेकं प्रकुर्वंति शुद्धैरंबकनंदकैः ॥ 91 ॥
ततश्चैव सुवासेन तत्तनोर्जलजान् कणान् । हरीकृत्य प्रयत्नेन स्थापयित्वा वरासने ॥ 92 ॥
तदग्रेहि त्रिधारां च पातयंति नराश्च ये । जन्ममृत्युजरानाशं कुर्वंति ते हि निश्चयात् ॥ 93 ॥
काश्मीरागुरुचंद्रं च ह्यन्यद्गंधोत्करं शुभम् । संघृष्य जिनपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ ॥ 94 ॥
भवाताविनाशार्थं केवलज्ञानधारिभिः । कथितं बिंबपूजायां चंदनस्य प्रलेपनम् ॥ 95 ॥

अर्थः—भगवान की मूर्ति की परोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजा से भिन्न होती है। इसलिये परोक्ष पूजा उस मूर्ति की जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधी आदि उत्तम और पवित्र द्रव्यों से की जाती है। यह सनातन विधि श्रीजिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधि से नंदीश्वरादि द्वीप में अकृत्रिम जिनबिंबों का अभिषेक करते हैं ॥ 91 ॥

फिर भगवान की उस दिव्य मूर्ति को एक उत्तम सिंहासन पर विराजमान कर मूर्ति के जलकणों को वस्त्र के द्वारा पोंछ लेवे ॥ 92 ॥

अर्थ—जो भव्य जीव अरहंत प्रभु के समक्ष भृंगार नाल से तीन धारा को छोड़ते हैं वे जन्म, जरा और मरण तीन पापों को नाश करते हैं ॥ 92 ॥

अर्थ—केशर-कर्पूर-अगर-तगर आदि सुगंधी द्रव्यों को उत्तम प्रकार से घिसकर श्री जिनदेव के पवित्र चरण कमलों का प्रलेपन करना चाहिये। जिससे संसार ताप का नाश हो। यह जिनबिंबपूजा की विधि संसार ताप विनाश करने के लिये केवलज्ञान धारक श्री जिनदेव ने बतलाई है।

जिनपादारविंदाग्रे कर्त्तव्या भो बुधोत्तमाः । पुंजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ 96 ॥
कुंदाब्जमालतीपुष्पव्रजाश्च मारहानये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्याः कीटवर्जिताः ॥ 97 ॥
शाल्यन्नं, मोदकं भक्ष्ये सर्वं च व्यंजनोत्कर श्रुधातंकविनाशार्थं प्रभो पुरः ॥ 98 ॥
आरार्तिका प्रकर्त्तव्या जिनेन्द्रपदपद्मयोः । मोहभूपविघातार्थं दीपव्यूहैर्घृतौद्भवैः ॥ 99 ॥
पावके धूपवृंदस्य कर्त्तव्यो दहनो बुधैः । जिनपादाब्जभूम्यग्रे कर्मेन्धनविनाशकः ॥ 100 ॥
नारिंगाम्रकपित्थाद्यैः पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थं शर्मसंततिदायकम् ॥ 101 ॥
भो भव्या बिंबपूजाया विधिरेवं प्रकीर्तितः । जिनागमे यतीन्द्रौघैः यूयं सर्वत्र पश्यथ ॥ 102 ॥
प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता । स्थापनायां मताः सर्वाः क्रियाः वै स्नपनादिकाः ॥ 103 ॥
पश्यथ सर्वग्रंथेषु बिंबपूजाविधिं पृथक् । केवलज्ञानपूजाया सुरेन्द्राद्यैश्च निर्मितं ॥ 104 ॥
व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थानां जिनेश्वरैः । बिंबपूजाविधिश्चैव कथितः केवलेक्षणैः ॥ 105 ॥

अर्थ—अरहंत प्रभु के समक्ष उत्तम अक्षतों के मनोहर पुंज बनाकर चढ़ाना चाहिये जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो।

अर्थ—मोगरा कमल मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलों को प्रभु के चरण कमलों पर चढ़ाना चाहिये।

अर्थ—अरहंत प्रभु के समक्ष भात लाडू आदि व्यंजन बड़ी भक्ति से शुद्धता पूर्व चढ़ाना चाहिये जिससे क्षुधा रोग की शांति हो।

अर्थ—अरंहत प्रभु के सामने शुद्ध सुगंधित घी के सुंदर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये।

अर्थ—प्रभु के सामने उत्तम सुगंधित धूप अष्टकर्मों के नाश करने के लिये अग्नि में प्रक्षेपण करना चाहिये।

अर्थ—प्रभु के चरण कमलों की पूजा नारंगी-आम-कपित्थ आदि उत्तम फलों से विधि पूर्वक करनी चाहिये जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

निश्चयनयतो भव्या: चिद्रूपाणां मता खलु। इज्या च सारसिद्धांते प्रोक्ता सकलदर्शिभि: ॥ 106 ॥
अत: साक्षात् जिना: पूज्या: सुगंधीशैश्च तारका:। नो संति सत्समायुक्ता: किं विदध्मो वदथ वै ॥ 107 ॥
अस्मिन् काले महामीर्मे तद्वते कथिता: क्रिया: । मुनीश्वरैश्च बिंबेषु स्नानाद्या भो बुधोत्तमा: ॥ 108 ॥
दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा। साप्यस्मिन् नास्ति भो भव्या: सर्वद्धापरखंडका ॥ 109 ॥

हे भव्य अरहंत भगवान के जिनप्रतिमा की परोक्ष पूजा की विधि संक्षेप से उपर कही है वह जिनागम में सर्व ग्रंथों में मुनीश्वरों ने बतलाई है।

अर्थ:—इस पंचमकाल में साक्षात् केवली भगवान विराजमान नहीं हैं किंतु केवली भगवान तीर्थंकर प्रभु की प्रतिकृति (स्थापनाबद्ध जिनमूर्ति को ही साक्षात जिनेन्द्र भगवान मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती हैं। यह स्नपनादि विधि समस्त ग्रंथों में कही है। परोक्ष पूजा की विधि यही परमागम में मानी है। देवेन्द्रों ने जिनमूर्ति की पूजा विधि इसी प्रकार की है। यह विधि व्यवहार नय की अपेक्षा से आचार्यों ने बतलाई है और जिनेश्वर देव ने प्रतिपादित की है। निश्चयनय से एक चिद्रूप में ही लवलीन हो जाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धांत नाम के ग्रंथ में कहा है। इसलिये जिन भव्य जीवों ने जिनप्रतिमा की पूजा की उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की पूजा की। देवगणों में शक्ति होने से वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसार समुद्र से पार होते हैं ऐसी ही अचिंत्य शक्ति अरहंत भगवान में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है परंतु इस समय साक्षात् अरहंत नहीं हैं फिर हम लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजा के और क्या कर सकते हैं ?

इस पंचमकाल में साक्षात् अरहंत केवली का अभाव होने से जिनबिंब में ही स्नानादि विधि कर षट् आवश्यक क्रिया करनी चाहिये। ऐसा आचार्यों ने कहा है।

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवली का अभाव होने से साक्षात् दिव्यध्वनि का भी अभाव है जिससे सर्व संदेह दूर होता था। परन्तु पंचम काल में जिनागम ग्रंथों में वह दिव्य ध्वनि आचार्यों की परंपरा से ग्रथित की है जिनागम ग्रन्थों में केवली भगवान की दिव्य ध्वनि के सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न राग-द्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदि के गौरव से वीतराग योगियों ने उस दिव्य ध्वनि में व्यतिक्रम किया है। इसलिये परमागम के शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रमाणिकता-सत्यता और निर्दोषता दिव्यध्वनि की है वही प्रमाणिकता-सत्यता-निर्दोषता और अबाधता ग्रंथों की है।

पर्णेषु जिनसेनाद्यैर्योगीन्द्रै: संधृता खलु। पारंपर्यात्समाता साच सर्वत्र विश्रुता ॥ 110 ॥
तदा सर्वे गृहस्थाश्च क्रियाकर्मरता: परम् । शास्त्राद्धि सदप्रत्यक्षं पश्यंति सकला: क्रिया: ॥ 111 ॥
अहो श्राद्धानिका यूयं कुरुध्वं सकला: क्रिया: । साधुभिर्वरयोगीन्द्रै: ग्रंथेषु स्थापिता नतु ॥ 112 ॥
कालेस्मिन्मलचितकरे मिथ्यात्वपूरिते। नैव दृश्यंते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा: ॥ 113 ॥
मतिज्ञानयुता: केचित् श्रुतबोधविमंडिता: । अवधिज्ञानान्विताहि तुर्यबोधान्विता: खलु ॥ 114 ॥
संत्यस्मिन् नैव ते धीरा मुनय: सुरपूजिता: । ईदृशा ज्ञाननेत्राढ्या दिशावासोधरा वरा: ॥ 115 ॥
कालेस्मिन् किं करिष्याम: गुरूणां तदृते नरा: । लोपं वदथ ग्रंथेषु कथितं यदि क्वापिच ॥ 116 ॥
ईदृशं न श्रुतं क्वापि गुरुलोपं च पंचमे । कुरुध्वं मानयध्वं च द्वयो: श्रीजिनशास्त्रयो: ॥ 117 ॥

अर्थ:— वही दिव्यध्वनि आचार्य परंपरा से चली आ रही है और उसी को भगवान जिनसेनाचार्य आदि महर्षियों ने ग्रंथों में लिखी है।

अर्थ:—इसलिये सद्गृहस्थों को चाहिये कि शास्त्रोक्त स्तवन आदि क्रियाओं को करें क्योंकि वे सब बातें शास्त्र में प्रत्यक्ष हैं।

अर्थ:— हे भव्यजीवों आत्मविचार करो और योगीन्द्रों के द्वारा बतलाई हुई शुभ क्रिया (भगवान का पंचामृतादि) को प्रेम पूर्वक करो।

अर्थ:—इस पंचम काल में मनुष्यों के मन स्वभाव से ही चपल हो रहे हैं। मिथ्यात्व से पूरित हो रहे हैं। ऐसे समय में महाव्रत के धारण करने वाले बिरले ही मिलते हैं। जिनको मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन: पर्ययज्ञान है ऐसे महामना मुनीश्वरों का तो प्राय: अभाव है। जिनसे संसार का कल्याण होता था। वे मुनीश्वर कुमार्ग पर चलने वालों को सुमार्ग पर लाते थे। जिनराज की आज्ञा भंग करने वालों को सन्मार्ग पर लाते थे और मनमानी करने वालों को योग्य व्यवस्थाकर सन्मार्ग पर लाते थे। संघ में बिना दंड़ के कभी भी व्यवस्था नहीं होती है। राजदंड से जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार पंचायती दंड से धर्मविरुद्ध चलने वालों की अनीति मिट जाती है।

त्रिकालसर्ववस्तूनां वर्णना च कृता जिनैः। भो मर्त्या न श्रुतं चैव गुरुलोपं च तत्र वै ॥ 118 ॥
श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीध्वं हृदि भो नराः। निश्चयस्य नयस्यैव लक्षणं तच्च निश्चयात् ॥ 119 ॥
अर्हतो नापरो देवो निर्ग्रंथान्नापरो गुरुः। दयातो नापरो धर्मो ह्येतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ 120 ॥
भो मूढा भवतां नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका। दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवार विभंजका ।। 121 ॥
निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यस्य स्यात् खलु। श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्तिः सम्यक्त्वस्य न संशयः ॥ 122 ॥
स्याद्यदि भवतां श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात्। तर्हि नमथ पर्णस्थान् किमर्थं वचनापहा ॥ 123 ॥

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है । इसमें जैन कहलाने वाले न जाने कैसे-कैसे पापी भी उत्पन्न होंगे जो स्वयं धर्मबहिर्भूत होंगे और समस्त प्रजा को ग्रंथों का लोप कर धर्मबहिर्भूत बनायेंगे। कुमार्ग-अन्याय और अत्याचार बढ़ायेंगे। यद्यपि ग्रंथों में सदाचार का विधान होगा तो भी वे पापी उसको नहीं मानेंगे और लोगों में मिथ्या प्रसिद्धि कर सन्मार्ग का लोप करेंगे। ऐसे मनुष्यों से सन्मार्ग प्रकाशक ग्रंथों की रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार अन्याय फैलाने वाले ग्रंथों की रचना होगी। इसके सिवाय वे लोग गुरुओं का भी लोप करेंगे-गुरुओं को भी नहीं मानेंगे।

अर्थ—पंचम काल में मुनिधर्म का लोप होगा ऐसा कहने वाले मायावी हैं क्योंकि पंचम काल के अंत तक शुद्ध मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे ऐसा जिनागम स्पष्ट रूप से बतलाता है। इसलिये शास्त्र और गुरु दोनों का श्रद्धान करना चाहिये-दोनों को मानना चाहिये।

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भगवान ने समस्त पदार्थों का वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पंचमकाल के अंत तक चतुर्विध संघ निर्दोष रहेगा, परंतु ऐसा कहीं भी नहीं सुना न जिनागम में कहा है कि पंचमकाल के प्रारंभ के बाद ही मुनीश्वरों का अभाव होगा परंतु मतलबी कितने ही पापी मनुष्य गुरुओं का लोप करते हैं अर्थात् वे पापी निर्ग्रंथ गुरुओं को भी नहीं मानते।

अर्थ:—जो सर्वज्ञ कथित आगम और निर्ग्रंथ गुरु का प्रलोपकर केवल मनोकल्पना से शुद्ध सम्यग्दृष्टि बनते हैं उनके लिये विचार किया जाता है कि देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान बिना केवल स्वानुभव से सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनय का अवलंबन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नहीं है उसके

पूजयथ किमर्थं च मूर्तिं पाषाणनिर्मिताम्। निश्चयपालका यूयं व्यवहारपरान्मुखाः ॥ 124 ॥

निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है–क्यों कि अरहंत के सिवाय अन्य कोई देव नहीं। निर्ग्रंथ दिगंबर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है, ऐसे दृढ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण परमागम में बतलाया है। जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है मिथ्यादृष्टि है क्योंकि यह परमागम का सुदृढ नियम है कि जिसके देव शास्त्र गुरु का दृढ श्रद्धान होता है उसी के निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है। जो मनुष्य देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा करे नहीं आगम को सर्वांग माने नहीं आगमोक्त आचरण और क्रियाओं को स्वीकार करे नहीं आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओं को धर्मक्रिया नहीं माने और धर्म में सशंक वृत्ति रखे वह अपने को भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टि कहे परंतु वह घोर पापी और अंनतसंसारी मिथ्यादृष्टि है।

अर्थ:— जो तुमारे एक आत्मा का ही निश्चय श्रद्धान है और उसी का पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनिदीक्षा लेकर वन में रहो। व्यर्थ ही भगवान अरहंत देव के कहे हुए वचनों का लोप क्यों करते हो तथा फिर ग्रंथों को क्यों नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रंथों की उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहां रहा ? और एक आत्मीय श्रद्धान कहां रहा ? जब ग्रंथों की उपासना है तब ग्रंथों में प्रतिपादित मूर्ति पूजा स्नपन अष्टद्रव्य से पूजन आदि विधान भी मानना पड़ेगा अन्यथा ग्रंथों की उपासना भी नहीं बनेगी और जो एक आत्मा का ही निश्चय श्रद्धान सारभूत है। व्यवहार क्रियाओं से क्या प्रयोजन ? इस[1] विचार से व्यवहार नय का उत्थापन करते हो तो फिर पाषाण निर्मित अरहंत भगवान की मूर्ति क्यों पूजन करते हो? मूर्ति की पूजन करने से आत्मा की पूजन नहीं होती है। निश्चय अनुभव को मानने वालों को मूर्ति पूजने की जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागम में सर्वत्र बतलाई है। बिना मूर्ति पूजा के आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल आत्मा के श्रद्धान को मानकर देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है।

1—कितने ही आत्मा का अनुभव और निश्चय के गीत गाकर व्यवहार आचरण को पुद्गल का धर्म मानकर परित्याग कर देते हैं। वे न तो देव की सेवा ही करते हैं, न गुरु की उपासना करते हैं, न सदाचार को मानते हैं। उनके देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान नहीं होता। प्रायः वे समस्त प्रकार के व्यसनों में फंसे हुए सदाचार से भी पराङ मुख होते हैं। अपने को जैन कह करके भी जैनमार्गानुसार कभी नहीं चलते हैं। निश्चय सम्यग्दृष्टी के भी व्यवहार सम्यक्त्व होता है। देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा के बिना कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। जब सम्यग्दर्शन नहीं है तब उनके निश्चय सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? ऐसे जीवों को परमागम में मिथ्यात्वी बतलाया है ।

सिद्धांते जिननाथेन भाषितं चैव लक्षणम्। निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ 125 ॥
नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो। मुनीनांच गृहस्थानां यूयं सर्वत्र पश्यथ ॥ 126 ॥
व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता: । गुरव: श्रृणुथ यूंय वक्ष्यमाणं मया खलु ॥ 127 ॥
होकवर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदस्य वा। ग्रंथस्य मंत्रदाताच ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ 128 ॥
यज्ञोपवीतदाताच इत्याद्या: श्रीजिनागमे। इमे सर्वे मता: शास्त्रे गुरवो गुणदानत: ॥ 129 ॥
येऽधमा नैव मन्यंते गुरुं ज्ञानस्य दायकम्। ते यास्यंति न संदेह: सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥ 130 ॥
यथा वै जिनराजस्य यथा दिव्यध्वने: बुधा: । स्थापना दृश्यते लोके गुरूणां च तथा मता ॥ 131 ॥

अर्थ:—जिनेन्द्र देव ने सिद्धांत ग्रंथों में सम्यग्दृष्टि का उपर्युक्त लक्षण कहा है। व्यवहार नय के बिना निश्चय नय भी कार्यकारी नहीं है। शास्त्रकारों ने यही बतलाया है कि व्यवहार नय से ही कार्यसिद्धि होती है। गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म का स्वरूप इसी नय से प्रकट होता है। व्यवहार नय से मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानों का आरोहण कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

अर्थ:—जो एक अक्षर, एक श्लोक, एक पद और एक ग्रंथ का पढ़ाने वाला है वह भी गुरु होता है। मंत्र का प्रदान करने वाला भी गुरु है। ज्ञान (देशना) का उपदेश देने वाला गुरु माना है। यज्ञोपवीत विधि–विवाह विधि प्रतिष्ठाविधि– आदि विधि और संस्कारों को कराने वाला गुरु होता है। जिनयज्ञ–जिनपूजन आदि विधियों को कराने वाला गुरु है। जैन परमागम में गुरुसंज्ञा गुणों का प्रदान करने से अनेक प्रकार से मानी है।

अर्थ—जो अधम मनुष्य गुरु को ज्ञान दायक नहीं मानते हैं वे नि:संदेह नरक के पात्र हैं। गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है।

अर्थ—जैसे जिनराज की स्थापना मूर्ति में होती है। जैसे दिव्यध्वनि की स्थापना ग्रंथों में होती है। वैसे ही पूर्व काल के निर्ग्रंथ मुनीश्वरों की स्थापना भी वर्तमान काल के मुनियों में होती है ॥ 131 ॥

1—धर्मगुरु, विद्यागुरु, माता-पितागुरु, राजगुरु, संस्कारकर्ता गुरु-आदि भेद से गुरुओं के अनेक भेद माने हैं। धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रंथ और परम दिगंबर ही होते हैं। संसार समुद्र से तारक और आत्महित के करने वाले धर्मगुरु हैं। बाकी व्यवहार आचरणों के द्वारा क्रम से आत्महित करने वाले हैं।

जैनात्तपुरुषा ह्येते जिनधर्मप्रभावकाः । धर्मोपदेशनादौच पश्यथ च तदोपमाः ॥ 132 ॥
अहो मूढाः च प्रत्यक्षं कुलोन्नतविराजिताः । बुद्ध्यादिगुणसंपन्ना मिथ्यात्वपथनाशकाः ॥ 133 ॥
कलौ च जैनधर्मस्योद्धारणेऽतीव चातुराः । अस्माद्धि जैनमार्गोयं प्रत्यक्षं दृश्यते खलु ॥ 134 ॥
एषां वै नैव सामर्थ्यमस्माकं कालदोषतः । एतेषामपि सा न स्यात् प्रत्यक्षं पश्यथ खलु ॥ 135 ॥
जिनात्तपुरुषा ह्येते जिनधर्मोपदेशकाः । अतः सर्वे प्रमान्याः स्युः जिनातं कोन मानयेत् ॥ 136 ॥
यथा पाषाणबिंबानां योग्यो वै पूजनादिकः । कार्यं तथैव भो मर्त्याः एतेषां नमनादिकम् ॥ 137 ॥
मा कुरुध्वं गुरुन्घा वै एतेषु विनयं खलु । यूयं स्युः धर्ममार्गस्य घातकाः नात्र संशयः ॥ 138 ॥
ह्येतत् सिद्धांतवाक्यं स्यात् यः कुधीः मार्गघातकः । लोपयति जिनात्तं वै सच धर्मात्परान्मुखः ॥ 139 ॥
युष्माकमिति भद्रार्थं ह्युपदेशं प्रजल्पितं । अस्माभिः ग्रंथबोधेन अहंकारमदान्नच ॥ 140 ॥

अर्थ— ये वर्तमान काल के मुनि भी जैन धर्म के प्रभावक होते हैं और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है ॥ 132 ॥

अर्थ— इन वर्तमान काल के गुरुओं से ही जैन धर्म की रक्षा कितने ही बार हुई है। बुद्धि तप शक्ति आदि गुणों में प्रवीण मिथ्या मार्ग के खंडन करने वाले और जैन धर्म का उद्धार करने वाले ये गुरु होते हैं। इन लोगों के कारण ही अब भी धर्म की स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ 133-134 ॥

कदाचित् यह कहो कि काल दोष में हम लोगों में शक्ति कम हो गई है। तो यह भी मानना चाहिए कि उनमें भी शक्ति कम हो गई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥

अर्थ— ये वर्तमान काल के धर्मगुरु जैन धर्म के उपदेशक हैं इसलिये सबको ही मान्य हैं। जिनने जिनेंद्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नहीं मानेगा ? सब ही मानेंगे।

जिस प्रकार अरहंत भगवान की मूर्ति की पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये।

नागेंद्राश्र सुरेश्वरा: त्रिषु खलु सन्मानयंति सदा। योगीन्द्रा: खचरेश्वरा गुणप्रभज्ञानेन संशोभिता: ॥ 141 ॥

वेदज्ञानविमंडिता: सुरनुता विद्यादिसंपद्युता: । कुर्वंत्येव प्रलोपनं नरवरा नैवं भवतापहं ॥ 142 ॥

वचनाडंबरै: किंच अतो भो: सज्जना: खलु। यदुक्तं जिनग्रंथेषु तत् लोपं मा विधीयतां ॥ 143 ॥

ये कुर्वंति प्रलोपनं च ह्यधमा ग्रंथस्य भो: सदबुधा: । ते यास्यंति निकोतिषु सुबचनालोपाच संसारदं ॥ 144 ॥

याता यांति तथाच दु:खनिकरं संसावनिषु सदा। यास्यंत्येव कदापि भो बुधजना लोपं कुरुध्वंच मा ॥ 145 ॥

अर्थ—गुरुघ्नता प्रकट करना ठीक नहीं है। इसलिये उनका भी विनय करना चाहिये। जो मनुष्य मार्ग का घात करता है वह धर्म से परान्मुख है। यह बात हमने ग्रंथों से लिखी है। न किसी दूसरे अभिप्राय से।

अर्थ—संसार में सबसे भयंकर पाप ग्रंथों का प्रलोपन करने का है। जो मनुष्य ग्रंथों की आज्ञा का भंग करता है। उस ग्रंथ में (परमागम में) बतलाये हुए मार्ग को स्वीकार नहीं करता है–परमागम का अनुयायी अपने को प्रकट करता हुआ भी उसको नहीं मानता या पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता, अथवा कुछ भाग को मानता है और कुछ भाग में अपने मनोक्त ज्ञान द्वारा संदेह करता है वह ग्रंथ का प्रलोपन करता है अथवा उत्तम सदाचार के ग्रंथों को न मानकर एक अध्यात्म ग्रंथों को ही आगम समझता है वह भी ग्रंथ का प्रलोपन है।

अथ ढूंढक मतोत्पत्ति

अथापरं श्रृणुध्वं भो स्वेतवासोमते खलु। लुंकाभिध: कुधीरासीत् सर्वधर्मविनाशक: ॥ 146 ॥

रिपुग्रीन्दुसंयुक्तसमेऽभूत्स्वेतवाससाम्। द्वापरेषु प्रमग्रानां यतोहि कालदोषत: ॥ 147 ॥

इस प्रकार जो ग्रंथों का प्रलोपन करेगा वह अवश्य नरककुंड में गिरेगा। और अनंत संसार को प्राप्त होगा। अथवा निगोद आदि कुयोनियों में अनंत दु:ख को प्राप्त होगा। इसलिये ग्रंथों का प्रलोप नहीं करना चाहिये।

मुनिहस्ते तथा पंचसोमयुक्ते ह्यभूत्समे। मते लुंका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत् ॥ 148 ॥

तन्मते च घना जाता भेदा: स्वपथपोषका:। निर्विचारा: क्रियाहीना धर्मलोपकरा: खला: ॥ 149 ॥

जिनेज्यानिंदका: केचित् जिनबिंबपरान्मुखा:। निंदका: तीर्थयात्राणां म्लेच्छाचारप्रपालका: ॥ 150 ॥

जैनमंदिरप्रतिष्ठावारका: कुकुलान्विता: । इत्याद्या जिनमार्गस्य बभूबुर्नाशका: खलु ॥ 151 ॥

नाम्ना ढूंढयाश्च विख्याता: क्रियाकर्मविवर्जिता: । सर्वत्र विसृता: ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमा: ॥ 152 ॥

इंद्र, नागेंद्र, मुनि, अवधि ज्ञानी, मन:पर्यय ज्ञानी, विद्वान आदि किसी ने भी आगमों का लोप नहीं किया है इसलिये तुम भी ग्रंथों का लोप कभी मत करो। जिन ग्रंथों में जो क्रियाएं कहीं हैं उनका लोप कभी मत करो। जो पुरुष ग्रंथों में कहे कुछ वचनों का लोप करता है वह अवश्य ही नरक निगोद में पड़ता है इसलिये ग्रंथों का लोप कभी नहीं करना चाहिये।

अर्थ:— श्वेतांबरों में से लुंका नामक मत धर्म का नाश करने वाला प्रकट हुआ है अब आगे उसकी उत्पत्ति आदि का खुलासा बतलाते हैं वह श्रवण करना चाहिये ।

अर्थ:—संशय मिथ्यात्व को धारण करने वाले (इंदोविय संसइयो ऐसा गोमटसार में श्वेतांबर मत को संशय मिथ्यात्वी जैनाभास माना है) श्वेतांबर (भगवान भद्रबाहु के समय में) सं. 136 में उत्पन्न हुए। ये सब संदेह में निमग्न रहने वाले तीव्र मिथ्यात्वी हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व को धारण करने वाले और अपने को जैन मानने वाले जैनाभास भी कालदोष से पंचम काल में उत्पन्न होते हैं ॥

हे राजन् लुंक मत सं. 1527 में उत्पन्न हुआ। यह मत समस्त पवित्र आचरणों का लोप करने वाला प्रसिद्ध हुआ।

अर्थ— उस लुंक मत में से भी अनेक मत प्रकट हुए। जो उसी मार्ग को पुष्टि करने वाले थे। जिनमें विचार नहीं था। जिनके आचरण पवित्र नहीं थे और जो पवित्र धर्म का लोप करने वाले थे।

अर्थ—ये लुंक मत के अनुयायी अरहंत भगवान की मूर्ति से परान्मुख रहेंगे–श्री जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की निंदा करेंगे। तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणों को रोकेंगे। प्रतिष्ठा जैनमंदिर आदि प्रवृत्ति को रोकेंगे। म्लेच्छाचार को फैलायेंगे और नीच कुल के मनुष्यों को साधु बनाकर सब को भ्रष्ट करेंगे ॥ 136 ॥

कस्यापि नैव दोषोस्ति कालदोषप्रभावत:। सर्वे मतांतरा ह्यस्मिन् भवंति नात्र संशय: ॥ 153 ॥

युष्माकं सर्वग्रंथेषु भो लुंकमतधारका: । किं न स्यात् कथनं मूढा: पूजाया: श्रीप्रभो: खलु ॥ 154 ॥

ग्रंथसाक्षमहं वच्मि श्रृणुत मतिवर्जिता:। यदि ग्रंथा: प्रसत्या: स्यु: युष्माकं शर्मप्राप्तये ॥ 155 ॥

पैंतालीसामिधे ग्रंथे प्रतिमाया बहु विस्तारत: पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता । भो लुंकमतधारका: तस्मिन् प्रत्यक्षं पश्यंतु भवन्त:। प्रभो: पूजनं कथमुत्थापितं। यदि युष्माकं ग्रंथोयं सत्य: स्यात् तर्हि तां जिनपूजां किं न कुर्यु:। यदि भवतामेष पूजाविधि: नैव रोचते तदा ग्रंथस्य लोपनं कुरुध्वं। अत: कारणात् यूयमपि स्वमतघ्ना: च आगमघ्ना: स्यु: नात्र संदेह: ।

अर्थ:— लुंक मत को ढूंढिया कहते हैं और वे ढूंढिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन लोगों में सदाचार की एक भी उच्च क्रिया नहीं है (इनको स्थानकवासी भी कहते हैं)

अर्थ— इसमें किसी का कुछ भी दोष नहीं है क्योंकि काल दोष से ये सब बातें स्वयमेव बन जाती हैं। हुंडक समय में मतांतरों की वृद्धि होगी यह नि:संदेह है।

अर्थ—हे लुंक मतवालों श्री जिनदेव की पूजा का विधान तुम्हारे मत के ग्रंथों में क्या नहीं है सो तो कहो।

अर्थ:— आचार्य महाराज कहते हैं कि तुमारे मत के मुख्य-मुख्य ग्रंथों (जो सर्वमान्य है) में जिनेंद्रपूजा खुलासा से लिखी है। यदि तुमारे मत के ग्रंथ सत्य हैं । प्रामाणिक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजा का निषेध तुम से नहीं हो सकता क्योंकि ग्रंथों में विधान स्पष्ट रूप से हैं। जो ग्रंथ अमान्य हैं तो फिर तुम्हारा मत ही क्या ?

अर्थ:—हे लुंकमत धारको तुम्हारे पैंतालीसा नाम के मुख्य आगम ग्रंथों में अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिननेंद्र देव की पूजा का विधान बतलाया है या नहीं ? एक बार तुमने अपने आगम ग्रंथों को खोलकर देखा है या नहीं ? प्रथम तो अपने ग्रंथों को देखकर निषेध करना चाहिये। उन ग्रंथों में जब खुलासा वर्णन है तब तुमारा निषेध मनोकल्पना से पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा। कदाचित तुम को पूजन करना अच्छा नहीं मालुम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रंथों को मत मानो। जो ऐसा करोगें तो आगम लोपी कहलाओगे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

भो लुंकमतपालका: पुन: शृणुध्वं जीवाभिगमग्रंथे पूजाया विधि: बहुविस्तारत: वर्णित:। ब्रवीध्वं, तत्सत्यं कि मसत्यं स्यात्? भो लुंका:! ज्ञाताभिधकथाया सतीनांमध्ये शिरोमण्या द्रोपद्या जिनेन्द्रस्य इज्या कृता पुन: उपासकदशाभिधग्रंथे यूयं पश्यत। जिनेन्द्रसिद्धयात्राकरणं जिनबिंबस्य पूजाकरणं बहुविस्तारेण अनयो: द्वयो कथनं कृतं। पुन: सूत्रकृतागमें श्रेणिक भूपस्य अभयकुमाराभिधकुमारेण जिनबिंबस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता। तदैव पूजाप्रभावात् सोपि सम्यग्दज्ञान मासवान्। पुन: सूत्रभगवत्यभिधे ग्रंथे जिनबिंबस्य च तन्मंदिरस्य तत्पूजाविधे: बहुविस्तारतो वर्णना कृता। नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोपं कुरुध्वं। इत्याद्या: ये ये ग्रंथा: भवतां संति सर्वेषां तेषां मध्ये यूयं पश्यत युष्माकं केषु ग्रंथेषु जिनमंदिरस्य जिनबिंबस्य जिनपूजाया: जिनक्षेत्रभूमे: इत्यादिकार्यस्य यदि निषेधनं न स्यात् तर्हि कुर्वीध्वं। कुपक्षं त्यजत। एतदेव निकोत् कारणं तत: दु:खान्निर्भया मा भवत स्वकल्पोक्त्या मा ब्रवीध्वं। हृदि विवेकं भजध्वं॥

अर्थ:— हे ढूढियों! जरा तो सुनो। जीवाभिगम नामक ग्रंथ में भगवान की मूर्ति की पूजा का वर्णन खूब विस्तार से किया है। अब बतलाइये कि उस ग्रंथ का लिखना सत्य है या असत्य? यदि ग्रंथ का लिखना सत्य है तो पूजा करना तुम्हारे मत में सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना घर (ग्रंथ) देखे बिना ही किस सबूत (प्रमाण) पर निषेध करते हो। यदि उस ग्रंथ का लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रंथ को मानना छोड़ देना चाहिये। क्यों मानते हो?

ज्ञाताभिध नामक सूत्र में सती शिरोमणी द्रोपदी आदि बहुत सी सतिओं के द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की पूजा करना बतलाया है। सो सत्य है या असत्य? उपासकाध्ययन नामक ग्रंथ में देखो—जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की पूजा सिद्ध भगवान की पूजा यात्रा करने की आज्ञा है और जिनबिंबकी पूजा बहुत ही विस्तार से स्पष्ट बतलाई है। यह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रंथ में क्यों लिखा है? इससे तो वह ग्रंथ ही मान्य नहीं समझें?

सूत्र कृतांग नामक ग्रंथ में श्रेणिक महाराज के पुत्र राजकुंवर अभयकुमार ने श्रीजिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा की और उससे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है? तुम लोग सूत्र कृतांग ग्रंथ को मानते हो या नहीं? जो मानते हो तो मूर्ति पूजा करना स्वीकार करना चाहिये। जो नहीं मानते तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरा।

भगवती सूत्र में— जिनबिंब और जिनमंदिर की पूजा करना लिखा है। वह भी अतिशय विस्तार के साथ बतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं? यदि मान्य नहीं है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा? या तो ग्रंथ को अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो।

भो लुंकमतधारका: जिनपूजादानसमं गृहस्थानामपरो धर्म: त्रिकालेपि नास्ति। ये जिनबिम्बस्य निंदका: ते जिनन्घा: जिनागमघ्ना: जिनवाक्यजिनमंत्रराजन्घा: बहुभाषणेनालं ते सर्वन्घा: स्यु: ।

भो ढूढ्या: नामस्थापनाद्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं स्यात् यूयं महामूढा: सर्वत्र पश्यत। पुन: यूयमपि नामद्रव्यभावेन जिनेन्द्रचिद्रुपं सदा हृदि स्मरथ किं न भो मतिहीना: स्यु: । प्रभो: स्थापना कथमुत्थापिता भवद्भि: तत्कारणं कथयत कस्य ग्रंथानुसारत: ।

तुम्हारे मत के आगमग्रंथों में सर्वत्र जिन बिंब पूजा करने का विधान लिखा है। सो तुमको करना चाहिये। अपने ग्रंथों को देखकर निषेध करना चाहिये।

आपके कौन कौन से ग्रंथों में जिनबिंब और जिनमंदिर तीर्थयात्रा आदि का निषेध है ? या मन कल्पना एवं पक्षपात से ही निषेध कर रहे हो। बिना प्रमाण के निषेध करना अज्ञान है। इसलिये पक्षपात को छोड़ो और विवेक से काम लो।

मिथ्या हठग्रह पकड़कर अज्ञान व्यक्त करना मूर्ख लोगों का कार्य है ? इसलिए कुपक्ष को छोड़ देना चाहिये अन्यथा निगोदादि दुर्गतिका कारण यह मिथ्या प्रलाप होगा। मन की कल्पना से देव जिनमंदिर आदि का अवर्णवाद करना अपने विवेक को खोकर अज्ञान मदमाते होना है। सो यह ठीक नहीं है।

अरे ! ढूढिया हो ! गृहस्थों का धर्म जिनपूजन, दान के सिवाय अन्य दूसरा त्रिकाल में भी श्रेष्ठ नहीं है। मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है। इस पर भी आप जिनबिंब की पूजा करने का निषेध कर जो सत्य धर्म का निन्हव करते हो वह जिनबिंब का निन्हव नहीं है किंतु श्रीजिनेन्द्र देव का ही निन्हव है इसलिए आप अवश्य जिनन्घ हो और अपने आगम को नहीं मानने से आगमन्घ हो–जब आपके आगम में जिनबिंबपूजन— जिनमंदिरपूजन सिद्धयात्रागमन आदि विधान खुले रूप में लिखा है तब उसको नहीं मानना यही आगमघ्नता है। और जिनवाक्य तथा मंत्रराज (णमोकार) को भी नहीं मानने वाले हो। अधिक क्या ? आप सब शास्त्रों की सत्यता का लोप करने वाले मिथ्या कदाग्रही हो।

अर्थ:— अरे ढूंढिया हो ! नाम–स्थापना–द्रव्य भाव से जिनेंद्र देव का आराधन पूजन स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है। प्रत्येक वस्तु में यह चारों निक्षेप नियम से होते हैं। परंतु आप लोगों ने तीन निक्षेप (नाम–द्रव्य भाव) तो स्वीकार किये और बीच में स्थापना निक्षेप को छोड दिया सो क्यों ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक को मानना ही पड़ता है।

भो लुंका: पुन: शृणुथ कृत्रिमाकृत्रिमप्रभेदेन द्वेधा श्रीजिनेंद्रस्य सर्वत्र क्षेत्रेषु सर्वत्र भूधरेषु स्थापना स्यात् कृत्रिमं जैनेन्द्रविम्बं मनुजा: पूजयंति। अकृत्रिमजिनेश्वरविम्बं सुरेश्वरा अभ्यर्चयंति तत्पदपाप्त्यर्थं। जिनबिंबस्य पूजनात् सहस्रकवलिना सादृश्यं पुण्यमुत्पद्यते अत: सर्वागमेषु जिनबिम्बपूजा कथिता।

दूढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचु: । भो सज्जना: भवद्भि: यत्कथितं तत्सत्यमपि तथापि अस्माकं वाक्श्रूयतां । वयं निरारंभा: स्यु: अत: अस्माभि: आरंभदोषेण प्रतिमाया: पूजनं उत्थापितं । आरंभात् सकलजपतप:संयमज्ञानादि सद्गुणा नश्यंति । यत्रारंभ: तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव । निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिरंजसा भवति । आरंभेण अनंतश: जीवराशयो म्रियंते । तत्पापात् श्वभ्राब्धौ अयं प्राणी दु:खौघं भुंजति वा निगोदिषु वचनागोचरं ह्यनंतकालपर्यंतं दु:खं भुंजत्येव । इत्येवं कल्पोक्तं श्रुत्वा लंकुमतैमघातने केशरितुल्य जैनागम मार्गवर्धनैक दिवाकर असत्यपक्ष विभंजक भव्याब्जमार्तंडोपम: श्रीवीतरागप्रतिपालक: सिद्धांतादि ग्रंथवाचने सामर्थ्यधारक: पूर्वाचार्य वाक्य प्रतिपालक: तन्मोत्थापनार्थमित्याह भो लुंका:—आरंभ निराकरणं यूयं शृणुथ चित्तसमाधिना करोम्यहं। जिनेंद्रगर्भसमये प्राक्वृद्धश्रवाज्ञया कुबेर: पुष्पवृष्ट्यादिभि: पंचाश्चर्यमकरोत् । दिक्कुमार्य: तस्य मातु: गर्भशोधनामकुर्वन् । दीपज्वालनादि अनेकधा परिचर्या च । पुन: गर्भस्थाने आगते सति तदैव समये चतुर्निकायदेवनिकरा: आगत्य तत्पितरौ हरिविष्टरे संस्थाप्य क्षीरोदकेन संस्नाप्य गर्भगतं प्रभुं नत्वा त्रि:प्रदक्षिणां दत्वा वस्त्राभरणमालाद्यै: तौ प्रपूज्य तत्पुरो जयनंदादिशब्दोत्करान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्वस्थानं ययु: तथाहि गर्भजातबालकजिनं स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे सुरेश्वरा: महताडंबरेण सह तत्पुरं आगत्य जिनं नीत्वा स्वर्णाचले गत्वा सिंहविष्टरे स्थापयित्वा सहस्रकलशै: दुग्धसमुद्रादागतै: वा असंख्यै: प्रभोरभिषेकं कृत्वा पश्चात्तत्पुरे जिनं स्थापयित्वा महदानंदेन स्वस्थानं जामु: पुन: तप: कल्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा: आगत्य तप:कल्याणं कृत्वा वज्रुः । तद्वदेव केवलज्ञानोत्पतिसमयेऽपि समवसरणरचनामकुर्वन्नेव । तद्वदेव निर्वाणकल्याण समये ते निर्जरेन्द्रा: आ गत्य प्रभो: शरीरदहन क्रियां काश्मीरागुरुकर्पूरगंधसारा दिभि: द्रव्यौघै: कृत्वा स्वस्थौकं उचु: । भो लुंका: वदध्वं हयेतत्सत्यं किमसत्यं स्यात् ? पंचस्वपि कल्याणेषु महदारंभोत्पति: ?

प्रतिनिधि बिना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है। सेठ मुनीम को अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है। वकील बैरिष्टर को भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है। वाईसराय को राजा ने अपना प्रतिनिधि बनाही रखा है। फिर प्रतिनिधि रूप स्थापना का निषेध किस प्रकार किया जा सकता है। स्थापना के माने बिना अन्य तीन निक्षेप से वस्तुस्थिति का कार्य सर्वथा नहीं हो सकेगा। इसलिये स्थापना की उत्थापना करना बहुत भारी अज्ञान है। फिर भी हे ढूढिया हो आपने यह स्थापना उत्थापन की सो किस ग्रंथ से ? और चार निक्षेप को न मानकर तीन निक्षेप माने सो किस ग्रंथ से ? जिस स्थापना निक्षेप के बिना भगवान का स्मरण मंत्रराज का जप और स्वरूप चिंतवन भी नहीं हो सकेगा। इसलिये सत्य बात को नहीं मानना अज्ञान है।

इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतवार का ढूंढ्या इत्याहुः भो बुधोत्तमाः सुरेन्द्राणामारंभे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव। पापारंभोत्पत्तिः पुरुषकार्येषु भवेत् नात्र संशयः। इति कल्पोक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह भो लुंकाः अस्योत्तरं यूयं शृणुथ। भरतेश्वरः सदा सेनया सह भगवदादिनाथवंदनार्थमानर्चवान् तत्कारणं किं स्यात्। प्रत्यक्षं प्रभोः दर्शनात् तस्य देशायधेः प्राप्तिरासीत्। भो लुंकाः आरंभफलं प्रत्यक्षं पश्यथ अस्माभिः नसित्यं कथितम्॥

अर्थः—अरे ढूढियाहो तुमारे शास्त्रों में कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमा भेद बतलाया है। पर्वत–नदी तीर सिद्ध क्षेत्र और जिनालय में कृत्रिम जिनबिम्बों की पूजा मनुष्य करते हैं। जिनपूजा करने से सहस्र कवल व्रत के समान महान फल प्राप्त होता है इसलिये जिनपूजन समस्त आगमों में बतलाई है।

अर्थः—ढूंढिया मत के समस्त शास्त्रों में जिनबिंब की पूजा का पूर्ण विधान सप्रमाण होने से यह तो कहने में सर्वथा असमर्थ हो गये कि हमारे (लुंक) मत में पूजा विधान नहीं है। जो शास्त्रों में पूजा विधान लिखा है ऐसा कहते। हैं तो ग्रंथ अप्रमाण ठहरते हैं। इसलिये सब प्रकार से लाचार होकर ढूंढिया लोग बोले– यद्यपि हमारे शास्त्रों में जिन पूजन विधान लिखा है वे सब ग्रंथ भी मान्य है परंतु पूजा करने में बहुत सा आरंभ होता है। धार्मिक कार्यों में आरंभ करने से बड़ा भारी दोष होता है। आरंभ में अनंत जीवराशि मर जाती है। जिससे प्राणी नरकादि दुर्गतिका पात्र होता है। आरंभ से जप तप संयम ज्ञान आदि उत्तम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। इसलिये हम जिनबिंब का पूजन आरंभ दोष के भय से निषेध करते हैं। ऐसा श्रवणकर लुंकमतरूपी गजों को नाश करने के लिये सिंह समान, जिनागम मार्ग को वृद्धिंगत करने के लिये एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग आज्ञा के प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रंथों के वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्ग का अनुसरण करने वाले दिगंबराचार्य ने कहा कि हे ढूंढिया हो पूजा करने में आरंभ का दोष बतलाते हो सो सुनो। यह दोष तुमारे ग्रंथों में श्री जिनेंद्र देव के पंचकल्याण के अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य। जो सत्य हो तो फिर आरंभ का दोष देना सर्वथा अनुचित है। तथाहि–जिनेन्द्र भगवान के गर्भकल्याण समय– इन्द्र की आज्ञा से कुबेरने बडे समूह और उत्साह से पुष्प वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की। दिक्कुमारी देवियों ने भगवान की माता की गर्भशोधना की। अगणित दीप जलाये।

जन्म कल्याण में:—श्रीजिनेन्द्र भगवान का जन्म अवधिज्ञान से जानकर देवेन्द्रों ने बड़े ही ठाठबाट के साथ और अपार समारंभ के साथ तत्काल बालक को ऐरावत हाथी पर विराजमानकर मेरु पर्वत पर एक हजार आठ क्षीर समुद्र के दुग्ध से भरे हुए कलशों से अभिषेक किया। पूजा की गीत नृत्य-वादित्र आदि के द्वारा महान महोत्सव किया और भगवान को नगर में लाकर माता-पिता को सौंपकर आनंद माना।

तप कल्याण में:—देवगणों ने भगवान का अभिषेक करा कर शिविका में प्रभु को बैठाकर वन में दीक्षा कल्याण महान उत्सव और अपूर्व समारंभ से किया।

ज्ञानकल्याण में-समवसरण की रचना कर जगत में महान समारंभ का ठाठ सब को आश्चर्यकारी बतलाया और भगवान की पूजा आठ द्रव्य से की।

निर्वाण कल्याण में:—देवों ने भगवान के दिव्य शरीर को दहन किया जिसमें कास्मीर अगर तगर चंदन कपूर आदि सुगंधी पदार्थों के द्वारा अपूर्व ठाठबाट से उत्सव मनाया।

हे ढूढिया हो यह आरंभ (महदारंभ) भगवान की पूजा और पंचकल्याण निमित्त किया जो तुमारे ग्रंथों में लिखा है वह सत्य है या मिथ्या? सो कहो। जो सत्य है तो पूजा करने में आरंभ का दोष बतलाना व्यर्थ है। क्योंकि जिनेंद्र पंचकल्याणों में देवों ने पूजा की है।

अर्थ:—उपर्युक्त पंचकल्याणों में देवों के द्वारा महान समारंभ भगवान की पूजा का श्रवण कर ढूंढिया ने कहा कि भगवान के पंचकल्याणों में देवों ने आरंभ किया है। वह विक्रियाजन्य होने से हिंसारूप नहीं है। मनुष्यों के आरंभ में ही पापोत्पत्ति होती है। देवों के आरंभ में पापोत्पत्ति नहीं है। इसलिये मनुष्यों को पूजा करने का निषेध हम लोग करते हैं। यह सुनकर जिनागम के ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हे ढूंढिया हो ! भरत महाराज ने श्री आदिनाथ भगवान की यात्रा और पूजा ससैन्य-सकुटुंम्ब-सपरिवार महा विभूति के साथ की और उस पूजा के फल से अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। आपके शास्त्रों में ऐसा लिखा है सो सत्य है या असत्य ? जो सत्य है तो फिर मनुष्य के आरंभ से पूजा का निषेध नहीं होता है बल्कि उत्तम गुणों

पुनरारंभफलं श्रृणुथ-श्रीवर्द्धमानवंदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् ? वा एक एवागमत् तत्कथयत भो मतिवर्जिताः। प्रभोः दर्शनात् नमस्कारकरणातद्गुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपार्जित सकलांहः तदैव नाशयित्वा भाविकाले महापद्माभिधतीर्थंकरस्य गोत्रं बबंधे। होतत् आरंभफलं पश्यथ। पुनरपि ह्यनेकवारं बव्हारंभेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभोः दर्शनार्थं पूजनार्थं गतः ॥

की प्राप्ति होती है। जैसे कि भरत महाराज को अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। इसलिये आरंभ के दोष से पूजा का निषेध करना केवल कपोल कल्पित बात है। शास्त्रपद्धति से निषेध नहीं हुआ। सो यह केवल अज्ञान से कदाग्रह ही है। अनेक प्रकार की परिचया की। और गर्भ समय देवेन्द्रों ने श्री जिनेन्द्रदेव के माता-पिताओं को सुवर्ण सिंहासन पर बैठा क्षीरोदधि के कलशों से अभिषेक कराया। फिर नमस्कार की और प्रदक्षिणा दी, वस्त्राभरण माला पहनाये और पूजा की। पश्चात् नृत्य किया जय नंद आदि शब्दों की घोषणा की। फिर अपने स्थान गये।

अर्थः—भगवान की पूजा में आरंभ का दोष नहीं होता है—फिर भी ऐसा बतलाते हैं-देखो श्रेणिक महाराज ने ससैन्य-सपरिवार महान आरंभ और पूर्ण वैभव के साथ भगवान की पूजा की और उससे समस्त पाप कर्मों का नाश कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया।

अर्थात्—महापद्म नाम के भविष्य तीर्थंकर का गोत्र बंध किया। यह सब आरंभसहित पूजा करने का ही महान फल है। फिर भी श्रेणिक महाराज ने राजगृही से ससैन्य विपुलाचल पर्वत पर वीर प्रभु के दर्शन बार-बार किये। सो यह लिखना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिक ने महान आरंभ से भगवान की पूजा की और तीर्थंकर गोत्र बांधा तो अन्य मनुष्य भाव भक्ति से महान उत्सव के साथ पूजा करें तो क्यों नहीं अनंत पुण्य को संपादन करेंगे अवश्य ही करेंगे। इसलिए हे ढुंढिया हो भगवान की पूजा करने में आरंभ का दोष प्राप्त होता है ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है।

भो सुंका: प्रभो: पूजने सिद्धक्षेत्र यात्राकरणे जिनमंदिरानिर्मापणे जैनमंदिरस्य जीर्णोद्धरणे जिनस्य स्नपने इत्याद्यन्यशुभे कार्वे हि महदारंभस्योत्पत्ति: स्यात् तथापि तदारंभ: कृतोपि संख्यातगुण पुण्योत्पत्तिकृद्भवति। गृहस्थानां पुण्यारंभे महत्पु ण्योत्पत्ति: कथिता जिनागमें जिनेश्वरै: सर्वत्रैव युष्माकं ग्रंथेषु यूयं पश्यथ। गृहमेधिनां पुण्यारंभे धर्मोत्पत्ति: मुनीश्वराणां निरारंभेण धर्मोत्पत्ति: । नात्र संदेह: । किंच श्रूयताम् ॥

पूजाकार्वे ह्यहो मूढा: जिनस्नाने जिनगृहे । निर्मापणे महत्पुण्वे कीर्तितं च जिनेश्वरै: ॥

किंच श्रूयताम्—

सन्निवे भवतां सर्वे लोकाश्च या: स्त्रियोऽपिच। आयांत्येव प्रतिघस्र पादत्राणेन संयुता: ॥ 2 ॥

यस्मान्मार्गे मृतानंता जीवा भो मूढमानसा: । तत्पापं भवतां लग्न किं न वदथ मेतिच (?)॥ 3 ॥

प्रात: मध्यान्हकालेवा चातुर्मासे दिवात्यये। सदा आयांत्यहो लोका: तत्पापं भवतां भवेत् ॥ 4 ॥

अर्थ—हे ढूढिया हों, श्रीजिनेंद्र भगवान की पूजा सिद्धक्षेत्र की यात्रा–जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करना जिनस्नपन करना आदि कार्यों में महान पुण्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि इन कार्यों में महान् आरंभ है तो आरंभ की अपेक्षा महान पुण्य असंख्यात गुण उत्पन्न होता है। गृहस्थो को पुण्य की उत्पत्ति आरंभ के बिना नहीं होती है इसलिये गृहस्थों का धर्म आरंभ सहित ही होता है। और मुनीश्वरों का धर्म निरारंभ है। ऐसा जिनागम में जिनदेव ने बतलाया है।

अर्थ:—हे ढूढिया हो तुम्हारे (साधु लोगों के) दर्शन और पूजन करने के लिये बहुत से मनुष्य और स्त्रियां नित्य जूता पहन कर आती हैं सो उनसे मार्ग में जूता के आरंभ से अनंत जीव मर जाते हैं उसका पाप भी तुम को लगेगा। और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष–स्त्रियों को आरंभ जनित दोष लगेगा। सो तुम ऐसा आरंभ क्यों कराते हो। और लोगों को क्यों उपदेश देते हो? क्या तुम को पाप का कुछ भी भय नहीं है ? या आरंभ करने में पाप नहीं है।

अर्थ:—प्रात:काल–मध्यान्हकाल–चातुर्मास–रात्रि और अंधेरे में बहुत से मनुष्य तुम्हारे (साधु लोगों के) दर्शन को जूता पहनकर आते हैं और उनको पुण्य की उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग बतलाते हो तो जिनपूजन के पवित्र आरंभ से पुण्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? तुम्हारे दर्शन में पापारंभ करने पर भी पुण्यलाभ और भगवान की पूजन में पवित्र आरंभ से पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात ? अपने मतलब के लिये तो पापारंभ में पुण्य लाभ बता दिया ।

ह्राहो मूर्खाश्च प्राप्तिः स्यात् भवतां दर्शने खलु। पुण्यस्य जिनबिंबस्य तन्नास्त्येव विजातिनां ॥ 5 ॥

ब्रवीध्वं पूजनारंभे पुण्यं किं पापसंभवः । पुण्यं स्याद्यदि यूयंहि कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ 6 ॥

पापं स्याद्यदि युष्माकं ग्रंथानां भो मदोद्धताः। कुरुध्वं लोपनं यूयं कथयिष्याम किं पुनः ॥ 7 ॥

पुनर्वच्मि श्रृणुध्वं भो युष्माकंच मते खलु। आरंभाज्जायते पापः एतस्य कथनं ननु ॥ 8 ॥

भवद्विश्च गृहस्थानां पूजायाः श्रीजिनस्यवै। त्यांग च कारिता किंवा अन्यांरभमपि खलाः ॥ 9 ॥

अर्थ:—हे ढूंढिया! हो भगवान की पूजा करने से पुण्य होता है या पाप ? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो तुम भी पूजन करना स्वीकार करो। यदि भगवान की पूजा करने में पाप होता है तो तुम्हारे ग्रंथों में पूजन करने की आज्ञा लिखी है वह मिथ्या ठहरेगी। जिससे तुम्हारे ग्रंथ ही झूंटे हैं ऐसा मानना पड़ेगा।

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमारे मत से गृहस्थों को आरंभ करने में पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसीलिये (आरंभ के भय से) भगवान की पूजा करने का निषेध करते हो तो यह बतलाओ कि आरंभ के पाप के भय से भगवान की पूजा का आरंभ का त्याग करना चाहिये या गृहस्थों की अनेक पाप प्रवृत्ति के द्वारा होने वाला अशुभ आरंभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुम्हारे मत के प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते हैं घर के महान कार्य करते हैं। धान्य खरीदते और बेचते हैं, विवाह करते हैं, अनेक कपट क्रिया और मलिनाचार का आरंभ करते हैं। बिना छाने (अगालित) पानी में अपने कपडे धोते हैं। अपना मकान बनवाते हैं। और तुम्हारे (साधु लोगों के रहने के लिये) रहने के पोसारा उपाश्रय (धर्मशाला या मंदिर) बनवाते हैं। आदि अनेक प्रकार का महान आरंभ करते हैं। हे ढूंढिया हो गृहस्थों को प्रत्येक कार्य में आरंभ तो होगा ही। बिना आरंभ के गृहस्थ अपना जीवन एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रख सके तो तुम्हारे सेवकों को उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओं के महान आरंभ का पाप लगता है या नहीं। जो पाप लगता है तो सबसे प्रथम अपने सेवकों से गृहस्थ संबंधी आरंभ का त्याग कराना चाहिये। जो तुम गृहस्थों के समस्त प्रकार का आरंभ का त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि आरंभ से पाप होता है। परंतु वह आरंभ तो गृहस्थों से छुड़ाया जा नहीं सकता। और न गृहस्थ अपने गृहस्थ संबंधी आरंभ को त्याग ही कर सकता है। तो फिर भगवान की पूजा में होने वाला स्वल्पारंभ जो महान पुण्य का प्रदान करने

गृहस्थाः प्रतिघरंहि कामसेवां गृहोद्भवं। कुर्वंत्येवापरं कार्यं धान्यस्य विक्रयं तथा ॥ 10 ॥
वैवाहं प्रतिवर्षे वा ह्यनेककपटक्रियाम्। अगालितजले स्वस्य वस्त्राणां धोवनं सदा ॥ 11 ॥
भो मूर्खाः सर्वकार्येषु आरंभो जायते खलु। भवतां सेवकानांच तदारंभस्य किं कृतम् ॥ 12 ॥
कारयध्वं च तत्कृयागं भो ढूढ्याः तूर्णमेवहि । वयं नै जानयिष्यामः निरारंभा इने तदा ॥ 13 ॥
यद्यारंभस्य त्यागः स्यात् त्यजध्वं सर्वमेवहि। आरंभः सर्वकार्येषु क्रयविक्रयकेषुच ॥ 14 ॥
पूजने जिनबिंबस्य दर्शने मंदिरस्यवै। करणे च गृहस्थानां महत्पुण्यफलं भवेत् ॥ 15 ॥
सिद्धक्षेत्रस्य यात्रायां जिनबिंबस्य पूजने। जिनमंदिरसत्कार्ये प्रतिष्ठायां च ये बुधाः ॥ 16 ॥
पापारंभस्य उत्पत्तिं ब्रुवते तेऽधमा मताः । तदघात्ते निकोतेषु यास्यंति नात्र संशयः ॥ 17 ॥
ते ढूंढ्याः पुन इत्याहुः त्रयो दोषाः बुधोत्तमाः । जिनबिंबे ह्यतो नैव स्यादस्माकं रुचिः खलु ॥ 18 ॥
आद्यमचेतनत्वं च द्वितीयत्वं च कृत्रिमम् । तृतीयमेकेन्द्रियत्वं एभिर्दोषैश्च वर्जिता ॥ 19 ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रबिंबेहि भो लुंकमतधारकाः । अचेतनत्वाभिधं दोषं भवद्भिः गदितं खलु ॥ 20 ॥

वाला है उसका त्याग करना या आरंभ भय से भगवान की पूजा का निषेध करना कितने अन्याय और पक्षपात की अज्ञान भरी हुई बात है ? जो आरंभ ही छोड़ना है तो सर्व प्रकार का आरंभ छोड़ देना चाहिये-यह नहीं कि गृहस्थ अपने गृह संबंधी समस्त प्रकार का पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवान की पूजा का आरंभ का परित्याग करें।

अर्थ—हे ! ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने में-जिनमंदिर बनवाने में गृहस्थों को महान पुण्य लाभ होता है। इसी प्रकार सिद्धक्षेत्र की यात्रा करने में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा करने में, रथोत्सव निकलवाने में महान पुण्य है। जो इस पुण्य कर्म में पाप का आरंभ बतलाते हैं वे नीच हैं। वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गति में जायेंगे इसमें संदेह नहीं है।

अर्थ—यह सुनकर ढूंढियों ने कहा कि भगवान की पूजन करने में हमे तीन दोष मालूम देते हैं। इसलिये हम निषेध करते हैं। प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है। दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है। तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है। बस इन तीन दोषों के कारण ही निषेध है।

तद्दोषस्य निराकरणं ग्रंथबोधेन भो खला: । करोम्यहं समासेन यूयं शृणुथ निश्चयात् ॥ 21 ॥
भो लुंका: श्रीजिनेंद्रस्य प्रत्यक्षं द्रापरापहा । वाण्यपि पुद्गलाकारा अचेतनाच विश्रुता ॥ 22 ॥
दृश्यथ नास्ति चैतन्यं तस्यां यूयं न संशय: । स्यादहो सर्वपापस्य नाशका सर्वदर्शिका ॥ 23 ॥
मानयथ कथं मूढा: वाणीमचेतनांच तां । पुनर्वं मंत्रराजंच किमर्थं जपथ सदा ॥ 24 ॥
आख्यापयथ भो लुंका: अचेतनस्य मान्यता । भवतां तर्हि नास्ति चेत् मानयथ कथंच तां ॥ 25 ॥
यंत्रा: मंत्रा: भेषजा: सकलास्तथा । चिंतामण्यादिरत्नानि सर्वे ते लोकविश्रुता : ॥ 26 ॥
चेतनाकर्महीना: स्यु: पश्यथ मतिवर्जिता: । सर्वकार्यस्य कर्तार: तत्किंच कारणं खलु ॥ 27 ॥
मंत्रोऽयं परमेष्ठिनां चेतनाकर्मवर्जित: । कथं ददाति सर्वेषां शिवसौख्यं सदास्थिरम् ॥ 28 ॥
स्वस्यातिशययोगेन ददंति शर्मणं खलु । सर्वे ते मंत्ररत्नाद्या: यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ 29 ॥
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य प्रतिमादर्शनात् खलु । तद्दर्शकानां भो मूढा: प्राप्ति: स्यात्पुण्यसंततेः ॥ 30 ॥

अर्थ—हे ढूढियां हो तुमने भगवान की पूजा करने में जो अचेतनत्व नाम का दूषण बतलाया श्रीजिनेंद्र भगवान की प्रतिमा अचेतन है, अचेतन की पूजा क्यों करना उससे क्या लाभ होता है ?

हे ढूंढिया हो अचेतन द्रव्यों से प्रत्यक्ष ही लाभ सब को होता हुआ दिखता है। फिर भी निषेध करना सो बड़ा दुराग्रह है। क्योंकि जिस वाणी की तुम (ढूंढिया) पूजा करते हो वह वाणी भी पुद्गलमयी है अचेतन है। प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है तो फिर अचेतन से लाभ नहीं होता ऐसा मिथ्या क्यों कहते हो। तुम अचेतन वाणी को नहीं मानते क्या ? और अचेतन मंत्रराज (णमोक्कार मंत्र) नहीं जपते हो ? या उस मंत्रराज की पूजा नहीं करते हो? हे ढूंढिया हो जो तुम अचेतन भगवान की मूर्ति से लाभ नहीं समझते तो अचेतन वाणी से लाभ क्यों समझते हो ? और अचेतन मंत्र यंत्र औषधी आदि का सेवन क्यों करते हो। तथा चिंतामणि रत्न आदि अचेतन पदार्थों में क्यों अचिंत्य शक्ति मानते हो। चेतना रहित चिंतामणी रत्न आदि प्रत्यक्ष फलप्रद दिख रहे हैं और आप लोग मानते ही हो फिर भगवान की पूजा करने में अचेतनत्व दूषण कैसे देते हो ?

सौम्याकारं विकारेण वर्जितांगं सुशोभनम् । पद्मासनेन संपन्नं नासाग्रन्यस्तलोचनम् ॥ 31 ॥
भास्वरं वास निर्मुक्तं तदप्यावकनंददम् ॥ तदाकारस्य सादृश्यं पूज्यंच निर्जराधिपैः ॥ 32 ॥
ईदृशं जिनबिंबंयः पश्यंति निजभावतः । स एवाप्नोति निर्वाणमन्यत्सौख्यस्य का कथा ॥ 33 ॥
दर्शनाज्जिनबिंबस्य जायते तस्य चिंतनं । प्राणिनां नात्र संदेहः सर्वांहसो विनाशकम् ॥ 34 ॥
श्रवणाद्धि यथा वाण्याः ज्ञानोत्पत्तिश्च जायते । तथाहि जिनबिंबस्य दर्शनात् व्रजनक्षयः ॥ 35 ॥
पश्यंति नैव ये मूढाः जिनबिंब जगन्नुतम् । कदापि तन्मुखो नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः ॥ 36 ॥
येऽधमा जिनबिंबस्य निंदां कुर्वंति ते खलु । निकोतेषु प्रयास्यंति जिनन्घाः नैव संशयः ॥ 37 ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो पंच परमेष्टी का णमोकार मंत्र भी अचेतन है परंतु सर्व प्रकार के सुखों को करने वाला है। यह अतिशय णमोकार मंत्र में स्वभाव रूप से है। इसी प्रकार कामधेनु चिंतामणि रत्न आदि में सर्व प्रकार के सुख देने की शक्ति स्वभाव रूप है। ठीक इसी प्रकार श्रीजिनेंद्र भगवान की प्रतिमा में भी स्वभाव रूप से वह अचिंत्य शक्ति है कि प्रतिमा का दर्शन करने मात्र से ही समस्त प्रकार के पुण्य का लाभ स्वयमेव हो जाता है।

अर्थ:—श्री जिनदेव की प्रतिमा सौम्य-निर्विकार-शुभ परमसुंदर-पद्मासन विराजमान-नासाग्रदृष्टिरूप परम शांत-देदीप्यमान दिगंबर समस्त प्रकार के दूषणों से रहित-देवों से पूजित और महिमा सहित होती है। जो भव्य जीव अपने भावों की विशुद्धि से भक्ति पूर्वक भगवान की प्रतिमा की पूजा करता है वह मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। तो अन्य सुख प्राप्त होने में क्या आश्चर्य है ? भगवान की प्रतिमा समस्त प्रकार के पापों का नाश करती है यह प्रत्यक्ष सबको अनुभव है।

अर्थ:—हे ढूंढिया हो जैसे वाणी के सुनने से ज्ञानोत्पत्ति होती है वैसे प्रतिमा के पूजन से भी पापों का नाश होता है। जो मनुष्य भगवान की प्रतिमा का दर्शन नहीं करते हैं उनका मुंह देखने में भी पाप है। जो मनुष्य भगवान की मूर्ति की निंदा करते हैं वे निगोद आदि दुर्गति के पात्र हैं।

कृत्रिमस्य निराकरणं भो लुंका: श्रृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ह्यंहकारवशान्न च ॥ 38 ॥

जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च भवद्भि: मूढमानसै: । दत्तो हि कृत्रिमो दोष: सर्वपापस्य कारक: ॥ 39 ॥

स्तवनं वंदनं गानविद्या सामायिकं तथा । पठथ भो किमर्थं च पुत्कारस्वत: सदा ॥ 40 ॥

यथा तेषां हि पठनात् उत्पत्ति: जायते सदा । शुद्धभावस्य भो लुंका: तथा हि तस्य दर्शनात् ॥ 41 ॥

कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्षं नैव संशय: । इमे यथा हि मान्या: स्यु: तथा तेपि बुधैर्मता: ॥ 4 2 ॥

कृत्रिमस्य ह्यहो मूर्खा जिनबिंबस्य स्वेनात् जीवोयं लभते सौख्यं शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ 43 ॥

इत्थं ज्ञात्वा बुधा ये हि जिनबिंबस्य दर्शनम् । कुर्वंति तेहि ततुल्यं लभते शाश्वतं पदम् ॥ 44 ॥

अर्थ:—हे ढूंढिया हो भगवान की प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नहीं पूजना चाहिये । ऐसा कृत्रिमपने का दोष देते हो तो यह दोष देना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार स्तवन वंदन पाठ सामायिक-गानविद्या और शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य हैं वे भी सब किसी न किसी मनुष्य के बनाये हुए होने से कृत्रिम ही हैं। फिर कृत्रिम स्तोत्रादि पाठों को पढ़ते हो उससे तुम को लाभ होता है या नहीं ? कृत्रिम पाठादिकों के पढ़ने से लाभ मानकर भी कृत्रिम जिन प्रतिमा से लाभ नहीं मानना कदाग्रह है। स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम हैं। साधारण मनुष्य गीत भजन पद बनाते हुए देखे जाते हैं। जब कृत्रिम स्तोत्रों के पढ़ने में लाभ है तो कृत्रिम जिन प्रतिमा भी भव्य जीवों को अकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमा के दर्शन करते हैं वे अवश्य ही शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं।

हे ढूंढिया हो जो तुम कृत्रिम पाठों का पढ़ने का त्याग करो तो जिनबिंब के दर्शन पूजन और उपासना का त्याग करो। अन्यथा मिथ्या दूषण लगाकर अज्ञानी क्यों बनते हो और दुर्गति के पात्र बनते हो। इसलिए कदाग्रह का परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो जिससे लाभ हो।

भो लुंका: कृत्रिमं पाठं किमर्थं पठथ खलु। त्यजध्वं तदपि मूर्खा: दोषस्तत्रैव स्याच्च किम् ॥ 45 ॥
गच्छध्वं दुर्गतिं या च जिनबिंबस्य निंदनात् । अस्माकं मानयध्वं च वाक्यं यूयं हितार्थदम् ॥ 46 ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरणं ।

एकेंद्रियाभिधो दोषो भवद्भि: स्थापित: प्रभो: । बिंबे तस्य निराकरणं शृणुध्वं भो करोम्यहं ॥ 47 ॥
भो ढूढया: काष्टलेखन्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रदितान् बैबभो खला: ॥ 48 ॥
जिनाज्ञा विमुखाशुद्धा सुबोधलववर्जिता: । नमथ तान् कथं ग्रंथान् खलु एकेन्द्रियोपमान् ॥ 49 ॥
बदथ सकलाबेमे ग्रंथा: एकेंद्रिया: स्फुटं । किं स्यु: पंचेंद्रिया मूढा यूयं मे तूर्णतो ननु ॥ 50 ॥
निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुमार्गगा: । एकेंद्रियाणां मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ 51 ॥
सर्वानपि त्यजध्वं च ग्रंथान् यूयं सनातनान् । वयं हि जानयिष्याम: इमे सत्या न संशय: ॥ 52 ॥
एकेन्द्रियं च प्रत्यक्षं शास्त्रं भो मूढमानसा: । यूयं नमथ भावेन जिनबिंबं कथं नहि ॥ 53 ॥
ब्रवीध्वं भवतां ग्रंथे जिनबिंबनिषेधनम् ॥ कस्मिन् कृतं ह्यहो मूर्खा: तच्च भां भो खला: स्फुटं ॥ 54 ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो जिनेंद्र भगवान की प्रतिमा एकेंद्रिय है क्योंकि पत्थर एकेंद्रिय होता है और उस पत्थर की प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेंद्रिय कहलाई। एकेंद्रिय की पूजा करना अयोग्य है। इस प्रकार जो एकेंद्रिय दूषण जिनप्रतिमा पूजन करने में दिया जाता है वह मिथ्या है। ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार जिन प्रतिमा पत्थर आदि की होने से एकेंद्रिय है उसी प्रकार शास्त्र भी एकेंद्रिय हैं। शास्त्र के लिखने की कलम वनस्पति से बनती है इसलिये एकेंद्रिय है। कागज या ताड़पत्र भी एकेंद्रिय हैं। वनस्पति को कूटकर कागज बनाये जाते हैं इसलिये एकेंद्रिय है। और ताड़पत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेंद्रिय है। उस पर सर्व लेख अशुद्ध स्याही से लिखे हुए हैं। फिर उन ग्रंथों को क्यों माना जाता है–पूजा की जाती है–नमस्कार किया जाता है। हे ढूंढिया हो ! तुम तो पंचेन्द्रिय हो और एकेन्द्रिय शास्त्र को क्यों पूजते हो। शास्त्र से तो तुम्हारे में इन्द्रियां अधिक हैं ।

ग्रंथेषु वाहि सर्वेषु जिनबिंबस्य पूजनात् । संप्राप्ताः बहवो भूताः शर्मसंततिमंजसा ।। 55 ॥
पश्यथ नात्र संदेहो भो लुंकमतधारकाः । स्याद्यदि कथनं यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ 56 ॥
युष्माकं सर्वग्रंथानां भवद्भिः खलु लोपनम् । कुरुध्वं यद्यसत्याः स्युः कुरुध्वं न विलंबनम् ॥ 57 ॥
इति श्रुत्वाहुः ते लुंकाः ग्रंथेच लिखितं ननु । अतोऽस्माकं च मान्यत्वं ग्रंथानां नात्र संशयः ॥ 58 ॥
जिनबिम्बमपि मूर्खाः नहि घटति सुंदरं । यद्दर्शनात् क्षयं यांति पापभूद्राः कुदुःखदाः ॥ 59 ॥
इत्याहुः पुनः ग्रंथंच पठति बोधधारकः । जायते पठनात्तच सुबोधश्च ततः शिवः ॥ 60 ॥

यदि तुम शास्त्रों को एकेन्द्रिय नहीं मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमा को एकेन्द्रिय किस प्रकार मानते हो। क्योंकि शास्त्रों में एकेन्द्रियपना ताड़पत्र पर कलम से लिखे होने से प्रत्यक्ष दिख रहा है। जो एकेंद्रिय दोष से समस्त शास्त्रों की मान्यता को छोड़ देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकेन्द्रिय को जानते हो और आपका कहना सत्य है ! जो एकेन्द्रिय शास्त्रों को छोड़ नहीं सकते तो समझना चाहिये कि तुम एकेन्द्रिय की पूजा करते हो।

अर्थ—शास्त्र एकेन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। जो तुम एकेन्द्रिय शास्त्र को पूजते हो तो जिनप्रतिमा को क्यों नहीं पूजा करते ? तुम्हारे कौन-कौन से शास्त्र में प्रतिमा की पूजा का निषेध किया है। तुम्हारे बहुत से ग्रंथों में जिन प्रतिमा पूजना लिखा है। जिनपूजन करने से बहुत से लोगों ने अपना आत्मकल्याण किया है। फिर भी तुम निषेध करते हो। यह क्यों ? यदि ग्रंथों में जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस को मान्य करते हो तो फिर जिनपूजन भी मान्य करो अन्यथा ग्रंथ का लोप करो।

अर्थ:—यह सुनकर लुंका (ढूंढिया) ने कहा कि हमें ग्रंथ मान्य है जो ग्रंथों में लिखा है सो भी मान्य है। हे ढूंढिया जिन प्रतिमा यद्यपि सुंदरता नहीं देती है तो भी जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति में वह अचिंत्य शक्ति है कि जिससे भव्यों के भयंकर पाप दर्शन मात्र से तत्काल ही पलायमान हो जाते हैं।

अर्थ:—ढूंढिया ने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रंथों के पढ़ने से तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे ढूंढिया हो जिनेंद्र भगवान की पूजा से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और ज्ञान की विशुद्धि होती है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिनबिंबस्य भो लुंका यो व्रती शुद्धधीर्वशी। करोत्येव प्रपूजां स लभते परमं पदम् ॥ 61 ॥
भो लुंका जिनबिंबस्य पूजनात् वंदनात् खलु। आर्तरौद्रकुध्यानस्य नाशो यात्येव तस्यवै ॥ 62 ॥
रक्ताक्षाः क्रोधपूर्णांगाः यथा काकोदरोत्कराः । द्रुतिरतदूरं यांति वैनतेयस्य दर्शनात् ।। 63 ।।
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपन्नगाः । नराणांच प्रयांत्येव ह्यनुक्रमाद्भवेत् शिवः ॥ 64 ॥
भवद्भिः जिनबिंबस्य कृताथ यदि भो खलाः । निंदा किमर्थं तं चैव मान्यथ जिनेश्वरम् ॥ 65 ॥
जपथ तं हि भो लुंकाः प्रतिघस्रं जगत्पतिम् । तमेव निंदयथोचैः अस्योत्तरं वदथ मे ॥ 66 ॥
एवं वदथ मा मूढाः मैऽबा वंध्यापि स्यात् खलु। मदोन्मत्ता ध्रुवंत्येवं सुधियो नो कविदपि ॥ 67 ॥
अधोलोकेच सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमा अपि। जिनबिंबाः सुरैः पूज्याः संति वै शिवदायकाः ॥ 68 ॥
ऊर्ध्वलोके च सर्वत्र विमानेषु पृथक् पृथक् । जिनबिंबाः विभांतिस्म निर्लिपाधिपवंदिताः ॥ 69 ॥
पृच्छामि भवतां कस्य ग्रंथानुसारतः कृता। उत्थापना हि विंबस्य यूयं वदथ तद्य मे ॥ 70 ॥
कुपक्षं च त्यजध्वं भो मे वाचं शिवकारणं । कुर्वीध्वं शिववांछा चेत् मा स्युश्च जैनघातकाः ॥ 71 ॥

अर्थः—हे ढूंढिया जिनेंद्र भगवान की परमशांत दिव्य मूर्ति को देखने से अति रौद्र ध्यान नष्ट हो जाते हैं। और परम शांतता प्राप्त होती है। जिनके नेत्र लाल हैं क्रोध से शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जैसे गरुड को देखकर सर्प भाग जाते हैं। इसी प्रकार पाप भी तत्काल विलीन हो जाते हैं। और क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्थ—हे ढूंढिया हो आप जिनेश्वर देव की मूर्ति की तो निंदा करते हो फिर भी जिनेश्वर देव को ही पूजते हो मान्य करते हो स्तवन पढते हो ! यह आश्चर्य। यह बात तो अपनी माता को बांझ बतलाने के समान है। इस प्रकार की क्रियाएं मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते हैं ।

अर्थ—अधोलोक में कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवों से पूजित मोक्ष को प्रदान करने वाली साश्वती विराजमान हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्व लोक में भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें सदा विराजमान हैं। और उनको विमानवासी देवगण पूजते हैं। फिर आपने जिनप्रतिमा की पूजन नहीं करना ऐसा कौन से ग्रंथ से निषेध किया है। जब कोई भी ग्रंथ जिन प्रतिमा की पूजन करने

भो ढूढ्या: पुन एवं च वयं हि साधवो भुवि। ब्रूथ वै मूढलोकानामग्रे यूयं खला: स्फुटं ॥ 72 ॥
साधूनामेकलक्ष्मापि भवतां नैव दृश्यते । साधुजनस्य चिन्हं वै शृणुध्वं कथयाम्यहं ।। 73 ॥
बा ह्याभ्यंतरग्रंथेन वर्जित: शीलभूषित: । सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक: ॥ 74 ॥
परनिंदातिगो धीरो देहे निर्ममता वशी। ऋतुनिकायजीवानां रक्षको मन्युवर्जित: ॥ 75 ॥
शुद्धाचाररत: सद्री: मायामानविखंडक:। मुनिश्रावकधर्मस्य देशक: संयमी दमी ॥ 76 ॥
आत्मज्ञो लोभनिर्मुक्त: सर्वजनप्रिय: शुचि: । संस्कृतप्राकृतवेत्ता मनोक्तिपथवर्जित: ॥ 77 ॥
शुद्धदृग्ज्ञानव्रतस्य धारको निर्मदो गुणी। कृती पूज्यो बुधैश्च मिथ्यात्वपथभंजक: ॥ 78 ॥
अनेकांतनयैर्युक्त: ध्यानी मौनी सुवीर्यवान्। पंचाक्षबारमातंगनाशने हरिसदृश: ॥ 79 ॥

के निषेध का नहीं मिलता है तब फिर पक्षपात क्यों करना चाहिये। यदि मोक्ष की इच्छा है तो कुपक्ष छोड़कर भगवान की पूजन करो। जिनेन्द्र देव के घातक मत बनो।

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया। अब ढूंढकों के दोष:—

अर्थ:— हे ढूंढिया हो एक बात तुम से पूछते हैं। वह यह कि तुम अपने को मूढ लोगों में साधू के नाम से प्रसिद्ध करते हो। तुम्हारा ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि—

अर्थ:—हे ढून्ढिया हो तुम में साधुपने का एक भी लक्षण नहीं है। न कोई ऐसा चिन्ह तुम्हारे में दिखता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधु हो। साधुका लक्षण–जिसके बाह्य और आभ्यतर परिग्रह का परित्याग हो। शीलसंपन्न सकल शास्त्रों के पारंगत जिनमार्ग के प्रकाशक, पर निंदा से रहित, धीर, वीर, देहभोग और शरीर से निर्ममत्व, मन और इन्द्रियों के विजय करने वाले, शांत, षट् काय के जीवों की दया पालने वाले, क्रोध रहित शुद्ध आचरण को पालने वाले, मान माया लोभ और कामादि विकार रहित, धर्म के उपदेशक, परम संयमी, आत्मा को जानने वाले, परम पवित्र, समस्त तत्व के वेत्ता, शुद्ध ज्ञानदर्शन और चारित्र को धारण करने वाले, निर्मद, गुणी, परम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकार के भयों से रहित, परम सौम्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अट्ठावीस मूल गुण के धारक, गुणी पुरुष को साधु कहते हैं।

जिनाज्ञापालकः सौम्यो भयसप्तविवर्जितः। अष्टाविंशतिमूलादिगुणानां पालने क्षमः ॥ 80 ॥

इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्खलु। यः कश्चित्कथ्यते सहि साधुः साधुजनैश्च भो ॥ 81 ॥

गुणानां चैव एतेषां मध्ये होकोपि नास्ति वै। भवतां मूढचित्तानां यूयं पश्यथ निश्चयात् ॥ 82 ॥

हंसा हंसाः हि भो मूर्खाः बकाः बकाश्च सुंदराः। यूयं च बकतुल्यापि नो संति ध्यानमानसाः ॥ 83 ॥

क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवतां च खलात्मनाम्। यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ 84 ॥

प्रत्यक्षं भवतां मूढाः म्लेच्छा धारो हि दृश्यते। अतः स्युः तत्समाः यूयं भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥ 85 ॥

जिव्हास्वादेन युष्माभिः सर्वाचारः सुशोभनः। त्यक्त्वातः सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचरः ॥ 86 ॥

हे ढूंढिया हो तुम्हारे में उपर्युक्त गुणों में से एक भी गुण नहीं है। अतएव तुम किसी प्रकार भी साधु कहलाने योग्य नहीं हो। जो गुण सहित होता है वही साधु है। जिसमें गुण नहीं है वह साधु भी नहीं है।

हे ढूंढिया हो हंस-हंस ही होते हैं। बगुला-बगुला ही है। यद्यपि बगुला भी देखने में सुंदर है तथापि बगुला हंस नहीं हो सकते। और तुम में तो बगुला के समान भी ध्यान नहीं है।

अर्थः—हे ढूंढिया हो तुम्हारे में चारित्र का लवलेश मात्र भी पालन नहीं है न तुमारे में पवित्र क्रियायें हैं। जहां पर क्रियाशुद्धि नहीं है वहां पर धर्म कैसे रह सकता है ?

भावार्थः—क्रिया की शुद्धि पालन करने पर ही धर्म का पालन करना समझा जाता है। जो क्रियाओं का पालन नहीं करता है वह धर्म कर्म विहीन है।

अर्थः—हे ढूंढिया हो तुम लोग प्रत्यक्ष में ही गंदे हो म्लेछाचार संपन्न हो। तुम्हारे आचरण एकदम गंदे और मलीन हैं इसलिये म्लेच्छों के समान ही भ्रष्टाचारी हो।

अर्थः—हे ढूंढिया हो तुमने जिव्हा के स्वाद से समस्त उत्तम आचरण को छोड़ दिया। और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्राशुक है प्राशुक है ऐसा कह कर सेवन किया। क्रियाहीन होने के कारण तुम लोगों ने मलिन वस्तु के सेवन करने में भी विचार नहीं किया इसलिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेच्छ के समान हो।

प्रासुकं प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदंबकं। भवद्भिश्च क्रियाहीनैः सर्वं ह्यंगीकृतं ननु ॥ 87 ॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माकं नास्ति किंचनः । दृश्यते ह्यपघो यद्वत् तद्वद् यूयं न संशयः ॥ 88 ॥
ज्ञातिहीनाः क्रियाहीनाः जिनबिंबस्य निंदकाः। यूयं च सर्वहीनाः स्युर्यथा म्लेच्छाः तथा खलु ॥ 89 ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छानां च खलात्मनां। यथा स्यात्किंचनो लुंका युष्माकमपि सो नहि ॥ 90 ॥
स्वस्वधर्मे रताः सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजकाः । यूयं हि जिनधर्मस्य नाशकाः स्युः न संशयः ॥ 91 ॥
पुनः पृच्छामि युष्माकं किमर्थं मुखबंधनं। अकुरुतेति संश्रुत्या आहुश्च सांवरीयुताः ॥ 92 ॥
सञ्जना जीवरक्षार्थं वाससा वक्त्रबंधनं। कृंत च सर्वजीवस्य पालकाश्च वयं खलु ॥ 93 ॥
तनोः हि नवद्वाराः स्युः भो लुंकाः तान् कथं खलाः। बंधयथ सुचेलेन जीवानां रक्षणाय नो ॥ 94 ॥
बंधयथ नवद्वारान् लुंकाः त्यजथ भो खलाः। वक्त्रस्य बंधनं नूनं यूयं सत्या यदि खलु ॥ 95 ॥

अर्थः— हे ढूंढिया हो ! तुम्हारे में भक्षाभक्ष खाने का जरा भी विवेक नहीं है। जैसे चांडाल के आचरण हैं वैसे ही तुम्हारे हैं। तुम्हारी न जाति है न क्रिया है। जिनप्रतिमा की निंदा करने से तुम और भी पापी हो रहे हो। सच पूछो तो तुमें खाद्याखाद्य का विचार नहीं रहने से तुमको क्या कहें सो समझ में नहीं आता है।

अर्थ—हे ढूंढिया हो जो मनुष्य जिस धर्म को पालन करता है वह अपने देव की पूजन अवश्य करता है। परंतु तुम तो अपने आप ही अपने ही धर्म का नाश करते हो।

अर्थः—हे ढूंढिया हो तुम मुख पर पाटी क्यों बांधते हो। उत्तर—जीवों की रक्षा के लिए मुख पर पाटी बांधी जाती है। हम लोग समस्त प्रकार के जीवों की रक्षा के करने वाले हैं। मुख से जीव नहीं मरे इसलिये मुख पर पाटी बांधते हैं। हे ढूंढिया हो तुम्हारे शरीर में नव द्वारों के द्वारा निरंतर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने नव द्वारों को क्यों नहीं बांधते हो। सच्चे जीवरक्षक तब ही हो सकते हो जब कि तुम अपने शरीर के नव द्वारों को बांधकर सब प्रकार की वायुओं का संरोध करो अन्यथा एक मुखपर पाटी बांधकर विशेष म्लेच्छाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्म को घृणापूर्ण बनाकर निंदा के पात्र होते हो।

वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात्। जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यंते खलाशया: ॥ 96 ॥
तत्रैव तेच म्रियंते सदा कालेत्र संशय: । नो यूयं पश्यथ लुंका: ग्रंथेषु सकलेषु च ॥ 97 ॥
अतो यूयं च प्रत्यक्षं निशाचरसमा: खला: । जीवानां भक्षणात् स्यु: हि ते हि जीवस्य भक्षका: ॥ 98 ॥
रक्षथ नैव रात्रौ च प्रासुकं चोदकं खलु। यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्ति: मां खला: स्फुटं ॥ 99 ॥
वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्धये तदा। किं न कुरुथ भो लुंका यदि ह्यपघसोपमा: ॥ 100 ॥
कथं जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च। अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचि: सर्वत्र संमता ॥ 101 ॥
ईदृश्यं निंद्यकर्म च नो कुर्वंति खला: स्फुटं। मातंगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता: ॥ 102 ॥
जनंगमोपमा यूयं किं स्यु: भो जिननिंदका: । नो संति तत्समाप्येव तद्धीनात्रात्र संशय: ॥ 103 ॥
भो म्लेच्छा: ईदृशं किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणम्। वयं हि साधवो लोके इत्यसत्यं वदथ मा ॥ 104 ॥
अतो भो कुक्रियां त्यक्त्वा क्रिया शुद्धां सुखास्पदां। पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम् ॥ 105 ॥

अर्थ:—हे ढूंढिया हो मुखपर पाटी बांधने से पाटी में थूक के संयोग से और वायु के वेग से अगणित जीव निरंतर मुख में उत्पन्न होते हैं तथा पाटी में उत्पन्न होते हैं। वे वहां पर ही मरते हैं। यह बात प्रत्यक्ष दिखती है। मुख पर पाटी रात्रि दिवस निरंतर बंधी रहने से रात्रि में जीवभक्षण का पाप उत्पन्न होता है। दूसरे जीवों का भक्षण करने से तुम को निशाचर क्यों नहीं कहा जाय ?

अर्थ:—हे ढूंढिया हो रात्रि में जिस समय तुम को मल-मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रि में प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नहीं रखते हो और बिना पानी के मल-मूत्र की शुद्धि किस प्रकार करते हो ?

रात्रि में मल-मूत्र की शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी बिना किससे ? (क्या मूत्र से मलविष्टा की शुद्धि करते हो ?) यदि मल-मूत्र की शुद्धि नहीं करते हो तो अशुद्ध मल-मुत्र सहित शरीर से सामायिक किस प्रकार करते हो ? जप किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीर से जप तप सामायिक आदि क्रियायें की जाय तो सब व्यर्थ है। अरे ! चांडाल भी तो अपने मूत्र से अपनी शरीर की शुद्धि (मल त्याग की शुद्धि) नहीं करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्ष में चांडाल कर्म से भी निंद्य कर्म है। ऐसे कर्म को करने वाले को साधु किस प्रकार मानना ? भला यही साधु के लक्षण है ? सत्य-सत्य कहना। इसलिये कुत्सित आचरणों को छोड़कर सत्य और पवित्र आचरणों का पालन करना सीखो।

यायाथ कुगतिं मूढा यूयमाचारवर्जनात् । मा भजथा विवेकंच धर्ममार्गस्य नाशका: ॥ 106 ॥
जिनबिंब जिनागारं जिनसिद्धांतपुस्तकम् । जिनमतस्थं दयाभावं जिनयात्रां जिनोत्सवं ॥ 107 ॥
जिनधर्मं प्रभोर्वाचं धर्माब्धिसोमसदृशम्। इत्याद्यान् येव लोकाश्च निंदयंत्येव ते मता: ॥ 108 ॥
म्लेचछाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे। इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निंदा बिंबस्य भो खला: ।। 109 ॥
इत्युपदेशमस्माभिर्यद्दत्तो भवतां खलु। अहंकारमदाभ्रैव तद्धि भद्रार्थमेवच ॥ 110 ॥
निकोते: यदि वांछाचेत् युष्माकं स्यात् खला: स्फुटं। तदा कुरुथ बिंबस्य निंदां धर्मस्य नाशिनीं ॥ 111 ॥
जिनबिंबं नरा येहि दृष्ट्वा कुर्वंति भोजनम् । ते मता ह्यागमे मर्त्या: पशुतुल्याश्च तद्दते ॥ 112 ॥
दर्शनं जिनबिंबस्य सर्वाहस्यैव नाशदम्। दर्शनाज्ञायते मोक्षो तद्दते सर्वं नि:फलम् ॥ 113 ॥

अर्थ:—हे ढूंढिया हो मायाचार कषाय से दुर्गति के पात्र क्यों बन रहे हो ? विवेक का परित्याग कर जन्मान्ध के समान धर्म मार्ग का लोपकर अपने जीवन को पतित क्यों बनाते हो ? ।

अर्थ:—हे ढूंढिया हो जिनबिंब (जिनप्रतिमा) जिनमंदिर-जिनवाणी-जिनधर्म-जिनयात्रा-जिनमहोत्सव-जिनरथ महोत्सव-जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्म के अंग उपांगों की जो निंदा करते हैं वे नीच हैं। जिनागम में बतलाया है कि जिनधर्म के नाशक म्लेच्छ होंगे। परंतु तुम लोग तो म्लेच्छजन्मा नहीं होकर भी म्लेच्छ से नीचे कार्य करते हो इसलिये जो तुम को अपनी भलाई करने की इच्छा है तो निंदा करना छोड़ देना चाहिये और विवेक पूर्वक धर्माचरण का पालन करना चाहिये। यह उपदेश आपके हित के लिये लिखा है। अभिमान या किसी स्वार्थ से नहीं दिया है। यदि आपको निगोद पर्याय में नहीं जाना है, तो जिनधर्म की निंदा करना छोड़कर भगवान की पूजा करो ।

अर्थ:—हे भव्य जीवों ! जो मनुष्य श्रीजिनदेव के दर्शन किया कर भोजन करते हैं वे आगमानुसार मनुष्य हैं तथा जो बिना दर्शन भोजन करते हैं वे पशु के समान हैं।

अर्थ:—श्री जिनराज के पवित्र दर्शन करने से समस्त पापों का नाश हो जाता है। और क्रम से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। भगवान के दर्शन के बिना समस्त व्रतपालन जप तप व्यर्थ हैं।

सर्वातंक विनाशो वै जायते जिनदर्शनात् । सर्वे शोका: प्रयांत्येव नाशतांच तदीक्षणात् ॥ 114 ॥

जिनेक्षणसमं धर्मं लोके नास्त्येव चापरं। अत: पूर्वं कुरुध्वं वे जिनबिंबस्य दर्शनम् ॥ 115 ॥

लोकेऽस्मिन् जिनदर्शनोपमफलं नैवावरं सज्जना: । जीवा ये तरिता: तरंतिच तथा वाहि तरिष्यंति भो ॥

ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखदं सर्वार्तिसंहारिणा। ज्ञात्वेत्थं मनुजोत्तमा: प्रतिदिनं तं हि कुरुध्वं मुदा ॥ 116 ॥

प्राप्नोत्येव बुधोत्तमा: जिनपते: सद्दर्शनात् मानवो। मोक्षं शर्मनिकेतनं मुनिवरैर्वंद्यं सदास्थं वरम् ।

भव्योऽयं शुभध्यानधर्मनिरत: पापालिसन्नाशनात् । कुर्वीध्वं प्रतिवासरं सुखकरं तद्दर्शनं भो ह्यत: ॥ 117 ॥

ये कुर्वत्यधमा: सुराधिपगणै: पूज्यस्य बिंबस्य वै। याता यांति निकोतिषु खलु सदा यास्यंति भो सज्जना: ॥

निंदां दु:खप्रदायिकां मुनिवरैर्हेयां न कुमानजै: । कुर्वीध्वं च ह्यत: सदा सुखकरं भक्तिं च सद्दीक्षणं ॥ 118 ॥

अर्थ:—श्री जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से सर्व प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। समस्त प्रकार के शोक नष्ट हो जाते हैं। प्रभु के दर्शन सिवाय अन्य कोई धर्म ही नहीं है। इसलिये नित्य प्रति भगवान का दर्शन कर अपने जन्म को पवित्र और पुण्य रूप बनाओ।

अर्थ—संसार में श्रीजिनेन्द्र भगवान के पवित्र दर्शन के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है, दुर्लभ नहीं है, सुखद नहीं है, हितकर नहीं है। इसलिये जिनेंद्र भगवान के दर्शन से भव्य जीव संसार समुद्र से पार होते हैं, हो गये हैं और होंगे। भगवान के दर्शन सिवाय संसार से पार होने का दूसरा मार्ग ही नहीं है।

समस्त प्रकार की पीड़ा को नाश करने वाला यह प्रभु का दर्शन समस्त जीवों को सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवों ! नित्य प्रति भगवान का दर्शन-पूजन, ध्यान और अभिषेकादि विधान करो।

अर्थ:—जो भव्य जीव भगवान के दर्शन करते हैं उनको मोक्ष के सुख शीघ्र ही प्राप्त होते हैं। वह समस्त पापों से मुक्त होकर मुनियों से वंदनीय होता है। इसलिये भगवान का दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये।

इत्थं वै परपक्षस्य भव्या: किंचित् घिया मया। निराकरणं कृतं चैव जिनागमानुसारत: ॥ 119 ॥

यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधा:। भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा ॥ 120 ॥

ईदृशा: धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशया: । ज्ञानलेशोज्झिता: क्रूरा भविष्यंति न संशय: ॥ 121 ॥

भव्यभावयुता: स्वल्पसंख्याढ्या मगधेश्वर । वसंख्याढ्या नरा: तस्मिन् भविष्यंत्येव नेतरा: 122 ॥

अर्थ:—देवों से पूजित ऐसी जिनराज की प्रतिमा की निंदा करने से जीव निगोद में जाते हैं, जायेंगे और जा रहे हैं। इसलिये निंदा को छोड़कर भगवान की भक्ति करो जिससे सर्व सुख की प्राप्ति हो।

अर्थ:—इस प्रकार ढूंढिया मत का निराकरण जिनागम के अनुसार किया।

अर्थ:—वीर भगवान् ने श्रेणिक महाराज से कहा है कि पंचम काल में धर्म को नष्ट करने वाले बहुत से मनुष्य उत्पन्न होंगे परंतु भव्य भावों को धारण करने वाले कम होंगे। यह काल का माहात्म्य है।

अथ व्रतप्रकरणम् ।

जो पुरुष[1] देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों के करने में तल्लीन रहता है, जिसका कुल उत्तम है वह चूला, उखली, चक्की, बुहारी आदि गृहस्थ की नित्य षट् आरम्भ क्रियाओं से होने वाले पाप से मुक्त हो जाता है वही उत्तम श्रावक कहलाता है।

जो भव्य बिंबाफल के समान वेदी बनवा कर उसमें जो प्रमाण प्रतिमा विराजमान करता है वह मुक्ति को समीप कर लेता है।

पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुख करके और तिलक लगाकर जिनपूजन करना चाहिये।

शुद्ध[2] जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, आम्ररस, सर्वौषधि और कल्कचूर्ण आदि से भक्तिपूर्वक भगवान् जिनेन्द्र का अभिषेक करना चाहिए।

खंडित वस्त्र, गला हुआ, फटा हुआ और मैला वस्त्र पहन कर दान-पूजन जप होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे खंडित आदि वस्त्रों को पहन कर पूजन करने से उसका फल नहीं मिलता है।

प्रश्न — पुष्प, धूप, दीप, फल आदि सचित्त द्रव्यों से भगवान् की पूजा करने से पाप सम्भव है ?

उत्तर— जो जिन पूजा असंख्य भवों के पापों को नष्ट करने में समर्थ है उस पूजा से क्या यत्किंचित पूजन के निमित्त से होने वाले सावद्य पाप नष्ट नहीं होंगे ? अवश्य हो जायेंगे । हाँ ! इतना अवश्य है कि प्रत्येक कार्यों में यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति होना चाहिये।

---

1. देवपूजादिषट्कर्मनिरत: कुलसत्तम: । आद्यषट्कर्मनिर्मुक्त: श्रावक: परमो भवेत् ॥ 14 ॥ उमास्वामी श्रावका. पृ. 35
2. शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्दुग्धदध्याम्रजै: रसै: । सर्वौषधिनिरुत्थैश्च भावात् संस्नापयेज्जिनम् ॥ 134 ॥ उमा. श्राव. पृ. 53

'कुटुम्ब पोषण और भोगोपभोग के लिए किया गया आरम्भ पाप उत्पन्न करने वाला होता है, परन्तु दान, पूजा, आदि धर्म कार्यों में किया गया आरम्भ पाप बन्ध के लिए नहीं होता है।'[1]

जो मनुष्य[2] धनिया के पत्र बराबर जिन भवन बनवा कर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा की स्थापना करता है, वह तीर्थङ्कर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ?

पूजन के समय जिन भगवान् के आगे जलधारा के छोड़ने से पापरूपी मैल का क्षालन होता है।

चन्दन के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अन्त में मोक्ष सुख को पाता है।

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान मुख वाला, पुष्पों की सुन्दर मालाओं से समर्चित देह वाला कामदेव होता है।

नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, क्रान्ति और तेज से सम्पन्न, अति सुन्दर होता है।

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य, केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला केवली होता है।

धूप से पूजा करने वाला परम निर्वाणरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाणरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

जिनमन्दिर में घण्टा समर्पण करने से घण्टाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ सुरविमानों में जन्म लेता है।

मन्दिर में छत्र प्रदान करने से पृथ्वी को एकछत्र भोगता है।

चमरों के प्रदान से उस पर चमर ढोरे जाते हैं।

जिन भगवान् के अभिषेक करने से मनुष्य सुदर्शनमेरु पर क्षीरसागर के जल से इन्द्रों द्वारा अभिषेक को प्राप्त करता है।

जिनमन्दिर में विजय पताकाओं के देने से सर्वत्र विजयी षट् खंडपति चक्रवर्ती होता है।

अधिक कहने से क्या ? जिन पूजन के फल से संसार के सभी अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं और परम्परा से मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से संक्षेप से 'देवपूजा' नाम की आवश्यक क्रिया का वर्णन हुआ।

---

1. उमास्वामी श्रावकाचार, पृ. 57।
2. वसुनन्दिश्रावकाचार, पृ. 145।

गुरु की उपासना

"'अपने मनोवांछित पदार्थ सिद्ध करने के लिये तथा इस लोकसम्बन्धी समस्त संशय रूप अन्धकार का नाश करने के लिये एवं परलोक में सुख प्राप्त करने के लिये गुरु की सेवा सदा करते रहना चाहिये।"[1]

उत्तम, माध्यम, जघन्य कैसे ही मनुष्य हों परन्तु बिना गुरु के वे मनुष्य नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट गुरु की सेवा अवश्य करते रहना चाहिए।

"गुरु भक्ति रूपी संयम से घोर संसार समुद्र को पार कर लेते हैं और अष्ट कर्मों का छेदन कर देते हैं पुनः जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।"[2]

स्वाध्याय

स्वाध्याय भव्य जीवों को ज्ञान देने वाला है उसके पाँच भेद हैं-वाचना-पढ़ना-पढ़ाना। पृच्छना-प्रश्न करना। अनुप्रेक्षा- पढ़े हुए का बार-बार चिंतवन करना। आम्नाय-शुद्ध पाठ रटना। और धर्मोपदेश - धर्म का उपदेश देना।

संयम

इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण करना और जीवदया पालना संयम है। संयम के दो भेद हैं - इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम।

पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग करना और मन को वश में रखना इन्द्रिय संयम है। पाँच स्थावर और त्रसकाय ऐसे षट्काय के जीवों की दया पालना।

तप

कर्म निर्जरा के लिये किया गया तपश्चरण 'तप' कहलाता है। तप के दो भेद हैं - बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह भेद हैं -अनशन -उपवास करना, अवमौदर्य-भूख से कम खाना, व्रत परिसंख्यान-घर गली अथवा अन्य पदार्थों का नियम करके आहार ग्रहण करना, रसपरित्याग- घी, दूध आदि रसों में एक या सभी रसों का त्याग करना।

विविक्त शय्यासन- एकान्त स्थान में या गुरु के सान्निध्य में शयन आसन करना और

कायक्लेश - कुक्कुट आसन, पद्मासन, खड्गासन, प्रतिमायोग आदि से ध्यान करना।

अभ्यन्तर तप के तीन भेद हैं-

प्रायश्चित- व्रत आदि में दोष लग जाने से गुरु से उसका दण्ड लेना। विनय- रत्नत्रय धारकों का विनय करना, वैयावृत्य-आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि व्रतीजनों की सेवा करना, स्वाध्याय-शास्त्रों का पठन-पाठन आदि करना, व्युत्सर्ग-पापों के कारण रूप उपाधि का त्याग करना, ध्यान-पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि प्रकार से ध्यान करना।

---

1. 'गुरुसेवा विधातव्या मनोवाञ्छितसिद्धये। संशयध्वांतनाशार्थंविज्ञापुंज सुखाय च' ॥ 183 ॥ उमा. श्रा. पृ. 71।
2. 'गुरुभक्तिसंजमेण य तरंति संसारसायर घोरं। छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मणमरणं च पावेंति ॥

इन बारह प्रकार के तपों का एक देश रूप से शक्ति के अनुसार श्रावकों को भी अनुष्ठान करना चाहिये। मुख्यतया इनका अनुष्ठान मुनियों को ही होता है।

दान

स्वपन के अनुग्रह के लिये धन का त्याग करना दान है।

दान के चार भेद हैं- आहार दान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान।

उत्तम आदि पात्रों में इन चारों दानों को देना उत्तम दान है।

इस प्रकार से जो गृहस्थ श्रावक नित्यप्रति षट् आवश्यक क्रियाओं को आदरपूर्वक करता है वह चक्की, उखली, चूल्ही, बुहारी और जल भरना, गृहारम्भ के इन पाँच पापों से और द्रव्य कमाना। इस छठे पाप से अर्थात् षट् आरम्भजनित पापों से छूट जाते हैं।

इस तरह उमास्वामी श्रावकाचार के अनुसार इन षट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी रयणसार[1] में कहते हैं कि-

सुपात्र को चार प्रकार का दान देना और श्री देवशास्त्र गुरु का पूजन करना श्रावकधर्म में श्रावक के ये दो कर्त्तव्य प्रमुख हैं, इन दो कर्त्तव्यों के बिना श्रावक नहीं हो सकता है। वैसे ही मुनियों के कर्त्तव्यों में ध्यान और अध्ययन में दो कर्त्तव्य मुख्य हैं। इन दो कार्यों के बिना मुनि है।

पूजा के फल से यह मनुष्य तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है। और सुपात्र दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

भोजन-आहार दान देने मात्र से ही श्रावक धन्य कहलाता है। पंचाश्चर्य को प्राप्त होता हुआ देवताओं से पूज्य होता है[2]। एक जिनलिंग को देखकर आहार दान देना चाहिए, उस समय पात्र-अपात्र की परीक्षा करने से क्या प्रयोजन ?

''जो भव्य जीव मुनीश्वरों के आहार दान के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करता है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।''[3]

''इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी के पंचम काल में श्री मुनीश्वरों को प्रमाद रहित धर्म ध्यान होता है ऐसा जिनवचन है जो नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।''[4]

---

1. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा। झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मे ण तं विना तहा सोवि ॥ 11 ॥
2. दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो। पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥ 15 ॥ रयणसार।
3. जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं। संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥ 22 ॥
4. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ 76 ॥
उक्तंच तिरयणसुद्धा अप्पा झाए वि लहइ इंदत्तं। लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥ 77 ॥ मोक्षपाहुड पृ. 275।

''आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्र पद को और लौकांतिक पद को प्राप्त कर लेते हैं, पुनः वहाँ से च्युत होकर मोक्ष चले जाते हैं अर्थात् एक भवावतारी हो जाते हैं ।''

'श्रीदेवसेन' विरचित भावसंग्रह में पंचम गुणस्थान के प्रकरण में शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हुए सामायिकव्रत का वर्णन किया है कि-

''तीनों कालों[1] में अरहन्त भगवान् की स्तुति करना, पर्व-पर्व में सुपोषधोपवास करना, अतिथियों को दान देना और मरण के अन्त में सल्लेखना मरण करना ।''

श्री वामदेय विरचित भाव संग्रह में पंचम गुणस्थान का वर्णन करते हुए व्रत प्रतिमा के लक्षण में शिक्षाव्रत में प्रथम सामायिक विधि का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

''प्रतिदिन[2] तीनों कालों में श्रावक जिनपूजा पूर्वक सामायिक करे।'' क्योंकि -

''जिनपूजा[3] के बिना सभी सामायिक क्रियायें दूर ही हैं अर्थात् नहीं हो सकती हैं।'' उसी का संक्षिप्त वर्णन-

प्रातःकाल उठकर शौच, आचमन पूर्वक प्राभातिक विधि करे। शुद्ध जल से स्नान कर मंत्र स्नान (मंत्र पूर्वक संध्या-वन्दन विधि) और व्रत स्नान ऐसे तीन स्नान करे, धुले हुए वस्त्र पहन कर जिनमन्दिर में जाकर निःसहि मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रवेश करे और ईर्यापथ शुद्धि करके जिनेन्द्र भगवान का स्तवन करे। पुनः बैठकर सकलीकरण विधि करे।

पूजा-पात्र, पूजा-द्रव्य आदि को शुद्ध करके पंचामृत अभिषेक पाठ में कही गई विधि के अनुसार जिनेन्द्र भगवान का विधिवत पंचामृत अभिषेक करे, पुनः अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य प्रदान करके शान्तिधारा करे और पुष्पांजलि क्षेपण करे। पूजन में अष्टद्रव्य से अर्चन और अर्घ्य के बाद शान्तिधारा, पुष्पांजलि करना[4] चाहिए। जो कि शास्त्रोक्त है-

पुनः अपनी रुचिपूर्वक एक-दो या कई पूजन करके पंच नमस्कार मंत्र द्वारा 108 पुष्पों से या लवंगों से जाप्य करे। सिद्धचक्र यंत्र आदि यंत्रों की पूजा, जाप्य आदि करके चैत्यभक्ति और पंच गुरुभक्ति बोलकर शान्ति भक्ति, समाधिभक्ति करे और विसर्जन विधि करे। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त या जितना अवकाश है उतने काल तक स्वस्थ चित्त से अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करे।

अनन्तर श्रुतपूजा, गुरुपूजा करके आर्यिका और ऐलक आदिकों की विधिवत् पूजा करे।

---

1. दोसं सुयइ विआले पच्चे पच्चे सुपोसहोवासं। अतिहीणं संविभागे मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥ 355 ॥ भावसं. पृ. 81।
2. सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये जिनं प्रति। श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजा पुरःसरम् ॥ 463 ॥ भाव सं. वामदेव वि. पृ. 115।
3. ''जिनपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।'' भावसंग्रह, वामदेवकृत पृ. 115।
4. अर्घ्य के शांतिधारा और पुष्पांजलि करने की प्रथा दक्षिण में सार्वत्र है, उत्तर में प्रायः कम है।

इस प्रकार से श्रावक की सामायिक विधि है। विशेष- संहिता-शास्त्रों में और प्रतिष्ठा-शास्त्रों में भी यही विधि नित्य पूजन विधि में कही गई है। मतलब यह है कि यदि श्रावक इस विधि के अनुसार पूजन करता है तो सामायिक विधि उसी में सम्मिलित होने से उसकी सामायिक विधि भी वही कहलाती है। 'सामायिक' नाम की पुस्तक में 'पूजा मुख विधि' और 'पूजा अन्त्य विधि' में विधि करने का स्पष्टीकरण है। श्रावक की पूजन विधि में प्रारम्भ में ईर्यापथ शुद्धि और सिद्धभक्ति करना चाहिये। अनन्तर विधिवत् पंचामृत अभिषेक और अष्टद्रव्य से पूजन करके चैत्यभक्ति पंच गुरुभक्ति और शान्ति भक्ति करना चाहिये। यही विधि श्री पूज्यपाद स्वामी कृत पंचामृताभिषेक पाठ में भी पाई जाती है ।

तृतीया अतिथिसंविभाग व्रत में दान का वर्णन – पात्र, दातार, दानविधि, दात्वय-देने योग्य पदार्थ और दान का फल ये पाँच अधिकार होते हैं।

पात्र के तीन भेद हैं – उत्तम, मध्यम और जघन्य । रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं। ग्यारह प्रतिमा में से कोई भी प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम पात्र है एवं अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

जप, तप आदि से सहित किन्तु सम्यक्त्व से रहित कुपात्र हैं एवं सम्यक्त्व, शील तथा व्रतों से रहित जीव अपात्र हैं।

दातारों के गुण– श्रद्धा, भक्ति, सन्तोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण हैं।

दान विधि– प्रतिग्रह– पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मन:शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजन की शुद्धि कहना, ये नवधा भक्ति कहलाती है। इन नवधा भक्ति के हुए बिना उत्तम साधु आहार नहीं करते हैं।

दात्व्य वस्तु– आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान ये देने योग्य हैं।

दान का फल– ''सम्यग्दृष्टि के द्वारा पात्रों में दिया गया दान स्वर्ग, मोक्षसुख को प्रदान करता है। कुपात्र में दिया गया दान फल रहित है एवं अपात्र में दिया गया दान अत्यन्त दु:ख का देने वाला है।''

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले पुरुष का लक्षण – ''न्याय[2] पूर्वक धन कमाने वाला, गुणों से गुरु माता-पिता का सम्मान एवं गुरुओं की, मुनियों की पूजा करने वाला, सत्य वचन बोलने वाला, परस्पर विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम, इन तीन वर्गों को सेवन करने वाला, तीन पुरुषार्थ के योग्य, स्त्री, ग्राम और घर जिसके हैं ऐसा लज्जाशील, शास्त्रोक्त योग्य आहार तथा विहार करने वाला, आर्य पुरुषों की संगति करने वाला, बुद्धिमान्, दूसरों द्वारा किये हुए उपकार को मानने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्म विधि को सुनने वाला, दयालु और पापों से भयभीत पुरुष ही गृहस्थ धर्म को धारण करने के लिये योग्य है।

---

1. वसुनन्दि श्रावकाचार।
2. ''न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन् अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः ।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी। श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥ 11 ॥ सागारधर्मामृत, पृ. 20 ।

पुनराह श्रृणु भूप तेषां भाविसुखाशये। दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ 123 ॥

अष्टान्हिकाविधिं चैव संपत्तिं जिननामजाम् । शिवदां मेघमालाख्यां सद्व्रतं पल्यसंज्ञकम् ॥ 124 ॥

शातदं पार्श्वनाथांकमादित्याख्यं च सद्व्रतम्। सर्वपापेभसिंहाभं सर्वातंकविनाशकम् ॥ 125 ॥

ज्येष्ठजिनवरनामानं दशलक्षणसंज्ञकम् । षोडशकारणाख्यं च जिनगोत्रप्रदायकम् ॥ 126 ॥

मेरुपंक्तिं क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञकम्। विमानपंक्तिसन्नाम शातकुंभं द्विकावलीं ॥ 127 ॥

सिंहादिविक्रमं वृत्तं त्रयं संसारनाशकम्। नक्षत्रमालावृत्तं च रत्नावलीं सुशातदाम् ॥ 128 ॥

वृत्तं कनकावलीं चैव मोक्षपदस्य दायकम्। उभीनोभीनसद्व्रतं जिनैकं प्रतिप्रोषधम् ॥ 129 ॥

पंचकल्याणवृत्तं च कर्मदावाग्निवारिदं। शिवकुमारवृत्तं च पुष्पांजलिव्रतोत्तमम् ॥ 130 ॥

रत्नत्रयाभिधं वृत्तं सर्वकर्मारिनाशकम् । यस्यैव पालन द्राजा मल्लिनाथोभवज्जिनः ॥ 131 ॥

अर्थः— हे राजेन्द्र! भव्य जीवों के हित के लिये शुभ मार्ग बतलाते हैं। जिससे शिवसुख की प्राप्ति हो। अब उन व्रतों के कुछ नाम बतलाते हैं जिनके पालन करने से भव्य जीवों को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अष्टाह्निकाव्रत 1, जिनगुणसंपत्तिव्रत 2, मेघमालाव्रत 3, पल्यविधानव्रत 4, रविवारव्रत 5, जेष्ठजिनवरव्रत 6, दशलाक्षिणीव्रत 7, षोड़शकारणव्रत 8, मेघपंक्ति 9, त्रिपंचाशत् क्रियाव्रत 10, सर्वतोभद्रव्रत 11, विमानपंक्तिव्रत 12, शातकुंभव्रत 13, द्विकावलीव्रत 14, सिंहविक्रमक्रीडनव्रत 15, रत्नत्रयव्रत 16, कनकावली 17, नक्षत्रमाला व्रत 18, रत्नावली 19, वृहतकनकावली 20, उभीनोल्लीनव्रत 21, जिनप्रोषधव्रत । पंचकल्याणव्रत 22, पुष्पांजलिव्रत 23, इत्यादि बहुत से उत्तमोत्तम व्रत श्री जिनदेव ने भव्य जीवों के कल्याण के लिये बतलाये हैं। इन व्रतों में से कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनको करने से दो तीन भव में ही मोक्ष का सुख प्राप्त होता है।

इत्याद्या बहवः संति जिनागमे जिनेश्वरैः । प्रोक्ताश्च चेलनाकांत होतव शिवदायकाः ॥ 132 ॥

शास्त्रोक्तविधिना भूप ये करिष्यंति मानवाः । द्वित्रिभवे हि यास्यंति शिवेत्ययादिवर्जिते ॥ 133 ॥

एषां मध्येस्ति राजेन्द्र कर्मादिदहनाभिधः । व्रतोहि सर्वकर्माग्निः दाहने पावकोपमः ॥ 134 ॥

तत्कथं चास्य सर्वं हि विधिमाह जिनश्च सः । समाधिना श्रृणु त्वं च सर्वभव्यहिताशये ॥ 135 ॥

कर्माण्यष्टौ महादुःखदायकानि खलानिच । अष्टाब्धिचंद्रसंख्याढ्या: ज्ञेया प्रकृतयः खलु ॥ 136 ॥

सर्वे पिंडीकृताः होते सर्वशर्मप्रदायकाः । ऋतुपंचेंदुसंख्याढ्या: संजाता मगधेश्वर ॥ 137 ॥

एषां कर्मप्रकृतीनामेकैकोपरिप्रोषधाः । शतैकपंचषट्संख्याप्रमाः कार्याः शिवाशये ॥ 138 ॥

एते सर्वे मयाख्याताः प्रोषधाः कर्मनाशकाः । एकांतरेण कर्तव्या मनोमलविभंजकाः ॥ 139 ॥

प्रोषधानां विधिं वक्ष्ये त्वं श्रृणु शर्मदायकं । विधिना क्रियमाणोयं शिवशर्मप्रदायकः ॥ 140 ॥

अर्थः—उपर्युक्त व्रतों में एक कर्मदहन नाम का सर्वोत्तम व्रत है। जो भव्य जीवों को सर्व प्रकार की संपत्ति का प्रदान करने वाला और मोक्ष के सुख को देने वाला है। कर्मदहन व्रत कर्मों का समूल नाश करने वाला होने से शीघ्र ही सिद्ध पद को प्रदान करता है।

कर्मों की समस्त उत्तर प्रकृति 148 हैं। उनमें आठ कर्म की मूलप्रकृति मिला देने से कुला 156 भेद हो जाते हैं। बस जितने भेद कर्मों के होते हैं उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रत के होते हैं।

भावार्थः—156 प्रोषधोपवास इस व्रत में किये जाते हैं। एक-एक कर्मप्रकृति के नाश करने के लिये एक-एक प्रोषधोपवास करना चाहिये।

156 प्रोषधोपवास इस व्रत में किये जाते हैं। और इसीलिये इस व्रत का सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है। ये प्रोषधोपवास एकांतर (धारणा-पारणा) से करना चाहिये ।

पूर्वस्मिन्न दिने सैव व्रती चोत्थाय शुद्ध धी: । तल्पात् सामायिकं कृत्वा मंत्र जप्त्वा जगन्नुतम् ॥ 141 ॥

पश्चाच्छुद्धोदकेनैव स्नात्वा यत्नेन सिद्धये। धौतवस्त्रनि शुक्लानि संधार्य जिनमंदिरे ॥ 142 ॥

गत्वा दत्वा जिनेन्द्रस्य त्रिप्रमांहि प्रदक्षिणां। नत्वा चाष्टांगविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहु: ॥ 143 ॥

ततो जिनेन्द्रबिंबं च स्थापयित्वा वरासने। छत्रचामरसच्छोभा कर्त्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ 144 ॥

शुद्धोदकेक्षुसदाज्यदुग्धदधिरसोत्करै: । स्नपनीयं च तं पश्चात्सर्वौषधिरसैर्वरै: ॥ 145 ॥

अर्थ:—कर्मदहनव्रत की विधि–व्रत के धारणा के दिवस से ही मन की सर्व प्रकार की शल्य को निकालकर गुरु के समीप व्रत को ग्रहण करे। धारणा के दिवस एकासन करे। परिणामों को शांत रखकर यथासाध्य विषय कषायों का त्याग करे। ब्रह्मचर्य धारण करे। शुद्ध आहार निरंतराय ग्रहण करे।

उपवास के दिवस प्रात:काल उठकर सामायिक करे। पश्चात् शौच क्रिया से निवृत्त होकर शुद्ध प्राशुक जल से स्नान करे। धुले हुए सफेद वस्त्रों को धारण करे। और अपने घर से उत्तमोत्तम भगवान के पूजन की सामग्री तथा अभिषेक की सामग्री (इक्षुरस–दूध–दही–घृत, सर्वौषधि, शर्करा, फल–फूल, केशर, कपूर, दीपक आदि) ले जावे। मंदिर में जाकर भगवान के चैत्यालय की पूजा भक्ति से कर पश्चात् श्री जिनराज के बिंबों की तीन प्रदक्षिणा जय जयकार पढ़ता हुआ देवे। पश्चात् स्तोत्र पढ़कर प्रभु का गुणानुवाद कर नमस्कार करे। विधिपूर्वक वेदी की स्थापना करे। शासन देवों को यथास्थान विराजमान करे। पश्चात् गंधकुटी पर भगवान को विराजमान कर चमर छत्र आदि से दिव्य शोभा करे। पश्चात् इक्षुरस–घृत, दूध, दही, सर्वौषधी रस से मंत्र पूर्वक अभिषेक करे। पश्चात् पूर्ण कलश (कुंभकलशों से) अभिषेक करे। प्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करे। भगवान की आरती करे। फिर गंधोदक से शांतिधारा समर्पण करे।

अभिषेक हो जाने के पश्चात् उत्तम वस्त्र से प्रभु के शरीर को पोंछ लेवे। फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्यों से पूजन करे। पूजन में भी आह्वानादि विधि को भूल न जावे।

जललग्नान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नतः। स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोर्गात्रस्य वा ततः ॥ 146 ॥
जन्मात्ययजराणां च नाशार्थं श्रीपतेः पुरः। दातव्याश्च त्रयो धाराः स्वर्णभृंगारनालकात् ॥ 147 ॥
संसारातपघातार्थं काश्मीरागुरुजै रसैः। लेपनीयं जिनेन्द्रस्य पादयोर्लेखपूज्ययोः ॥ 148 ॥
जिनपादारविंदाग्रे करणीया मनोहराः। पुंजाश्चाक्षतसंदोहैरखंडस्थानलब्धये ॥ 149 ॥
पद्ममंदारसत्कुंदबकुलाद्याश्च सुंदराः। पुष्पोत्करा जिनेन्द्रस्य पादोपरि सुमोदकाः ॥ 150 ॥
संवरारिविनाशाय धर्तव्या जीववर्जिताः। अस्पृश्य श्च कुमर्त्यैश्च निश्छिद्राः पतिता न कौ ॥ 151 ॥
व्यंजनैर्मोदकैः खज्जै रसैर्नानाविधैर्वरैः। शाल्यन्नैर्जिनपादाब्जं ढौकनीयं सुखाप्तये ॥ 152 ॥
दीपैर्धूपैः फलौघैश्च पूजनीयो जिनेश्वरः। महार्घेण ततस्तंच अनर्घ्यपदप्राप्तये ॥ 153 ॥
कृत्वैवं जिनसत्पूजां पश्चात्पुष्पांजलिम्रदा दातव्या शांतिपाठंच करणीयं प्रभोः पुरः ॥ 154 ॥
शक्त्यनुसारतः पश्चात् जिनेन्द्राग्रे सुमोदतः। कायोत्सर्ग च अंतेहि कर्त्तव्य मोक्षप्राप्तये ॥ 155 ॥

जलपूजा भृंगार की नाली से तीन धारा चढ़ाने से ही होती है। चंदनपूजा अनामिका अंगुली के द्वारा सुगंधित केशर प्रभु के चरण कमल के अंगुष्ठों पर चढ़ाने से होती है। अक्षत पूजा पुंज चढ़ाने से होती है। पुष्पपूजा— सुगंधित पुष्प प्रभु के चरण कमलों पर चढ़ाने से होती है। नैवेद्य पूजा सुंदर नैवेद्य भात, पूडी, पकवान थाल में चढ़ाकर उतारने से होती है। दीप पूजा— दीपक को जलाकर आरती रूप करने से होती है। धूपपूजा धूप को अग्नि में खेने से होती है। केला, बदाम आदि फलों की भेंट प्रभु के समक्ष चढ़ाने से फल पूजा होती है। जल फलादि अष्ट द्रव्य स्वस्तिक सरसों आदि मंगलिक द्रव्यों के साथ अर्घ को उतारना चाहिए। फिर पुष्पांजलि चढ़ाकर शांति धारा चढ़ाना चाहिए। यह पूजा विधि का क्रम है।

अर्थ:—फिर शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिये क्योंकि कायोत्सर्ग ही आत्मा के ध्यान का और मोक्ष का साधन है।

अर्थ:—फिर श्रीजिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तोत्रपाठ करे और मंत्रराज की जाप देवे ।

पश्चात्स्तोत्रं जिनेन्द्रस्य पठनीयं ततः खलु। कर्त्तव्यं मंत्रराजस्य जाप्यं ध्यानंच सिद्धये ॥ 156 ॥

कर्त्तव्यः शास्त्रस्वाध्यायः मनोरोधाय केवलं। स्वाध्यायसमं धर्मं हि न परं गृहमेधिनाम् ॥ 157 ॥

इत्यादिशुभकर्माणि कर्तव्यानि जिनास्पदे। नदन्नातोद्यसंयुक्ते भव्यनरालिसंभृते ॥ 158 ॥

गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्यान्हे समये वरे। कर्तव्यं भोजनं शुद्धं त्रिशुद्धया दोषवर्जितम् ॥ 159 ॥

शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं व्रताप्तये । नैव गृह्णंति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः ॥ 160 ॥

कृत्वैव शोभनं न्यादमंतरायविवर्जितम्। एकवारंच तत्रैव स्थाने मोक्षपदाप्तये ॥ 161 ॥

प्रत्याख्यानस्य विधिना वेदाहारस्य तत्र हि। प्रत्याख्यानं च कर्त्तव्यं कर्मसंतानहानये ॥ 162 ॥

निरारंभं प्रकर्तव्यं प्रोषधं मदवर्जितम्। एवंच क्रियमाणेहि प्रोषधः कर्मनाशकः ॥ 163 ॥

अनेन विधिना कार्याः प्रोषधाः कर्मघातनाः । एवं सर्वेषु कर्तव्यः पूजनादिविधिः खलु ॥ 164 ॥

अर्थ—पीछे पूजा करने के बाद शास्त्रों का स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिये करना चाहिये। स्वाध्याय से मन का निरोध होता है इसलिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है।

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओं को जिनमंदिरजी में करे तथा बाजे–गाजे के साथ करे।

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्र को भोजन कराकर मध्याह्न समय में शुद्ध भोजन एक बार ही (ठाम आहार पानी) मन, वचन, काय की शुद्धि से करना चाहिये।

भोजनशुद्धि–भोजन उच्चकुलीन का ही हो। स्नानादि पवित्र विधि से समस्त द्रव्यों की शुद्धता से ही उत्पन्न हुआ हो। चौका की विधि और खाद्य पदार्थों की मर्यादा आगम विधि से की हो। शूद्र के हाथ का जल घृत और आटा आदि नहीं हो। क्योंकि शूद्र संस्कार और क्रिया विहीन होने से उसके हाथ का जलादिक ग्रहण करने योग्य नहीं है फिर भी कोई ग्रहण करे तो व्रतभंग समझना चाहिये। या वह स्वयं शूद्र के समान ही है। भोजन अंतराय रहित करना चाहिये। भोजन होने के पश्चात् चार प्रकार के आहार का परित्याग करे। इस प्रकार भोजन का प्रत्याख्यान कर्मों का नाश करने वाला है।

सर्वं च प्रोषधा भूप शतैकपंचषट्प्रमा:। अस्य स्यु: कर्मनाशार्थं कर्तव्या: शुद्धितस्त्रिधा॥ 165 ॥
प्रोषधैकं प्रति जाप्यं तत्कर्मैव नामत: खलु। करणीयं तद्विनाशार्थं चाष्टोत्तरशतप्रमम् ॥ 166 ॥
दत्वा ह्येकाय पात्राय न्यादं च धर्मिणे शुभम्। पूर्वं पश्चाद्धि कर्तव्यं सर्वेष्वेवं विधि: खलु ॥ 167 ॥
विकथां च गृहारंभ वामात्यागं स्वमंडनम् । तल्पे च शयनं शोकं वृथाटनं मदाष्टकम् ॥ 168 ॥
पैशून्यं परनिंदां च परवामेक्षणं तथा। रागोद्रेकाद्य हास्यं वा रतिं चैवारतिं तथा ॥ 169 ॥
कुभाव चैव दुर्ध्यानं भोगाभिलाषमेवच । पंत्र शाकमशुद्धं च दधिदुग्धंच वा घृतम् ॥ 170 ॥
व्रतिभिर्मोचनीयाश्च व्रते चास्मिन् व्रताप्तये। इत्याद्या दोषनिकरा: संसारदु:खदायका: ॥ 171 ॥
केशरिभयतो यद्वत् गजवृन्दा महोन्नता: । पलायंत्येव तद्वद्धि कर्मेभा व्रतसिंहत: ॥ 172 ॥
कर्मदहनव्रतो भो मत: सकलव्रतेषु मुख्योयं। जिनसिद्धांते ह्यत: स्यात् सार्थनामत: ॥ 173 ॥

अर्थ—प्रोषध के दिवस आरंभ नहीं करना चाहिये। आठ प्रकार के अभिमानों का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार की विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोषधोपवास में करता है उसके कर्मों का नाश होता है। प्रत्येक प्रोषधोपवास के दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोषधोपवास हो उस प्रकृति के नाश के लिये) प्रकृति के अनुसार जाप देवे ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरण कर्म नाशाय नम:, ॐ ह्रीं श्रुत ज्ञानावरण कर्मनाशाय नम: इत्यादि प्रकार से जाप देवे। एक पात्र को आहार देकर फिर आप आहार करे। विकथा और आरंभ का परित्याग करे। स्त्री सेवन का परित्याग करे, शरीर संस्कार का परित्याग करे, खाटपर शयन का परित्याग करे, शोक-अभिमान और व्यर्थ का पर्यटन का परित्याग करे। दूसरों की निंदा करना, हँसना, दूसरों की स्त्री के मनोहर अंगों को देखना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दु:परिणामों का त्याग करना। अशुद्ध दूध, दही, घृत आदि पदार्थ का त्याग करना। इत्यादि उत्तम आचरणों के साथ इस व्रत का पालन करे।

अर्थ:—व्रती पुरुषों को व्रत की शुद्धि के लिये उपर्युक्त दोषों का परित्याग करना चाहिये ।

अर्थ:—जिस प्रकार सिंह को देखते गज पलायमान हो जाते हैं वैसे ही इस व्रत से कर्म रूपी गज पलायमान हो जाते हैं। यह व्रत समस्त व्रतों में मुख्य है। जिन सिद्धांत में इसको मुख्य व्रत बतलाया है। इसीलिये इसका नाम भी सार्थक है।

पूर्वघस्रस्य मध्यान्हे कर्तव्यं भोजनं सदा। द्वितीये वासरे चैवानशनं करणीयकम् ॥ 174 ॥

तृतीयस्य दिनस्यैव मध्यान्हसमये वरे। पारणं करणीयं च कर्मसतानहानये ॥ 175 ॥

सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं सर्वकर्मारिघातकः। कथितश्चागमे शुद्धे भूप नैवात्र संशयः ॥ 176 ॥

सर्वोत्कृष्टफलं वक्ष्ये भाविजं चेलनाप्रिय। करिष्यति व्रतं शुद्धं प्रापयिष्यति स शिवं ॥ 177 ॥

कर्मदहनव्रतस्य फलं श्रृणु समाधिना। श्रवणाच्च यत्सर्वोहाः प्रलयं यांति देहिनाम् ॥ 178 ॥

अनेन विधिना कृत्वा यः कश्चिदिह जन्मनि। समाधिना पुनः स्वस्य मरणं शल्यवर्जितम् ॥ 179 ॥

प्राप्स्यति कां गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यहं। द्वादशानां गणानां तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ 180 ॥

विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तूर्यकालेन भूषिते। हासवृद्धिविनिर्मुक्ते ईतिभीत्यादिवर्जिते ॥ 181 ॥

वैदेहाः मुनयो यत्र भवंत्यनेकशोनिशं। रत्नत्रयतपोध्यानैः स सार्थनामभृत् ह्यतः ॥ 182 ॥

जिनेन्द्रा जितमार्तंडाः चक्रांकाः पुरुषोत्तमाः । षट्खंडपालने दक्षाः कामरूपधरा वराः 183 ॥

विष्णवो बलदेवाद्याः तत्द्विषः शर्ममंडिताः । इत्याद्या यत्र भांतिस्म सदा सर्वत्र विश्रुताः ॥ 184 ॥

व्रत के धारणा पारणा के दिवस एक बार भोजन करे। वह भी मध्याह्न समय में ही करे। यह व्रत की सर्वोत्कृष्ट विधि बतलाई है। मध्यम और जघन्य विधि से भी यह व्रत किया जाता है। इस व्रत का सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष की प्राप्ति है। जो मनुष्य इस व्रत को पालनकर समाधिमरण पूर्वक देह का विसर्जन करे तो उत्तम सुख को प्राप्त होता है। इस व्रत का ऐसा ही माहात्म्य है।

जो भव्य जीव इस व्रत को भावों से करते हैं वे विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। विदेह क्षेत्र में सदैव चौथा काल ही रहता है। काल का परिवर्तन नहीं होता है। विदेह में ईति भीति इत्यादि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है। जहां पर सदैव दिगंबर जैन मुनियों का निंरतर दर्शन होता है। जहां तीर्थंकर प्रभु सदैव अवतार लेते हैं व शाश्वत बने रहते हैं। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य पुरुष भी सदैव होते रहते हैं।

प्रवर्तते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामतः । त्रयो वर्णाश्च विद्यंते मिथ्यामार्गपरांमुखाः ॥ 185 ॥
सदा यांत्येव मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेश्वराः । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृंदांकितेऽक्षये ॥ 186 ॥
पाखंडाः तत्र नो संति कुदेवा दोषमंडिताः । तन्मंदिरा हि नो संति तेषांच सेवकास्तथा ॥ 187 ॥
नो संति द्रव्यतस्तत्र मिथ्यादृग्धारका नृप । भावतः केचन संति नराः तद्धारकाः खलु ॥ 188 ॥
यत्र नराश्च शोभंते रवितेजःसमाः शुभाः । शीलरत्नधरा वृद्धाः कलाकलापमंडिताः ॥ 189 ॥
चंद्रकोटिप्रभायुष्काः चापपंचशतोन्नताः पुत्रपौत्रादिसंपन्ना धनवृंदभरा वराः ॥ 190 ॥
आमृत्यु शर्ममग्नाश्च दुखशोकविवर्जिताः । दानपूजादिकार्येषु सदा तत्पथरमानसाः ॥ 191 ॥
ईदृशा यत्र राजंते नार्योपि मगधेश्वर । शीलव्रतधराः शुभ्रा जिनेज्यारतमानसाः ॥ 192 ॥

विदेह क्षेत्र में जैनधर्म सिवाय अन्य धर्म सर्वथा नहीं है जैन मत सिवाय अन्य कोई भी मत किसी काल में कभी भी वहां पर उदय नहीं होता है। न अन्यमत के धारक मनुष्य ही वहां पर उत्पन्न होते हैं। वहां पर सबको व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति स्वभावरूप से होती है। इसीलिये सर्वत्र जिनायतन—जिन चैत्य जिन चैत्यालय-और जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलते हैं।

वहां पर मिथ्यामत के मंदिर-चैत्य और पाखंडी गुरु भी नहीं हैं, न कुशास्त्रों का सद्भाव वहां पर है। कोई भी मनुष्य कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और कुधर्म को नहीं जानता है। न षट् अनायतन वहां पर हैं। उसी प्रकार मिथ्यामार्ग रूप-गंगादिनदी प्रवाह में स्नान कर लोग धर्म नहीं मानते हैं। तथा अग्नि में जलकर सती वहां पर नहीं होती हैं। वहां पर कुतीर्थ नहीं हैं। वहां पर द्रव्य मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव है। इसीलिये वहां पर ब्राह्मण नहीं होते हैं। हां भाव मिथ्यात्व के धारक कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं।

वहां पर शीलव्रत धर्म के प्रतिपालक भव्य भावों से संपन्न सुख में निमग्न पुत्र पौत्रादिसहित परम सुखी मनुष्य होते हैं। एक कोटि पूर्व की आयु और पांच सौ धनुष का शरीर होता है।

देशे देशे पुरे ग्रामे भूद्रे द्रोणे च कर्वटे। पत्तने विपिने खेटे नद्याः कूले मनोहरे ॥ 193 ॥

इत्याद्यन्यशुभे स्थाने संति सर्वत्र सुंदराः। जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहराः ॥ 194 ॥

स्मशानाद्रिगुहायां च दिशावासोविमंडिताः। मुनीन्द्रा यत्र कुर्वंति स्वात्मध्यानं शिवाप्तये ॥ 195 ॥

यत्र ये श्रावकाः नार्यः स्पस्वरगृहेषु भावतः। जिनबिंबस्य नित्यं हि सर्वपापप्रशांतये ॥ 196 ॥

पंचामृतरसैः शुद्धैरभिषेकं ततः परम्। कुर्वंति पूजनं द्रव्यैर्वसुभेदैर्मनोहरैः ॥ 197 ॥

नृत्यं गानं जिनाग्रेच रात्रौ जागरणं तथा। वाद्यघोषं प्रकुर्वंति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ 198 ॥

मध्यान्हसमये नित्य द्वारस्थानेषु च पुनः। तिष्ठंति पात्रदानार्थं स्वव्रतपालने रताः ॥ 199 ॥

मुनीन्द्रापि तदागत्य तेषां सद्मनि भोजनं। कृत्वा सुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयांतिच ॥ 200 ॥

तत्प्रभावात्प्रकुर्वंति तेषां गेहे सुराधिपाः । पंचाश्चर्यं सुदानस्य प्रभावात् किन्न जायते ॥ 201 ॥

आहारदानतो जीवाः भोगभूमौ व्रजंत्यहो । द्वित्रिचंद्रपल्यांते भुंजंत्येव वरं सुखम् ॥ 202 ॥

यस्माद्यांत्येव भूप भूप तिर्यंचोपि सुखास्पदे। दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणां च का कथा ॥ 203 ॥

अर्थः—वहां पर स्त्रियां भी शीलमंडित-भगवान की पूजा में लवलीन होती हैं। जहां पर देश-देश, ग्राम-ग्राम, पर्वत-पर्वत, नदीतीर खेट, द्रोण, शहर, जंगल आदि सभी प्रदेशों में सुंदर जिनालय होते हैं।

अर्थः— जिस क्षेत्र में दिगंबर जैन ऋषि गुहा, कंदर, श्मशान भूमि और सर्वत्र अपने ध्यान में लवलीन दृष्टिगत होते हैं।

अर्थः—विदेह क्षेत्र में सर्व स्त्री पुरुष (श्रावक-श्राविका) अपने अपने घर में (गृह चैत्यालय में) स्थित जिन चैत्यालयों में भावभक्ति से श्रीजिनेंद्र भगवान के मनोहर बिंबका शुद्ध पंचामृत रस से अभिषेक करते हैं। फिर अष्ट द्रव्य से पूजन करते हैं नृत्य गान वाद्यघोष आदि उत्तमोत्तम भक्तिभावनाओं के द्वारा रात्रि में जागरण कर धर्म लाभ प्राप्त करते हैं।

अपरं दानसदृश नो पुण्यं गृहमेधिनां । अतः पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जैमनं खलु ॥ 204 ॥

पात्रदानं न कुर्वीति ये गृहस्था मताश्च ते । विपुच्छपशुना तुल्याः स्वोदरभरणे रताः ॥ 205 ॥

पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नार्पितः खलु । स्वापतेयो गृहस्थानां तेषां तन्निःफलं मतम् ॥ 206 ॥

प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पंचभिश्चोत्तमै रसैः । कृत्वाभिषेकं पश्चाद्धि करणीयं च पूजनं ॥ 207 ॥

प्रातः जिनेन्द्रपूजां च पात्राय भोजनं तथा । न करोति ददात्येव गृहस्थः सन् स्वयं पुनः ॥ 208 ॥

भुंजत्येव मुनिश्चन्ने सदा दुःखं न संशयः । अतो द्वौ सर्वदा कार्यौ इज्यादानौ सुखाप्तये ॥ 209 ॥

अर्थ— सब दानों में आहार मुख्य और सर्वोत्कृष्ट है। मोक्ष मार्ग की स्थिरता इस दान से ही होती है। आहार दान का फल भी उत्तम है । इस दान के फल से जीव भोग भूमि में उत्पन्न होते हैं। जहां पर एक दो तीन पल्य के उत्तम सुख को प्राप्त करते हैं। यदि तिर्यंच भी पात्र दान की अनुमोदना करे तो भोग भूमि के उत्तम सुख को प्राप्त होता है फिर मनुष्य की क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही। गृहस्थों को पात्रदान का पुण्य महान होता है। इसलिये पात्र में आहार दान अवश्य ही देना चाहिये।

श्रावक श्राविका भी जघन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये। जो शक्तिशाली होकर पात्र में आहार दान नहीं देते हैं वे मनुष्य जन्म को व्यर्थ खो देते हैं। जिन मनुष्यों का धन पात्रदान में भगवान की पूजा में और जिनायतनों की रक्षा करने में व्यय नहीं होता है उस धन का प्राप्त करना निःफल है।

अर्थ:—प्रातःकाल पंचामृत रसों से श्री जिनेंद्र भगवान की प्रतिमा का अभिषेक और अष्ट द्रव्य से पूजन करना चाहिये। मध्यान्ह समय में पात्र को आहार दान करना चाहिये जो इस प्रकार पूजा और दान नहीं करता है वह अधोगति को जाने वाला है। पूजा और दान ये दोनों कर्म गृहस्थों के मुख्य कर्म हैं।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्र में गृहस्थ नित्य ही आवश्यक षट्क्रियाओं का पालन करते हैं। जिससे पापों की शांति होती है और पुण्य की वृद्धि होती है। गृहस्थों के दो धर्म मुख्य हैं। क्योंकि इनमें ही अभ्यंतर षट् कर्मों का समावेश हो जाता है। दान-पूजा ही ये दो मुख्य हैं। अरहंत भगवान ने इन दोनों को ही धर्म का मूल बतलाया है। इस प्रकार समस्त क्रियाओं को पालने वाले गृहस्थ विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। जहां पर अनेक ऋद्धियां स्वयमेव प्रकट होती हैं।

यत्र वर्षे गृहस्थास्ते नित्यं कुर्वंति षट्क्रियां। नित्यांहस्य शांत्यर्थं पुण्यवृंदस्य प्राप्तये ॥ 210 ॥
मूलधर्मो गृहस्थानां पूजादानौ जिनागमे। कथितौ वीतरागेण सर्वसंपत्तिकारकौ ॥ 211 ॥
ईदृशं शोभनं क्षेत्रं नानर्द्धिमंडितं च तं। स व्रती व्रतपुण्येन लभत्येव नरेश्वर ॥ 212 ॥
तीर्थनाथकुले तत्र चक्रनाथकुले तथा। विष्णोर्नानर्द्धिसंयुक्ते सुरवृंदनिषेविते ॥ 213 ॥
तेषां सद्रूपशोभाढ्ये स्त्रीरत्ने च गुणोज्वले। सम्यक्त्वेज्याव्रतोपेते स्वर्गाद्भवंच्युतोपमे ॥ 214 ॥
ईदृशे भूप तद्गर्भे अस्मान्मृत्वाच सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे घस्रे सुमुहूर्ते शुभोदयात् ॥ 215 ॥
सा वामा तं च गर्भस्थं धरिष्यत्यपि पुण्यभा। नो भजिष्यति तत् दुःखं गर्भस्यैव प्रभावतः ॥ 216 ॥
दानाभिषेकपूजां च जीवानामभयं तथा। इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिष्यति ॥ 217 ॥
सुखेन रंध्रमासांते सुतरत्नं मनोहरम्। जनिष्यत्येव सा नारी शुभयोगे शुभे दिने ॥ 218 ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्र में व्रती पुरुष तीर्थंकर कुल में चक्रवर्ती कुल में उत्पन्न होते हैं। नारायण होते हैं। देवों के द्वारा पूजित कुल में उत्पन्न होते हैं। वे पुण्य पुरुष उत्तम स्त्रियों के गर्भ में शुभ मुहुर्त में उत्पन्न होते हैं। वहां पर उनको बिलकुल पीड़ा नहीं होती है। गर्भ में भी वे सुख से रहते हैं।

अर्थ:—गर्भ में प्राप्त होने के समय माता जीवों को अभयदान करायेगी। नवमास सुख से व्यतीत होने पर वह माता सुतरत्न को उत्पन्न करेगी। पुत्र के जन्मकाल में पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्यों को धन, वस्त्र, भूषण प्रदान कर जगत को सुखी बनायेंगे। कारागृह से बंदिजनों को छोड़कर जीवों को संतोष देंगे और पुत्रजन्म की खुशी में श्री जिनेन्द्र भगवान के मंदिर में पंचामृत से अभिषेक व आठ द्रव्य से पूजन नित्य महोत्सव के साथ करायंगे। पश्चात् बालक (पुण्यात्मा- क्योंकि उस जीव ने कर्मदहन व्रत किया है।) के पुण्य मुख का दर्शन कर पिता हर्षित होगा। बालक क्रम से कुमार अवस्था को प्राप्त होगा। समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त होकर अपने तेज से सूर्य को, कांति से चंद्र को, गंभीरता से समुद्र को, लक्ष्मी से कुबेर को, शक्ति से सिंह को, रूप से कामदेव को जीतने वाला अनेक उत्तम गुणों से भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा। यह सब कर्मदहन व्रत का ही माहात्म्य है।

तदैव जन्मकाले च तस्य तातः प्रमोदतः। करिष्यत्येव आतोद्यं जन्मोत्सवं च मंगलैः ॥ 219 ॥
निःस्वेभ्यः रत्नस्वर्णं च वस्त्राभूषणमेव च। दास्यति चामयं दानं कारागारस्थदेहिनाम् ॥ 220 ॥
जिनेन्द्राणां निशांतेशु पंचामृतरसैर्वरैः । अभिषेकं जिनानां च कारयिष्यंति वार्चनां ॥ 221 ॥
पश्चात्पुत्रमुखाब्जं च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति। सोपि घस्रं प्रति वालो वर्द्धिष्यत्येव सुंदरः ॥ 222 ॥
कौमारकालमुल्लंघ्य पयःपानैः सुभोजनैः। क्रमेण यौवनं रूपं लप्स्यते च सुशोभनम् ॥ 223 ॥
दीप्त्या तर्जितमार्तंडः क्रांत्या निर्जितदीधितिः। गंभीरेण महत्वेन निर्जितः सरितांपतिः ॥ 224 ॥
सिक्थेन निर्जितः श्रीदः सारेण निर्जितो हरिः। रूपेण शंवरारिश्च पुण्यनाम्ना विभूषितः ॥ 225 ॥
इत्यादिगुणवारं च नेष्यत्येव शुभोदयात्। यौवने मदनोद्दीप्ते। वृद्धि वृत्तफलं इदम् ॥ 226 ॥
तत्पिता यौवनाढ्यं च दृष्ट्वा सूनुं गुणोज्वलं। गुणेन स्वात्मतुल्यं वा मुदमाप्स्यति भूमिराट् ॥ 227 ॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपांगजाः। महत्कुलोद्भवाः शुद्धाः रूपात्तर्जितअप्सराः ॥ 228 ॥
ईदृशाः सुंदराकाराः सुस्वनाशं प्रदापते। सुनवे यौवनाढ्याय नेत्रानंदकराय वै ॥ 229 ॥
नेष्यंति वाद्यघोषाद्यान् दानोत्करसुमंगलान्। कुर्वन् वै मंगलार्थं सज्ञनानंददायकान् ॥ 230 ॥
भोक्ष्यति सोपि पश्चाद्धि शर्मणां संततिं सदा। धर्मकार्यं पुरस्कृत्य व्रतफलेन भो नृप ॥ 231 ॥
तत्पित्ता स्वस्य पट्टे हि तं पुत्रं विधिपूर्वकं। स्थापयिष्यति स्वप्रजापालनार्थं सुरोपमं ॥ 232 ॥

अर्थ—उसका पिता बालक को यौवन अवस्था में देखकर अपनी जाति की उत्तम गुणवाली अपने समान ऋद्धि की धारक राजाओं की कन्याओं की याचना कर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा। वह बालक सधर्मिणी को प्राप्त कर पूर्व व्रत का पुण्यफल भोगेगा। पिता पुत्र को गृह का समस्त भार समर्पण कर भगवती दीक्षा धारण कर केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष में अव्यय सुख को प्राप्त करेगा।

पुरो बाह्यदने गत्वा ततः सोपि शिवाप्तये। गृहीत्वा संयमं शुद्धं गुरोः पार्श्वे मुनेर्मतम् ॥ 233 ॥

हत्वा सकलकर्मारीन् ध्यानाशुगेन सः मुनिः। संप्राप्य केवलज्ञानं लदैवेज्यां सुरैः कृतां ॥ 234 ॥

पश्चात् संबोध्य भव्यौघान् यास्यति चाव्यये पदे। सुखासुखविनिःक्रांते वृषार्त्कि दुर्लभं नृणां ॥ 235 ॥

सोपि तातपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधीः। पालयन् स्वप्रजां सर्वां स्थास्यत्येव निरंकुशः ॥ 236 ॥

शुद्धदृग्धारको वाग्मी दाता भोक्ताच सव्रतः। त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ 237 ॥

करिष्यति जिनेंद्रस्य स्नानेज्यां शुद्धभावतः। पात्राय विधिना दानं दास्यति वासरं प्रति ॥ 238 ॥

[1]वह राजकुमार राजा होकर प्रजा का न्याय मार्ग से पालन करेगा। वह शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला त्रिवर्ग को परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ व्रत के पुण्य फल से सर्वोत्तम सुखों को शांति और निराकुलता के साथ निर्विघ्न भोगेगा।

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेह में-भगवान की पूजा-भक्ति-स्तवन-गुणस्मरण आदि के द्वारा धर्म के माहात्म्य को बढ़ायेगा। अपने कर्तव्य को राजा होकर भी परम भक्ति भावना से करेगा। नित्य सुपात्र में दान देगा जिनवाणी का पठन पाठन करेगा और गुरु के मुख से शास्त्रों का श्रवण करेगा। शास्त्र गुरु के मुख से ही श्रवण करना चाहिये। वह राजा सबसे प्रथम दिवस संबंधी अपने धार्मिक कृत्यों को कर लेगा। पीछे से राज्यकार्य और कार्य करेगा। यही धर्म की महिमा है।

1—इस प्रकरण में विवाह विधि विदेह क्षेत्र में भी आगम की मर्यादा से बतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति-कुजाति योग्य-अयोग्य नीच-ऊंच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवे। ऐसे करना मर्यादा के बाहर है।

विवाह धर्म का अंग है उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीति से संपादन करते हैं। इसमें बालक-बालिकाओं को स्वतंत्रता नहीं है।

नित्यपापविघाताय निर्णयाय चिदात्मनः। सिद्धांतानां शिवाप्त्यर्थं श्रवणं मुनिवक्त्रतः ॥ 239 ॥
धर्मकार्यं नृपः सोपि पूर्वं कृत्वाघहानये। अन्यत् कार्यं गृहोत्पन्नं पश्चादेव करिष्यति ॥ 240 ॥
स्थितेषु जिनधर्मे च वात्सल्यं धर्मसिद्धये। करिष्यत्येव भूपेंद्रो नृषु न्यादादिभिः सदा ॥ 241 ॥
जिनधर्मस्थितेषु वै यो नानैन प्रकुर्वते। वात्स'ल्यं स मतः शास्त्रे जिनधर्मपरान्मुखः ॥ 242 ॥
भो बुधाः सर्वदा श्रीमज्जिनधर्मस्थितेषु वै। कुर्वीध्वं सर्वजीवेषु वात्सल्यं जेमनादिभिः ॥ 243 ॥
वात्सल्यात् बंधयत्येव तीर्थकरस्य कायवान् गोत्रं शिवप्रदं नूनं सर्वाधिपनमस्कृतम् ॥ 244 ॥
सभामध्ये वरे सिंहपाठे स्थित्वा च स नृपः। स्वस्याज्ञापालकान् भूपान् दास्यत्येव सदा खलु ॥ 245 ॥
धर्मोपदेशं भो भूपाः शृणुध्वं कथयाम्यहं। यस्यैव श्रवणात्सर्वे यांत्येव नाशतां खलु ॥ 246 ॥

धर्म-अर्थ- और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थ को निराकुल भावों से निर्विघ्न करना चाहिये। पीछे से काम और अर्थ पुरुषार्थ को साध्य करना चाहिये। तो ही नीतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते हैं। जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये धर्म पुरुषार्थ को छोड़ देते हैं वे नीति का परित्याग कर देते हैं।

यह राजा साधर्मी भाइयों को भोजन पान के द्वारा वात्सल्य अंग की वृद्धि कर जिनधर्म के प्रतिपालक साधर्मी भाइयों का भोजन पान आदि के द्वारा सत्कार करेगा। जो भाई अपनी शक्ति को छिपाकर साधर्मी भाइयों का आदर सत्कार नहीं करता है वह जिन धर्म के तत्वों की जानकारी से बहिर्भूत है।

1—धर्म के अंग अनेक होते हैं। उनमें से गृहस्थों के लिए वात्सल्य अंग विशेष उपयोगी और परमावश्यक है। वात्सल्य अंग का अर्थ—अपने साधर्मी भाइयों को भक्ति-भावना से भोजन कराना, पंचायत को निमंत्रण कर प्रीतिभोज देना, साधर्मी भाइयों को मेला प्रतिष्ठा आदि अवसर के निमित्त से भक्ति पूर्वक भोजनादिक के द्वारा सत्कार करना। समय समय पर साधर्मी भाइयों को भोजन कराना। विवाह नाम संस्कार-उपनयन संस्कार (जनेऊ) और व्रत अनुष्ठान के समय साधर्मी भाइयों को (पंचायत) भोजन कराना वात्सल्य अंग है। परस्पर प्रेम भावना और धर्म में अनुराग इस अंग से ही होता है। सर्व श्रावकाचारों में भी इसी को वात्सल्य अंग माना है। जो मनुष्य पंचायत भोजन को या मेला प्रतिष्ठा में आहार दान का निषेध बतलाते हैं-फिजूल खर्च बतलाते हैं वे धर्म के माहात्म्य को जानते ही नहीं हैं। वे स्वयं दरिद्र हैं। कभी भी उनको वात्सल्य अंग पालन करने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये ऐसे सुधारक ही जघन्य पात्रदान की महिमा को नहीं जानते हैं। परंतु आचार्यों ने मेला प्रतिष्ठादि में आहार दान देने से तीर्थंकर गोत्र का पुण्य बतलाया है।

गृहस्थानां च सिद्धांते जिनेन्द्रै:केवलेक्षणै: । प्रथमं शुद्धसम्यक्त्वो मतो हि नात्र संशय: ॥ 247 ॥
सर्वदोषविनिष्क्रांतो देवो जिनैव निश्चयात् । सर्वद्वंद्वविहीनो य: गुरु: सैव जिनागमे ॥ 248 ॥
जिनाननसमुद्भूता वाणी संसारतापहा । सा स्यात् गणेन्द्रलेखौघै: सदा वंद्या च तारका ॥ 249 ॥
एतेषां यत्र श्रद्धानं भवेत्तत्रैव भूमिपा: । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य प्राप्तिर्नास्त्यत्र संशय: ॥ 250 ॥
आत्मनो गुणव्यूहस्य निश्चयो यत्र संभवे । तत्रैवोत्पत्ति: भूपाला जायते तस्य निश्चयात् ॥ 251 ॥

जिन धर्म का एक मुख्य अंग यह भी है कि साधर्मी भाइयों का भोजन पान आदि सब प्रकार से आदर-सत्कार करें। जो इस प्रकार का विशुद्ध वात्सल्य अंग का पालन करता है वह निश्चय से तीर्थंकर गोत्र का बंध करता है- उसके पुण्य की महिमा अनंत है।

अर्थ:—वह राजा सभा में दिव्य सिंहासन पर विराजमान होकर अपनी आज्ञा के प्रतिपालक राजाओं को धर्मोपदेश करेगा। हे राजन् ! गृहस्थों का कर्तव्य और धर्माचरण का स्वरूप मैं जिनागम से कहता हूं सो उसको सावधान मन से सुनिये। भगवान केवलज्ञानी सकल चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले अरहंत प्रभु ने बतलाया है कि गृहस्थों को सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनी चाहिये। निर्मल सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करनी चाहिये। निर्मल सम्यग्दर्शन के पालन करने से गृहस्थों का धर्माचरण सांगोपांग पालन होता है। समस्त प्रकार के दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अरहंत प्रभु को देव मानना। समस्त प्रकार परिग्रह से रहित परम दिगंबर और राग द्वेष से विनिर्मुक्त गुरुओं को गुरु मानना तथा श्री सर्वज्ञ अरहंत भगवान के मुख कमल से प्रकाशित जिनवाणी को तत्व का उपदेश करने वाली संसार समुद्र से तारने वाली मानना। इस प्रकार देव, गुरु और जिनवाणी का अविचल श्रद्धान करना। किसी प्रकार भय आशा और लोभ के वश से भी अन्यथा नहीं मानना, सो सम्यग्दर्शन है।

जिन गृहस्थों को ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको धर्म की प्राप्ति हो जाती है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना धर्मरत्न की प्राप्ति नहीं होती है।

अर्थ—हे राजन् ! अथवा आत्मा के समस्त गुणों का जिस भव्य जीव को दृढ निश्चय हो जाता है वहां पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

हृदि यस्यैव सर्वेषु भूतेषु स्वात्मतुल्यता। तस्य संजायते भूपा: शुद्ध: स कर्मनाशद: ॥ 252 ॥

सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्दशधा कथिता जिनै:। सिद्धांते दोषनिर्मुक्ते सर्वपापविवर्जिते ॥ 253 ॥

इत्याद्या: कथिता: भेदा ये ते हि कर्मभंजका:। व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ 254 ॥

अर्थ— हे राजन् जिस भव्य जीव के निष्कपट भावों से स्वार्थ इच्छा और किसी भी प्रयोजन के बिना स्वाभाविक आत्म परिणामों की विशुद्धि से समस्त जीवों में अपनी आत्मा के समान जीवात्माओं का श्रद्धान होता है उसके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो समस्त जीवों में समता भाव को आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है। जो परलोक की सत्ता को स्वीकार कर जीवों का अस्तित्व परिणमन आदि का श्रद्धान कर अपने स्वरूप के समान समस्त छोटे-बड़े, निर्बल और शक्तिशाली, पापी और पुण्यात्मा जीवों को मानता है उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

अर्थ:—सम्यग्दर्शन के आज्ञा मार्ग समुद्भवादि दश भेद समस्त प्रकार के दोष रहित जिनागम में बतलाये हैं। सम्यग्दर्शन के मुख्य दो भेद हैं- निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शन के बतलाये हैं।

अर्थ:—उपर्युक्त भेद प्रभेद सब निश्चय सम्यग्दर्शन के हैं और ये निश्चय नय के अवलंबन से बतलाये हैं। अब व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन के लक्षण बतलाते हैं।

यद्यपि जीवों को निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति हो जाना ही मोक्ष मार्ग में कार्यकारी है। जिन जीवों के निश्चय सम्यग्दर्शन है उनके व्यवहार सम्यग्दर्शन है ही। परंतु व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्रतीति बिना बाह्य में वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण आदि अंगों का पालन नहीं हो सकता। इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरु का दृढ़ श्रद्धान है और जिसके बाह्य आचरण जिनागम की मर्यादा के अनुकूल है जिसके विचार जिनागम से विरुद्ध नहीं हैं और जो जिनागम के अनुकूल तर्क को रखकर पदार्थों का स्वरूप जानता है उसी भव्य जीव के निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे भव्य जीव जिनागम विरुद्ध एक अक्षर भी सुनने को राजी नहीं होते हैं और न जिनागम के विरुद्ध अपने ज्ञान वैभव का उपयोग करते हैं।

ज्ञेया ह्येते च भेदा भो निश्चयस्यैव चागमात्। वक्ष्यहं लक्षणान् तस्य व्यवहारनयस्य वै ॥ 255 ॥

अष्टौ मदा भयाः सप्तप्रभा नानार्थनाशकाः। शल्यानि व्यसनान्येव दोषाष्टौ मांसजाः सदा ॥ 256 ॥

सर्वदोषप्रदा हेयाः दोषहीनाष्ट नामतः। मूलभूता गृहस्थानां यतो मूलगुणा मताः ॥ 257 ॥

संवेगाद्या गुणा ह्यष्टौ अतीवाराश्च पंच वै। त्रयो मूढाः सदा हेयाः कषाया वेदना मताः ॥ 258 ॥

पंचदश प्रमादाश्चानर्थदंडाश्च पंच वै। द्वादशाश्चाविरतयः भवसंततिदायकाः ॥ 259 ॥

भव्य को जिनागम में न शंका है न जिनागम की परीक्षा अपने मनोनीत भावों से कुत्सित तर्क के द्वारा वह करता है किंतु पदार्थों का निर्णय आगम को सत्य और प्रामाणिक समझकर शुद्ध बुद्धि से करता है।

अर्थ:—आठ मद (ज्ञानमंद-पूज्यपने का मद-कुलका मद-जाति का मद-बलका मद-ऐश्वर्य का मद-तप का और शरीर की सुंदरता का मद) का त्याग करना। सात भयों का परित्याग करना।

तीन प्रकार की शल्य-(माया मिथ्या निदान) का परित्याग करना। सात व्यसनों का परित्याग करना (जूआ खेलना-मांस का भक्षण-मदिरापान-वेश्यागमन करना-शिकार खेलना-चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन हैं। इनका सेवन करने से सम्यग्दर्शन नष्ट होता है।) और आठ मांस के दोषों का त्याग करना।

उक्त समस्त दोषों को छोड़ देने से सम्यग्दर्शन निर्मल प्रकार से पालन होता है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये पचीस दोषों का परित्याग करना चाहिये।

मद्य-मांस-मधु और पांच उदंबर फलों का परित्याग करना सो श्रावक के आठ मूल गुण हैं। इन मूलगुणों का परिपालन नहीं करने से सम्यकत्व में घात होता है। संवेग-अनुकंपा प्रशम आदि गुणों का पालन करने से भी सम्यग्दर्शन की व्यक्तता होती है। तीन मूढता-षट अनायतन-कषाय-वेदना-प्रमाद-अनर्थदंड-अविरति रागद्वेष मोह का परित्याग यथाशक्ति से करना चाहिये। दूसरों की निंदा करना छोड़ देना चाहिये। मिथ्यात्व मार्ग तथा मिथ्यात्व के सेवन करने वालों की प्रशंसा आदि का त्याग करना भी उचित है। इस प्रकार दोषों का परित्याग कर देने से अतिशय विशुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन होता है।

रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परस्य च। मिथ्यात्वरक्तसेवाच तद्धनस्यैव भक्षणः ॥ 260 ॥

भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्नतिः। आशया वा तथा तेषां संगमः दोषवर्द्धकः ॥ 261 ॥

इमे दोषाः सदा त्याज्याः सम्यग्दृग्धारिभिः खलु। व्यवहारनयस्यैव पालकैः तद्धि प्राप्तैः ॥ 262 ॥

आगमे जिननाथेन स मतो व्यवहारतः। एतेषां सद्गुणानां च पालको यो न संशयः ॥ 263 ॥

अस्यापि भो नृप भेदाः कथिताश्च जिनेश्वरैः शृणुथ हेकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यहं ॥ 264 ॥

उक्तदोषान् न्येजत् योवै स लभेत् व्यवहारतः। सम्यक्तोत्कृष्टसंपत्तिं सूर्यजन्मनि वै शिवं ॥ 265 ॥

अस्यैव पालको मर्त्यः चान्योति निश्चयाच्च सः। भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ 266 ॥

सप्तैव व्यसनान्येव मदाष्टौ वा गुणाः वराः। एतेषां त्यजनेनैव मध्यमः सोत्र कथ्यते ॥ 267 ॥

अष्टौ मूलगुणान् शुद्धान पालयति तदाप्तये। मुंचति व्यसनान्येव सप्तैव यो नरोत्तमः ॥ 268 ॥

भय-स्नेह- और आशा से कुमार्ग का सेवन नहीं करना चाहिये। तथा कुमार्ग सेवन करने वालों की कभी भी प्रशंसा नहीं करना चाहिये। मिथ्यात्व के सेवन करने से आत्मा का हित होगा ऐसा नहीं मानना चाहिये। मिथ्यामार्ग गामी पुरुषों को प्रणाम-विनय- नहीं करना चाहिये।

व्यवहार सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधि से अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करते हैं।

जिनेन्द्र भगवान के परमागम में इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है।

अर्थ—हे राजन् व्यवहार सम्यग्दर्शन के भेदों का और भी विशेष खुलासा कहता हूँ सो सुनो - जो भव्य उपर्युक्त दोषों का परित्याग करता है उसके व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शन से चौथे ही भव में मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। अथवा जैसे-जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती जाती है और जैसे-जैसे उपर्युक्त दोषों का परित्याग बढ़ता जाता है वैसे ही भवावलिका अंत होता जाता है। अधिक से अधिक दश बारह भव में वह जीव मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन की विशुद्धि उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य भेद से मानी है। उत्कृष्ट विशुद्धि का स्वरूप ऊपर बतला दिया है।

लभते सैव भो भव्या: कर्मसंताननाशकम् । जघन्याख्यं च सम्यक्त्वं ह्यनुक्रमात् शिवास्पदं ॥ 269 ॥

सम्यक्त्वेन बिना सर्वं दानेज्याव्रतसत्क्रिया: । नि:फला: जिननाथेन कथिता: ह्यागमे बुधा: ॥ 270 ॥

सम्यक्त्वेन समं बालो श्वभ्रेऽपि भो बुधोत्तमा: । वरं मतं बुधै: किंच वक्ष्यैहं तस्य कारणं ॥ 271 ॥

शुद्धदृग्धारका: तेहि अत्रागत्यैव तत्रत: । तीर्थंकरा: भवंत्येव कल्याणै: पंचभिर्युता: ॥ 272 ॥

निर्लिपाधिपसंसेव्या: ह्यनंतसारमंडिता: । त्रिज्ञानान्वितसद्गात्रा अनौपमविराजिता: ॥ 273 ॥

तदृते नो वरं नाकवासोपि संपदायुत: । अनेकमहिमोपेत: सदा शर्मण संभूत: ॥ 274 ॥

तेऽमरा तद्धीना: तस्मात् स्थावरादिकुयोनिषु । च्युत्वा भ्रमंत्यहो नाकात् कालानंतप्रमं खलु ॥ 275 ॥

मध्यम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि-जो भव्य जीव पचीस दोष रहित आठ मूलगुण सहित सप्त व्यसनों का त्याग कर सम्यग्दर्शन का पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।

जघन्य सम्यग्दर्शन की विशुद्धि-जो भव्य जीव आठ मूल गुणों के साथ सप्त व्यसनों का परित्याग कर सम्यग्दर्शन का पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है। इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन का पालन करता है उसको मोक्षपद शीघ्र ही प्राप्त होता है। परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से तद्भव में ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान पूजा आदि समस्त क्रियाएं व्यर्थ हैं। योग्य फल को प्रदान नहीं कर सकती। ऐसा जिनागम में परम भट्टारक अरहंत देव ने कहा है।

सम्यग्दर्शन के सहित नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के बिना स्वर्ग में वास भी अतिशय दु:खदायी है। इसका कारण यह है सो सुनिये।

अर्थ:—नरक से निकलकर सम्यग्दृष्टि जीव पंच कल्याण की महिमा को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव होते हैं। इसलिये भवावलिका नाश बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होता है।

अर्थ:—तीर्थंकर परमदेव देवगणों से पूजित अनंत गुणों से विभूषित और जन्म से तीन ज्ञानकर मंडित सुंदर शरीर वाले होते हैं। यह सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।

निमेषमात्रकालेपि यस्यैव चित्तशुद्धिता। जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव संभवेत् बुधाः ॥ 276 ॥

मतिहीनाश्च ये मर्त्याः शुद्धश्रद्धाप्रपालकाः। तेप्याशु प्राप्य संबोधं गताश्च परमं पदं ॥ 277 ॥

तिर्यंचयोनिषु चैव कुदेवेषु कुभूमिषु। कुमर्त्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारकः ॥ 278 ॥

अंधो भवति नो कुब्जः क्लबो दारिद्रमंडितः। विपुत्रः शोकसंयुक्तो भोगोपभोगवर्जितः ॥ 279 ॥

परसेवाकरः क्रूरो निर्दयः शीलवर्जितः। दानेज्याव्रतसंहीनः परवंचनचातुरः ॥ 280 ॥

जानीथ भूमिपा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदां। महिमां च इमां वंद्यां गृहस्थैर्वा मुनीश्वरैः ॥ 281 ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन के बिना विविध ऋद्धियों से सुसंपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकार के सुखों के भोक्ता होने पर भी ऐसे स्वर्ग में वास करना अच्छा नहीं है। क्योंकि आयु के पूर्ण होने पर यह जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से देव पर्याय का परित्याग कर थावर काय में उत्पन्न होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन के बिना जीव को देवपर्याय के बाद अनंत संसार ही है।

अर्थः—जिन भव्य जीवों को अपनी पर्याय में एक निमेष मात्र परिणामों की विशुद्धि हो जावे तो उसी समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि कुछ भी पढ़ा लिखा न होवे तो देव, शास्त्र और गुरु की दृढ श्रद्धा से शीघ्र ही बोध को प्राप्त होकर परमपद को प्राप्त होता है।

भावार्थः—पढ़े लिखे मनुष्यों को ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं है। किंतु जिन भव्य जीवों के आचरण शुद्ध हैं चित्तवृत्ति विशुद्ध है उनके परिणाम विशुद्ध हैं उनको ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच योनि में कुदेव-कुभूमि में कुत्सित मनुष्य पर्याय में उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा सम्यग्दृष्टि जीव अंधे कुब्जे-नपुंसक-दरिद्री पुत्रविहीन शोकसहित-भोगोपभोग रहित-दूसरों की सेवा करने वाले-क्रूर निर्दय-शीलरहित दान पूजा व्रतविहीन-दूसरे जीवों को ठगने में चतुर और निंद्य नहीं होते हैं। यह सब कुछ महिमा सम्यग्दर्शन की है। जगत में जितने सुख के साधन हैं वे सब सम्यग्दृष्टि जीव को स्वय मेव प्राप्त हो जाते हैं।

कुर्वीध्व धारणं चित्ते आदौ सद्व्रतसिद्धये। सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य विधिदावाग्नितोयदं ॥ 282 ॥

नित्यांहस्यैव नाशार्थं षट्क्रियां वासरं प्रति। कुरुध्वं शिवशर्माय अभिषेकादिनामतः ॥ 283 ॥

षट्क्रियां नैव कुर्वंति ये गृहस्था मता न ते। पशुतुल्या बुधैः भूपाश्चागमे पापकार्यतः ॥ 284 ॥

अतो भो भूमिपाः पूर्वं कृत्वा वै धर्मसाधनं। अन्यत् पश्चाद्धि कुर्वीध्वं गृहकार्यं सुखाप्तये ॥ 285 ॥

स्वापतेयस्य भो भूपाः क्षेत्रेषु सप्तसु सदा। व्ययं कुरुत शर्माप्त्यै माऽन्यत्कार्ये कदाप्यहो ॥ 286 ॥

गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वंति नो हि ये। स्वस्य द्रव्यस्य ते नूनं दैवतो वंचिताः खलाः ॥ 287 ॥

अर्थः—हे भव्य जीवों सम्यग्दर्शन को सबसे प्रथम अपने चित में धारण करिये। क्योंकि उससे ही उत्तम व्रतों की सिद्धि प्राप्त होगी। शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मरूपी दावाग्नि को नाश करने के लिये मेघ के समान है।

अर्थः—दैनिक होने वाले समस्त पापों की निवृत्ति के लिये षट् क्रियाओं को नित प्रतिदिन करना चाहिये। अभिषेक पूजन आदि क्रियाओं से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अर्थः—हे राजन्! जो गृहस्थ अपने षट् आवश्यक कर्मों को (देव-पूजा गुरु की उपासना स्वाध्याय संयम तप दान) नित्य नहीं करते हैं वे अपने कर्तव्य से रहित हैं। मनुष्य वही है जिसने अपने कर्तव्यों की सिद्धि की है कर्तव्यों की सिद्धि के बिना मनुष्य पशु के समान है। षट् आवश्यक कर्मों से पापों का नाश होता है और जिनके केवल पाप की ही प्रवृत्ति है वे पशु ही हैं।

अर्थः—इसलिये हे नृपतिगण! सबसे प्रथम अपने धर्म साधनों को नियम पूर्वक साधन करना चाहिये। पीछे आजीविकादि संबंधी आरंभ करना चाहिये। जो अपनी षट् आवश्यक क्रियाओं को पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्ग का साधन संपादन करता है।

हे राजगण हो! अपना धन सात क्षेत्रों में लगाओ। क्योंकि पाप कार्य से उत्पन्न हुआ धन यदि सप्तक्षेत्र में लगाया जाय तो वह धन पुण्योदय का कारण है। अन्य कार्य में व्यय करने से केवल पाप का ही कारण होता है। सात क्षेत्रों के नाम-जिनधर्म-जिनागम-जिनसंघ जिनचैत्य-जिनचैत्यालय-जिनक्षेत्र और जिन आयतन।

धर्ममर्थंच कामंच त्रिवर्गं यः पुमान् खलु। साधयत्येव स याति क्रमात् शिवपुरे वरे ॥ 288 ॥

अविराध्य धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभिः । सर्वे कार्याः सदाकाले शर्मसंततिदायकम् ॥ 289 ॥

दानेन दृश्यते पुण्यः दयाभावेन सत्तपः। आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपो नात्र संशयः ॥ 290 ॥

मुनये विधिना भूपा मध्यान्हे समये वरे। दत्वा न्यादं रसाढ्यं च करणीयं ततश्च तं ॥ 291 ॥

रोगग्रस्ताय संदेया भेषजा नित्यमेव हि । तस्यातंकविनाशार्थं दयाव्रतविशुद्धये ॥ 292 ॥

भयकंपितजीवाय दातव्यमभयामिधं। दानं सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थं सदैव भो नरेश्वराः ॥ 293 ॥

अर्थः—जो गृहस्थ धर्मकार्य में अपना धन नहीं खर्च करते हैं वे भविष्य के लिये ठगाये जाते हैं। उनको शुभ कर्म की प्राप्ति नहीं होती है और न उनको महान पुण्य संपादन करने का अवसर ही प्राप्त होता है।

अर्थः—जो मनुष्य धर्म-अर्थ- और काम पुरुषार्थ को परस्पर अविरुद्ध भाव से संपादन करता है वही क्रम से मोक्षपुर का वास करता है। केवल अर्थ पुरुषार्थ या काम पुरुषार्थ के सिद्ध कर लेने से मनुष्यों के कर्तव्य पूर्ण नहीं होते हैं न त्रिवर्ग ही सिद्ध होता है। त्रिवर्ग में धर्मपुरुषार्थ मुख्य है क्योंकि काम और अर्थ पुरुषार्थ ये दानों ही धर्म पुरुषार्थ के फल हैं। बीज के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये बीज की रक्षा कर फल प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये। क्योंकि,

अर्थः—गृहस्थों को अपने समस्त कार्य धर्म की रक्षा करते हुये ही करने चाहिये। धर्म की हानि कर नहीं करने चाहिये। जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओं को भूलकर अन्य कार्य करता है वह सुख को प्राप्त नहीं होता है। सुख की प्राप्ति धर्मक्रियाओं के करने से ही होती है।

अर्थः—दान देने से ही पुण्य की महिमा प्रकट होती है। दया का कार्य करने से ही श्रेष्ठ तप का फल प्राप्त होता है। आत्मध्यान से ही मोक्ष का स्वरूप प्रकट होता है।

अर्थः—मुनिगण, आर्यिका आदि पात्रों को मध्याह्न समय आहारदान देना चाहिये। अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये। सरस, मनोहर और शुद्ध आहार दान देवे।

अर्थ—चतुःसंघ में जो रोग से पीड़ित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औषधि का दान करे और साधारण जीवों को भी औषधी का दान देवें। जिससे रोग का नाश हो और दया व्रत की विशुद्धि हो।

पाठकाय सुग्रंथस्य कर्तव्यं बहुमोदतः । दानं सत्ज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वांतसद्रवि ॥ 294 ॥

आर्यिकायै सुवस्त्राणि संदेयानि मुनीशिने। शौचकर्मार्थमेवाहो संदेयौ पिच्छिकुंडिकौ ॥ 295 ॥

श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणसंचयाः। श्राविकायै महीपाला देयास्ते च मनोहराः ॥ 296 ॥

दयाभावेन सर्वस्मै अन्नपानादि वस्तुच । दातव्यं सर्वकालेहि दयाभावप्रसिद्धये ॥ 297 ॥

इत्याद्या याः क्रियाः प्रोक्ताः जिननाथेन ह्यागमे। व्यवहारजाश्च ताः सर्वा ज्ञेयाः सम्यक्त्वधारिभिः ॥ 298 ॥

अर्थ—भययुक्त जीवों को अभय दान देना चाहिये। जीवों को मरते हुए बचाना चाहिये। प्राणों की रक्षा कर अभय दान देना चाहिये। अन्य शास्त्रों में अभयदान का अर्थ यह बतलाया है कि–पात्र–मुनि आर्यिकादि उत्तम पात्र को वसतिकादिक देना अभयदान है। अभयदान से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।

अर्थ—मुनि–आचार्य–उपाध्याय आदि पात्र को जैनागम के शास्त्रों का दान करना चाहिये। चतुःसंघ को जैन ग्रंथों का दान देना चाहिये। जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है और अज्ञान का नाश होता है। जैनागम के ग्रंथों का ही दान ज्ञानदान कहलाता है। अन्य मत के ग्रंथों का दान मिथ्यात्व है।

अर्थ—इसी प्रकार आर्यिका के लिये साड़ी आदि वस्त्रों का दान देना चाहिये। मुनिगणों के लिये शौच की शुद्धि के अर्थ एवं जीवरक्षा के लिये पीछी कमंडलू देना चाहिये।

अर्थ—हे राजगण श्रावकों को भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये। उनको आजीविका का साधन लगा देना चाहिये और श्राविकाओं के लिये भी वस्त्राभरण अन्नपानादिक देना चाहिये।

अर्थ—दयाभाव से अपात्र कुपात्र और सर्वसाधारण दुःखी रोगी–अनाथ–पंगु–दरिद्री–पापी–नीच–पशु आदि समस्त जीवों को यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओं का दान सदैव देना चाहिये। जिससे दयाभाव की प्रसिद्धि हो।

अर्थः—श्री जिनेन्द्र भगवान ने परमागम में दान पूजा विवाह–उपनयन–संस्कार–आदि जितनी क्रियाएं बतलाई हैं और वे क्रियायें व्यवहार रूप दीख रही हैं परंतु उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये। वे सब धार्मिक क्रियायें हैं। धर्म की अंगभूत हैं। आवश्यक कर्त्तव्य हैं। व्यवहार में जितने खानपान कर्त्तव्य हैं वे भी सब धर्म कार्य हैं। उनको व्यवहार धर्म की

न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजाः सर्वार्थदायिकाः । पालनीयाः सदाकाले भवद्भिर्न्यायवेदिभिः ॥ 299 ॥

इति स्वस्वामिना प्रोक्तं धर्माधर्मफलं शुभं । सभांतःस्थाश्च ते भूपा मृदुभावान्विता व्यधुः ॥ 300 ॥

श्रुत्वा संसारतो भीत्वा मत्वेति स्वहृदि तदा । जिनधर्मसमं नैवापरं वै भुवनत्रये ॥ 1 ॥

केचिच्च शुद्धसम्यक्त्वं व्यवहारनयान्वितं । दयाव्रतंच केचिद्धि केचिदणुव्रतान् वरान् ॥ 2 ॥

दानं दत्वा सुपात्राय करिष्यामि सुभोजनं । कृत्वाभिषेकसत्पूजां जिनबिंबस्य निश्चयात् ॥ 3 ॥

संज्ञा शास्त्रों में बतलाई है। परंतु सम्यग्दृष्टि जीवों को नित्य ही करना चाहिये। ये व्यवहार क्रिया हैं ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टि जीवों को इनसे उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जो सम्यग्दृष्टी गृहस्थ जीव इनको व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यात्वी है।

अर्थ:—हे नृपती गण हो न्यायमार्ग से नीति पूर्वक प्रजा का पालन करना चाहिये। न्याय और सदाचार का उलंघन कर प्रजा का पालन करना योग्य नहीं है।

अर्थ:—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओं को इस प्रकार धर्म-क्रिया नीति और पुण्य पाप का फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर सभा में विराजे हुए राजा अपने परिणामों में अतिशय मृदुता धारण करेंगे। परिणामों की सरलता से उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदय से सर्वथा दूर होंगे। कितने ही राजा तो संसार से भयभीत होंगे। कितने पाप कर्मों से भयभीत होंगे। समस्त सभा के सभासद निश्चय करेंगे कि जैनधर्म के समान सुखकारी तीन लोक में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन के साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन को बहुत से राजा धारण करेंगे। कितने ही राजा अहिंसा व्रत ग्रहण करेंगे। कितने ही राजा पांच अणुव्रत ग्रहण करेंगे।

अर्थ:—कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि हम नित्य प्रति पात्रों को दान देकर ही भोजन करेंगे। कितने ही भव्य भगवान का प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करने की प्रतिज्ञा लेंगे। कितने भव्यात्मा पुरुष भगवान के पवित्र चरणकमलों पर सुगंधित पदार्थों का लेप करने और अवशेष सुगंधी द्रव्य का मस्तक में तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पों को भगवान के पवित्र चरणों पर कामदेव को नाश करने के लिये चढ़ाने, भगवान की पूजा के समय

जिनपादौ सुगंधीघैः काश्मीरागुरसंयुतैः । प्रातः संलेपयित्वा वै पश्चात्पेपो ममास्तु भो ॥ 4 ॥
अरविंदोत्करान् धृत्वा जिनपादाब्जयोः परि। जग्धिं पश्चात् करष्यिामि सदैव मारहानये ॥ 5 ॥
पादाग्रं जिनबिंबस्य सद्याज्यवर्तिजैः शुभैः । ईदृशैः दीपसंदोहैः संख्यामिः सहस्रशः सदा ॥ 6 ॥
मोदकं व्यंजनं चैव शाल्यन्नमलिसंयुतं । इत्यादिनिवसंधृत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ 7 ॥
जेमनं शोभनं पश्चात् स्वर्णभाजनसंस्थितं । पश्चादेव करिष्यामि वासरं वासरं पति ॥ 8 ॥
समाभ्यर्च्य करष्यिामि लेपं पश्चात् सुखाप्तये । धूपं दत्वा सुगंधाढ्यं शिवसुखप्रदायकं ॥ 9 ॥
त्रिपुटा चंद्रबाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाढ्या नाम्ना वै मातुलिंगकः ॥ 10 ॥
कपित्थः कंटकीफलः कामांगो नेत्रनंददः । दाडिमश्चैव हिंतालोलांगलीनिंबूकस्तथा ॥ 11 ॥
रंभाद्या ये फलाः संति मनोवकहरा वराः । प्रभोः पादाब्जक्षोण्यग्रे धृत्वैतान् मेस्तु स पुनः ॥ 12 ॥
अष्टम्यां वा चतुर्दश्यां पालयिष्यामि सद्व्रतं । ब्रह्मचर्यामिधं शुद्धं शिवशर्मप्रदायकम् ॥ 13 ॥

सुंगधित घी के मनोहर दीप जलाकर मोहनी कर्म का नाश होने के लिये आरती करने, भगवान के पवित्र चरणों के अग्रभाग में उत्तम नैवेद्य चढ़ाने, स्वर्ण के थालों में उत्तम नैवेद्य रखकर क्षुधावेदनीय को नाश करने के लिये चढ़ाने, भगवान के चरण कमल के समक्ष सुगंधित धूप को अग्नि में प्रक्षेपण करने, इलायची दाड़िम- खिरनी-जामुन-बिजोरा पटोलिका-कपित्थ-फणस-नींबू-केला-श्रीफल आदि सुंदर फल चढ़ाकर अपने को धन्य मानने, अर्घ चढ़ाकर कृतकृत्य मानने आदि की प्रतिज्ञाएं लेंगे।

अर्थ—अष्टमी और चतुर्दशी के दिवस श्रेष्ठ व्रत को (प्रोषधोपवास) पालन करूंगा और उस दिवस परमशुद्ध शीलव्रत को धारण करूंगा। जिससे शिवसुख की प्राप्ति हो। हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक राजागण उस भव्योत्तम महराजा के समीप व्रतों को ग्रहण करेंगे।

इत्यादीन् मगधाधीश तत्सपीपे व्रतोत्करान्। भूमिपाला: सुभावाढ्या गृहिष्यंत्येव निश्चयात् ॥ 14 ॥

भूपो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र संशय:। तदाज्ञावर्तिन: सर्वे भूपा: किं न भवंत्यहो ॥ 15 ॥

राज्ञ: धर्मस्य मार्गो हि चलत्येवावनौ नृप। तदृते धर्मलेशोपि जायते नो कदाचन ॥ 16 ॥

तत्र क्षेत्रे प्रजा: सर्वा: पालयत्येव त्रिप्रभा: । जिनधर्मं जिनेन्द्रोक्तं दयाजलधिसंभृतम् ॥ 17 ॥

व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसत्सुखान्। भोक्ष्यत्येव सदा सोपि तत्र पंचेन्द्रियोद्भवान् ॥ 18 ॥

अस्मार्त्कि दुर्लभं लोके राजसौख्ये नराधिप। सुलभा धर्मिणा' सर्वा इन्द्रभूत्यादिसंपदा: ॥ 19 ॥

संप्राप्य पुत्रपौत्रादीन् स महीप: शुभोदयात्। स्थास्यति भावितीर्थेश स्वराज्ये भूपवंदिते ॥ 20 ॥

स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा। द्वीपवत्यास्तटे चैव यादःपतेश्च सत्तटे ॥ 21 ॥

अर्थ:—जो बड़े-बड़े मांडलीक राजा जैनधर्म के पालन करने वाले हों तो उनकी आज्ञा में चलने वाले अन्य राजागण क्यों नहीं जैनधर्म का पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे। राजा यदि धर्म का प्रतिपालक है तो समस्त प्रजा धर्म का पालन करने वाली हो जायगी। प्रजा राजा का अनुकरण करती है। इतना ही नहीं बल्कि समस्त देश ही जैन धर्म का पालन करने वाला हो जाता है।

अर्थ:—राजा जिस धर्म को पालन करता है वहां का देश उसी धर्म का प्रतिपालक हो जाता है क्योंकि राजाओं के चलाने से समस्त प्रजा उसी को स्वीकार कर लेती है। राजा के बिना धर्म का प्रतिपालन यथार्थ रूप से सर्वत्र नहीं हो सकता। धर्म पंगु है, उसको चलाने वाले चाहिये। तब ही वह सर्वत्र प्रचार में आता है, बढ़ता है। आश्रय बिना धर्म नहीं बढ़ता है।

अर्थ:—वहां की प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र) श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रकाशित जिनधर्म का ही पालन करती है।

अर्थ:—उस राजा ने व्रत के शुभ फल से अनेक भोगोपभोग संपदा को प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा।

अर्थ:—हे राजन् इस कर्म दहनव्रत के फल से राज्य के सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्र की विभूति प्राप्त होती है।

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा व्रत के पुण्य से पुत्र-पौत्रादिकों की शुभ शोभा को प्राप्त होगा। हे भावी तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराज व्रत के पुण्य से राज्य संपदा को चिरकाल पर्यंत निर्विघ्न पालन करेगा।

आरामे विपिने चापि ग्रामे खेटे मटंवके। वृक्षादिवाटिकायां च कर्वटे कंदरे तथा ॥ 22 ॥
इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेट्। उदवसितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ 23 ॥
तन्मध्ये स्थापयिष्यति बिंबानि श्रीजिनेशिनां। प्रतिष्ठापाठमर्यादात् चतुर्विधगणैः सह ॥ 24 ॥
किमिच्छकाभिधदानं सदा दास्यति स नृपः। निर्द्रव्याय शांत्यर्थं दरिद्राभिधकर्मणः ॥ 25 ॥
शर्ममग्नो गतं कालं नैव ज्ञास्यति स कदा। धर्मकार्यं पुरः कृत्वा भोक्ष्यत्येव स्वसंपदाम् ॥ 26 ॥
एव स भुंजमानोहि शर्मणां संततिं नृप। काललब्ध्या प्रयोगेण वैराग्यं प्रापयिष्यति ॥ 27 ॥
धिक्संसारमसारं च राज्यशर्म रजोपमम्। हेयं पापप्रदं धीरैः नूनं ज्ञानाब्धिपारगैः ॥ 28 ॥
इन्द्रियोद्भुतशर्मसु शर्मोत्पत्तिश्च किंचन। नास्त्येव बहवो नष्टा मृगाद्याः पशवो यतः ॥ 29 ॥
स्त्रीकायमथनोद्भूता महातंकप्रदायकाः। अतृप्तिजनका मूंढरुपादेया इमे सुखाः ॥ 30 ॥

अर्थ—वह राजा अपने नगर में श्रीजिनेन्द्र भगवान के रत्नों के दिव्य मंदिरों का निर्माण करेगा। इसी प्रकार अन्य शहरों में ग्राम-पर्वत-नदीतट-बगीचा-वन द्रोण-कंदरा पर्वत की शिखर आदि स्थानों में भी मनोहर जिनालय निर्माण करावेगा। जो बड़े ही भव्य और सुंदर होंगे। जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करेगा। प्रतिष्ठा के समय चतुर्विध संघ का आमंत्रण करेगा और सबको भोजन पान आदि सामग्री के द्वारा संतोष करेगा। सबको उनकी इच्छानुसार दान देगा। सबके मनोरथ पूर्ण करेगा। सबकी भावना को सफल करेगा। जिससे दरिद्रता का समूल नाश हो जायगा।

अर्थ:—वह राजा सब प्रकार के सुखों का सेवन करता हुआ अपने समय को नहीं जानेगा और धर्म कार्य को फिर भी सबसे प्रथम कर अपनी पुण्योदय से प्राप्त संपत्ति को भोगेगा।

अर्थ:—इस प्रकार वह राजा धर्म के फल से समस्त प्रकार के सुखों को भोगेगा। काललब्धि से वैराग्य को प्राप्त होगा। संसार की असारता को वह जानेगा। राज्य सुख को वह धूली के समान मानेगा। संसार की असारता को वह धिक्कारने लगेगा। इन्द्रियों का सुख पापप्रद है। उसमें कुछ भी सुख व सार नहीं है। इंद्रियों की आधीनता से बहुत से मनुष्य नष्ट हो गये। स्त्री का शरीर काम का घर है-यह महान रोग और आपत्ति का घर है। इसमें जरा भी तृप्ति नहीं है, न इन्द्रियों के सुख से कोई तृप्त हुआ इसलिये छोड़ने योग्य है। ज्ञानी पुरुष कषायों के आधीन नहीं होते हैं। इस प्रकार वह विचार करेगा।

इन्द्रादीनांच सौख्येषु यत्रास्ति नो किमप्याहो। शर्म वै तेपि तस्माद्धि पतंत्येव यतो मनः ॥ 31 ॥
अस्मादृशांच आत्मन् हे कियन्मात्रंच सन्सुख। येन लुब्धेन तिष्ठामः अत्र वेश्मनि स्यात्खलु ॥ 32 ॥
त्वयापि बहु सुज्ञानिन् संभुक्ता शर्मसंततिः। तथापि तेच तृप्तिश्च ह्यल्पमात्रापि नो भवेत् ॥ 33 ॥
विस्तरेण विचारेण ह्यलमात्मन् शिवाप्तये। अतृप्तिजनकान् शर्मान् त्यजस्व चाधुनांहदान् ॥ 34 ॥
वृथा ह्येतत्प्रभा वर्षा मे कुबुद्धेः गता वराः । विना श्रीवीतरागस्य संयमेन शुभेन च ॥ 35 ॥
अद्यैव राज्यभारंच ह्यारोप्य सुतमूर्द्धनि। करिष्याम्यनघं घोरं तपः शिवप्रदायकम् ॥ 36 ॥

अर्थ—इन्द्रादिकों को जो सुख अपनी पर्याय में प्राप्त होता है वह भी अंत में नष्ट हो जाता है। इसलिये संसार में कहीं पर सुख नहीं है।

अर्थ— हे राजन ! हम लोगों की आत्मा को संसार में क्या सुख है ? जिसके लोभ से घर में रहने की अभिलाषा करु ? घर में रहने में क्या सुख हैं ?

अर्थ:—हे आत्मन् ! संसार में उत्तम से उत्तम सुख तूने भोगे तब भी तेरी जरा भी तृप्ति नहीं हुई। अनंत काल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्र भी तृप्ति नहीं हुई।

अर्थ:—अधिक क्या कहें ? और हे आत्मन् अधिक क्या समझाया जाय यदि मोक्ष सुख के प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो संसार और इंद्रियों के तुच्छ सुखों का परित्याग कर। और इस समय दु:खप्रदायक तुच्छ संसारिक सुखों को छोड़। आज तक मेरा इतना समय इन तुच्छ भोगों के सुखों की लालसा में व्यर्थ ही गया। और अपना यह अमूल्य जीवन संयम के बिना व्यर्थ ही चला गया। इसलिये आज ही मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र के शिर पर यह राज्यभार समर्पण कर मोक्ष का अनुपम सुख प्रदान करने वाला यह मुनिसंयम ग्रहण करूंगा। इस प्रकार मन में विचार कर और अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर स्वर्णसिंहासन पर विराजमान कर अपनी प्रजा को पालन करने के लिये पट्टाभिषेक करेगा और छोटे पुत्रों को यथाशक्ति संपत्ति का भाग प्रदान करेगा। अन्य बंधुजनों को उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा। अन्य परिवार कुटुंब तथा भृत्यावर्ग को यथायोग्य संतोषित करेगा। अपने आधीन राजाओं को पुत्र के स्वाधीन कर राज्यभार पुत्र को समर्पण कर देगा।

इति ध्यात्वा हृदि पुत्रमाहूय हरिविष्टरे। स्थापयित्वा प्रजानांच पालनार्थं स्वकीयके ॥ 37 ॥

अन्यान् पुत्रान् तथा बंधून् संतोष्य वृत्तिजनैः सह। पृथक् पृथक् नराधीश स नृपो नृपसेवितः ॥ 38 ॥

निःस्वेभ्यः रत्नभर्मादीन् दत्वा आनंदधेतसा। कृत्वा जिनेन्द्रसत्पूजां चाभिषेकपुरस्सरां ॥ 39 ॥

सर्वेषु स्वकुटंबेषु संकार्य ह्यात्मभाववित् । क्षमां च खलु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वतां ॥ 40 ॥

स्वयं भूत्वा निःशल्यो वै स्वस्मिन् चाज्ञाय सिद्धये। स्वात्मनः शांतभावाढ्यः शिविकां च मनोहरां ॥ 41 ॥

समारुह्य तूर्णभेव स्वात्तनृपगणैः सह। पुरवाह्यबने चैव यास्यत्येव सुशोभने ॥ 42 ॥

सीमंधरादितीर्थानां सन्निधे वा गणेशिनां। अवतीर्य स्वयं यानात् शांतभावात्तमानसः ॥ 43 ॥

नत्वा तत्पादपद्माग्रं ? तारकं निर्जरैर्नुतम्। स्वकरौ कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव संयमम् ॥ 44 ॥

निरंबर दयाधीश शरणागतवत्सल। वीराधिप मुने स्वामिन् भव्यभूतप्रतारक ॥ 45 ॥

आत्मगुणविचारज्ञ मां देहि शरणागतं। दीक्षां जैनेश्वरीं पूज्यां इन्द्रनागेन्द्रभूमिपैः ॥ 46 ॥

अर्थः—गरीब और अनाथ जनों को धन रत्न आदि द्रव्य देकर संतोषित कर अपने भावों को सफल करने के लिये आनंद भावों से श्री जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक पूर्वक पूजा करेगा। अपने कुटुंबीजनों से क्षमा कराकर और स्वयं सबसे क्षमाकर समस्त वस्तुओं से निर्ममत्व भाव को धारण कर समस्त प्रकार से निःशल्य होगा। अपने मन की शुद्धि को धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षा को धारण करने के लिये विषय और कषायों को जीतने के लिये अपने भावों को शांत करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालकी) में बैठकर अनेक राजाओं के साथ बाह्य उद्यान में जायगा।

अर्थः—राजा सीमंधर स्वामी के निकट वा गणधर स्वामी के समीप शांत भावों से पालकी से उतरकर जायगा।

अर्थ—देवगणों से पूजित संसार समुद्र से तारक ऐसे गुरु के पवित्र चरण कमलों को नमस्कार कर और हाथों को कमलाकार बनाकर (हाथ जोड़कर) भगवती जिनदीक्षा की याचना करेगा।

तदा गुरूपदेशेन त्यक्त्वा भूषणसंहतीन्। वस्त्रादीन् शोभनान् चैव महामोहप्रदायिकान् ॥ 47 ॥
शिरस्थान् सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूपतेः। लुंचयित्वा तदाकाले पंचमुष्टेः सहासधीः ॥ 48 ॥
बाह्यस्थान् निखिलान् द्वंद्वान् अंतःस्थानपि दुस्त्यजान्। मूढैश्च तत्समीपेहि त्यक्त्वा भूत्वा मुनेः समः ॥ 49 ॥
ग्रहीत्वा मोक्षप्राप्त्यर्थं अष्टाविंशतिसख्यकान्। मूलभूतान् मुनेः सर्वान् मूलगुणान् दयालये ॥ 50 ॥
चतुरशीतिलक्षान् वै उत्तरादिवरान् गुणान्। सर्वशुद्धिप्रदान् वंद्यान् मुनेः दैवाधिपैः सदा ॥ 51 ॥
अष्टादशसहस्राणि शीलभेदानि भूपते। धृत्वा वै ब्रह्मचर्यस्य शुद्धकानि यतेः खलु ॥ 52 ॥
इत्थं शुद्धया गृहीत्वा वै संयमं स मुनिर्वरम्। करिष्यति वने भीमे दुर्धरं तपसंग्रहं ॥ 53 ॥
तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा स्वस्वामिनो मुदा। साहसं भो नराधीश भव्यीभावाः सहस्त्रशः ॥ 54 ॥
तां दीक्षां तेपि साकं च स्वमहिलाभिरादरात्। गृहिष्यंति परित्यज्य संपदां स्वर्गसन्निभां ॥ 55 ॥

अर्थ:—हे दिगंबर महाव्रतधारक ! हे दयाधीश ! हे शरणागत वत्सल ! हे मुने ! हे भव्यजीवों के तारक ! हे आत्मगुणों के विधारक ! मुझ दीन शरणागत को भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥

अर्थ:—उस समय राजा आचार्य गुरु की आज्ञा से मोह को बढ़ाने वाले ऐसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण अपने शरीर से उतार कर फेंक देंगे। जैसे कोई मोहराजा को ही समूल उखाड़कर फेंक देता है वैसे ही अपने मस्तक, दाढ़ी, मूंछ के केश पंच मुष्टी के द्वारा उखाड़ कर फेंक देंगे और अत्यंत दुस्त्याज्य अंतरंग एवं बाह्य परिग्रह को छोड़कर अपने गुरु से अष्टाविंशति मूल गुणों को धारण करेगें। नवीन दीक्षित मुनी राज चौरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलव्रत को धारण करेंगे।

इस प्रकार शुद्ध संयम को धारण कर वह राजा भयानक अरण्य में घोर तप को धारण करेगा।

अर्थ— उस समय अपने स्वामी राजा का इस प्रकार महान् अद्भुत साहस देखकर हजारों आधीनस्थ राजगण भव्यभावों से भगवती जिन दीक्षा की याचना करेंगे।

अर्थ— वे राजगण भी अपनी-अपनी रानियों के साथ भगवती जिन दीक्षा को ग्रहण करेंगे। आर्यिकायें-आर्यिकाओं के संघ में रहेंगी और मुनिगण मुनिसंघ में रहेंगे।

आर्यिका आर्यिकासंघे करिष्यंत्यनघं तपः । मुनयस्तेपि साकं च तेनैव मुनिना वराः ॥ 56 ॥
अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनिः । मोक्षार्थं धीरभावाढ्यं पालयिष्यति स खलु ॥ 57 ॥
महासाहसधैर्येण स यतिः कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भूप खंडयिष्यति दुर्जयान् ॥ 58 ॥
शमशाने भूधरे भलमे विजने दुर्गमे वने । केदरे निर्भयो धीरो महीरुहस्य कोटरे ॥ 59 ॥
श्रवंत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्निधे । ध्यानं व्युत्सर्गसंज्ञं च करिष्यत्येव सिद्धये ॥ 60 ॥
मासमात्रं द्विमासांतं रसमासांतमेवच । मध्मोत्कृष्टसुभेदेन हायनांतं च्युतोपमं ॥ 61 ॥
पंचर्तुपक्षघस्रांते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्क्रांतं निवसंहिमजिष्यति ॥ 62 ॥
उदन्याश्च समुत्पन्नां तां बाधां दुर्धरां नृप । सोक्ष्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ 63 ॥
ध्यानं वाध्ययनं नित्यं मनोरोधाय संयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसंताननाशकम् ॥ 64 ॥

अर्थ— सर्व प्रकार के अतीचारों से रहित मूलगुणों का वह मुनिराज पालन करेगा। धीर-गंभीर भावों से और परम साहस के साथ वह मुनिराज तप के द्वारा कर्म रूपी पर्वतों को खंडर समूल नाश करेगा। वन निर्जन स्थान श्मशान, कंदरा, नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थान में वह घोर तपश्चरण करेगा और एकांत में ध्यान धारण करेगा। एक दिवस, दो दिवस, पंद्रह दिवस, महीना, दो महीना, चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समय की मर्यादा से वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मा से समस्त दोषों का निराकरण करेगा।

अर्थ:—वह मुनि तृषा परीषह को सहन करेगा। अन्य परीषहों को भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्मबल को प्रकट करेगा। कर्म का नाश करने वाला ऐसा ध्यान, शास्त्रों का अध्ययन मन और इंद्रियों का निरोध करेगा।

अर्थ:—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्र के उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियों से विभूषित साधु परमेष्ठी को और जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को पालने वाले अनेक प्रकार के तप से विभूषित-भव्य जीवों को तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरों की वंदना करने के लिये, एंव तीर्थ यात्रा आदि करने के लिये । वह मुनीश्वर एकलबिहारी होकर निर्मल चारित्र को निर्भयता के साथ पालन करेगा। पर्वतों की गुफा में रह कर ध्यान करेगा।

आचार्यान् दशसंख्याढ्यान् जिनधर्मप्रकाशकान्। तपद्धर्यादिषु ऋद्धयाढ्यान् महासारसमन्वितान् ॥ 65 ॥
जिनाज्ञापालकान् बुद्धान् नानातपःकरान् वरान्। निर्लिपाधिपसंदोहैर्वंद्यान् सुजीवतारकान् ॥ 66 ॥
वंदयन् मगधाधीश गृहिष्यत्येव स मुनिः। एकाविहारजां वृत्तिं धीरवीरैः प्रपूजितां ॥ 67 ॥
ततः सोपि मुनीन्द्रो वै सिंहवन्निर्भयोबली। गिरिकंदरदुर्गेषु संवसन् ध्यानसिद्धये ॥ 68 ॥
करिष्यत्येव भो भूप द्वादशाभिघसत्तपः। अतीचारविनिष्क्रांतं कर्मदावाग्निवार्मुचम् ॥ 69 ॥
एवं च दुर्धरं कृत्वा त्रिशुद्धया ह्यनघं तपः। षष्टमं च गुणस्थानमुल्लंघ्य ध्यानयोगतः ॥ 70 ॥
खाभ्रपंचाद्रिरागै प्रमितान् खलु दुर्जयान्। प्रमादान् तत्र संमुक्त्वा चारुह्य सप्तमे पुनः ॥ 71 ॥
रंध्रे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिमंडितः। द्वादशमे गुणस्थाने हत्वावरणपंच वै ॥ 72 ॥
त्रयोदशमं संप्राप्य गुणस्थानं च्युतोपमं। कैवल्यं लप्स्यति बोधं पंचमं मगधाधिप ॥ 73 ॥
तत्प्रभावात्सुराः सर्वे ह्यागत्य नाथसंयुताः। गंधकुट्यादिसत्शोभां करिष्यंति मनोहरां ॥ 74 ॥

अर्थः—वह मुनीश्वर गिरिकंदराओं में बारह प्रकार का तप निरतीचार धारण करेगा। इस प्रकार दुर्द्धर तप को धारण कर वह मुनीश्वर उत्तम ध्यान के प्रभाव से षष्टम गुणस्थान को उल्लंघन कर सातवें गुणस्थान में पदार्पण करेगा।

अर्थः—वे मुनिराज पंद्रह प्रकार के प्रमादों का त्यागकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में जा विराजमान होंगे।

सातवें गुणस्थान से फिर वे क्षपक श्रेणी मांडकर क्रम से आठवें नौवें दशवें बारहवें गुणस्थान में जा विराजमान होंगे। अंत में मोहनीय कर्म का नाश कर तथा बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय कर्मों का समूल नाशकर तेरहवें गुणस्थान में जा विराजमान होंगे।

अर्थः—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवा गुणस्थान को प्राप्त कर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा।

अर्थ—केवलज्ञान के प्रभाव से समस्त देवगण अपने-अपने परिवार व स्वामियों के सहित वहां पर आयेंगे और मनोहर गंधकुटी की रचना को करेंगे।

स्वर्गोद्भवैः शुभैर्द्रव्यैः पूजयित्वा व ते जिन। नत्वा पादारबिंदं तत् स्थास्यंति तस्य सन्निधे ॥ 75 ॥
स्थित्वा सिंहासने सोपि धर्मामृतरसोत्करैः । तर्प्स्यंति चैव भव्यौघान् मिथ्यांधतमसं हनन् ॥ 76 ॥
शिवदं मुनिमार्गं च गृहिणां नाकदायकं। प्रख्यापयन् जनान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यतः ॥ 77 ॥
एवं संबोध्य भव्यौघान् दिव्येन ध्वनिना स च । अंते योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षास्पदे नृप ॥ 78 ॥
हत्वा ह्यघातिकर्मारीन् गुणस्थाने क्रियोज्झिते। अंत्ये शुक्लासिना तत्र यास्यंति चाव्यये पदे ॥ 79 ॥
अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूपं कियत्प्रमम्। इति प्रश्नस्य व्याख्यान श्रृणुथ भव्यसत्तमाः ॥ 80 ॥
नत्वा सिद्धव्रजान् महासुखप्रदान् संसारविच्छेदकान्। सम्यक्त्वा दिगुणालयान् मुनिनुतान् लोकाग्रमूर्ध्न स्थितान् ॥ 81 ॥
कायाकर्मविवर्जितान् सुरनुतान् संसारपारंगतान्। किंचित बुद्धिलवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ 82 ॥

अर्थः—हे मगधेश्वर ! देवगण स्वर्गों से उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्री से प्रभु की पूजा करेंगे और प्रभु के पवित्र चरणकमलों को नमस्कार कर प्रभु के समीप ही बैठेंगे।

अर्थः—वे प्रभु स्वर्ण के दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्मामृत से भव्यजीवों को तृप्त करेंगे और उनका चिरकाल संबंधी मिथ्यान्धकार का नाश करेंगे।

अर्थः—वे प्रभु मोक्ष को प्रदान करने वाले मुनि मार्ग तथा स्वर्ग का प्रदान करने वाला श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे।

अर्थः—इस प्रकार भव्य जीवों को दिव्यध्वनि के द्वारा संबोधन कर वे प्रभु अंत में योगनिरोध की क्रिया करेंगे।

अर्थ—अयोग नामक चौदहवें गुणस्थान में अघातिया कर्मों का नाश अंतिम शुक्ल ध्यान के द्वारा कर मोक्ष स्थान को प्राप्त होंगे जो साश्वता (अव्यय) स्थान है जिसमें किसी भी कारण से पुनः दुख उत्पन्न होने की संभावना नहीं होती है। अव्ययस्थान किसको कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह हैं सो सुनिये।

अर्थः—महान सुखों को प्रदान करनेवाले संसार का नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणों से भूषित, मुनियों से पूज्य लोक के अग्रभाग में विराजमान, शरीर रहित, कर्मरहित संसार से पारंगत ऐसे सिद्ध भगवान के गुणों का किंचित स्वरूप बतलाते हैं। पहली पृथ्वी नरक भूमि, दूसरी भवनवासियों की, तीसरी मनुष्य लोक की, चौथी ज्योतिश्चक्र की, पांचवी स्वर्गों की, छट्ठी ग्रैवेयकों की, सातवीं सर्वार्थसिद्धिवाली है और आठवीं भूमि सिद्धशिला है।

पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिनां। मर्त्यानां तृतीया प्रोक्ता चतुर्थी ज्योतिषां च सा ॥ 83 ॥
पंचमी नाकदेवानां ग्रैवेयकी च षष्ठमी। नाम्ना सर्वार्थसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ 84 ॥
अस्योपरि पुनर्गत्वा योजनं द्वादशप्रमं। तिष्ठते ह्यष्टमी पृथ्वी सिद्धवारविमंडिता ॥ 85 ॥
इमेच भो बुधा ह्यस्मिन् लोकाकाशेष्टनामत:। संत्येव सुंदराकारा: स्थिरा: नानार्थसंभृता: ॥ 86 ॥
दक्षिणोत्तरदिग्भागे रज्जुसप्तप्रमा मता। पूर्वेच पश्चिमे व्यासश्चैकरज्जुप्रभो बुधै: ॥ 87 ॥
दोर्वर्णसदृशच्छाया दिव्या मोक्षाभिधा शिला। तन्मध्ये क्रांतिसंदीप्ता स्याद्धीनकर्मवर्जिता ॥ 88 ॥
उत्तानगोलकार्द्धेन समाना सिद्धपूरिता। नरक्षेत्रप्रमाकारा छत्राकारा विभात्यहो ॥ 89 ॥
स्थूला सा जिननाथेन संप्रोक्ता सर्ववेदिना। योजनैरष्टभि: ख्याता दुर्लभा चान्यलिंगिनां ॥ 90 ॥
मध्येष्टयोजनै: स्थूला कृशांते क्रमहानित:। इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनै: ॥ 91 ॥
तस्या मध्येच तिष्ठंति नित्याष्टगुणभूषिता:। निकुरंबाश्च सिद्धानां तनुवातांतमस्तका: ॥ 92 ॥
केचिदूर्ध्वासनाकारा: केचित् पद्मासना वरा:। केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्ता नाशवर्जिता: ॥ 93 ॥
विभात्येव हि केषांचित् पंचेषुपंचघापत:। शरीराणां इयं संख्या उत्कृष्टेनहि संमता ॥ 94 ॥
लघुसंख्याच केषांचित् राद्धांते कथिता जिनै:। अन्यैव हस्ततश्चेयं केवलांबकधारिभि: ॥ 95 ॥

अर्थ:—लोकाकाश में आठवीं पृथ्वी में एक सिद्ध शिला नामका क्षेत्र है। वह शिला के आकार का होने से शिला कहलाता है। यह स्थान दक्षिण और उत्तर दिशा में सात रज्जु प्रमाण विस्तार वाला है। पूर्व और पश्चिम में एक रज्जु प्रमाण है। स्वर्ण की दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्ति से अतिशय चमत्कारिक है। मोक्षशिला अर्ध चंद्रमा के समान है। समस्त सिद्ध उसमें एक समान निवास करते हैं। मनुष्य के क्षेत्र के समान जिसका विस्तार है। छत्राकार है। इस प्रकार महान विशाल शिला है। आठ योजन की ऊंची है। जैन लिंग को धारण करने वालों को ही वह प्राप्त होती है। अन्य लिंग को धारण करने वालों को सर्वथा प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार यह शिला श्री जिनेंद्र देव ने बतलाई है।

बहव: संति संभेदा मध्यसंख्याभिरागमे। केषांचिद्दोषनिर्मुक्ते सर्वदोषविवर्जिता: ॥ 96 ॥

किंचिदूनाश्च ते सिद्धा: प्राक् शरीरादधापहा:। अनंतसुखसंलीना द्वेषरागादिवर्जिता: ॥ 97 ॥

निरंजना निराकारा: सदाकालेषु संस्थिता:। विश्वमांगल्यकर्तार: सर्वोत्कृष्टा निरालसा: ॥ 98 ॥

लोकोत्तमा: शरण्याश्च शुद्धा: सिद्धा निरामया:। अनंतकालमात्मानं तिष्ठत्यंगातिगा: सदा ॥ 99 ॥

निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया:। निर्भया गतनिद्राश्च निराबाधाश्च्युतोपमा: ॥ 100 ॥

नाथहीनाश्च निर्माना: पंचवर्णविराजिता:। हावभावविनिर्मुक्ता ललनाभावर्जिता: ॥ 1 ॥

अर्थ:—उस सिद्ध शिला पर आठ गुणों से विभूषित, सिद्ध गणों के समूह तनुवात वलय के अंत में विराजमान हैं। वहां पर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊर्ध्वासन विराजमान हैं कितने पद्मासन विराजमान हैं कितने ही अन्य आसनों से भी विराजमान हैं। सिद्ध भगवान शरीर रहित अमूर्तीक हैं। द्रव्य कर्म नोकर्म भाव कर्म से सर्वथा रहित हैं। इसलिये सिद्धों का न तो कोई रूप ही है और न कोई आकार है। अतएव सिद्धों को नित्य निरंजन निराकार कहते हैं। सिद्ध अजर हैं अमर हैं। सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना सवा पांच सौ धनुष की है और जघन्य अवगाहनागू हाथ की है। मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं। सिद्ध भगवान चरम शरीर से किंचित् न्यून अनंत सुख में निमग्न हैं।

समस्त मंगलों को प्रदान करने वाले, सर्वोत्कृष्ट-लोकोत्तम-शरणभूत-परमशुद्ध-तेजरूप-चिन्मय सिद्ध भगवान हैं।

सिद्ध भगवान-निर्भय-निष्कलंक-निराबाध-निरामय-निर्मद-निराधार-स्त्रीरहित-हावभावविलासादि रहित-कामविकार चेष्टा रहित-चिंतारहित-विकल्प रहित-गंध रहित-कुचेष्टा रहित- कुभाव रहित-रोग रहित- उपद्रव रहित-विहार रहित-छल कपट भाव रहित-क्रोधादि विकारहित-मान मार्यादिरहित- पाप रहित-तृष्णा रहित-मोह द्वेष-और राग रहित-परम शांत विराजमान हैं।

सिद्धों के वेद नहीं हैं। शरीर नहीं है। लेश्या नहीं है। कर्म नहीं है। जन्म जरा आधि व्याधि नहीं है। क्षुधादि पीड़ा नहीं है। वे सिद्ध भगवान ईश्वरों के ईश्वर हैं तीन जगत के स्वामी हैं। समस्त पदार्थों के वेत्ता हैं-समस्त जीवों को संसार समुद्र से पार करने वाले हैं। समस्त पदार्थों को जानने वाले अनंत सुख में संलीन हैं।

कामहीनाश्च निर्गंधा निर्विकल्पा निरागमा: । निर्विहाराश्च निर्देभा निष्पापा मदवर्जिता: ॥ 2 ॥
वितृष्णा निर्विकाराश्च नि:स्वना: सकलार्थदा: । निर्विचिंत्या:सदाधारा:कृतार्था:कृत्यवर्जिता: ॥ 3 ॥
लेश्यावेदविहीनांगा: शांतभावेन मंडिता: । सर्वेषामीश्वराणांच ईश्वरा: सर्वदर्शका: ॥ 4 ॥
कर्मप्रकृतिसंहीना: तारका: भवदेहिनां । जन्मात्ययजरातंकवर्जिता निर्मला: सदा ॥ 5 ॥
तस्मिन् शिलायां हतकर्मव्यूहा भुंजंति शर्मं शुभमात्मभूतं । अंतातिगा: स्वात्मनि संस्थितास्ते निर्बाधरूपा मनसाविचिंत्या: ॥ 6 ॥
चक्रध्वादिराजेन्द्रखगाधिपानां । कल्पेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमुद्भवानां ॥ भोगादिभूम्यंसमवार्थकानां । तथान्यलोकत्रयसंभवानां ॥ 7 ॥
जत्त्रये यत् क्रियते सुखैकं । त्रिकालजं हि विषयोत्थसौख्यं ॥ तन्मात्सुखादक्षसमुद्भवाच्च । क्षणे हि एकैव विकारहीनं ॥ 8 ॥
भुंजंति सौख्यं हतकर्मजाला: । सारमत्यक्षमतुलविहीनं ? ॥ अन्येन द्रव्येण विवर्जितं हि । न्हासेन वृद्धेन तथा विमुक्तम् ॥ 9 ॥
हत्वा कर्मरिपून् पूर्वं महाध्यानसुवन्हिना । येऽनंतसुखसंयुक्तं त्रैलोक्यशिखरं ययु: ॥ 10 ॥
ते मया संस्तुता: सर्वे चिन्मया: कायवर्जिता: । मे समाधिं सुबोधिं च यच्छंतु नो परा इह ॥ 11 ॥

अर्थ:—उस सिद्ध शिला पर समस्त कर्म समूह को समूल नाश करने वाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी आत्मा से उत्पन्न हुए सुख को भोगते हैं। वे सिद्ध परमात्मा सब प्रकार की बाधाओं से रहित और अंत रहित सदैव अपनी आत्मा में ही निमग्न रहते हैं। उनका मन से चिंतवन करना चाहिये।

अर्थ—संसार में इन्द्रिय और विषयों के सेवन करने से जो सुख जीवों को प्राप्त होता है वह तुच्छ है। विनाशीक है। चक्रवर्ती-विद्याधर देवेन्द्र अहमिन्द्र भोगभूमि के जीव तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख तीन जगत् में भोग कर रहे हैं वह इन्द्रियों का सुख तीनों कालों का एकत्रित किया जाय तो भी वह सुख सिद्धों के एक क्षण मात्र सुख के समान नहीं हो सकता है। सिद्ध परमात्मा आत्मीय-अतीन्द्रिय-न्यूनाधिकरहित-विकार रहित-अविनाशीक-अर्चित्य-नित्य अनंत सुख को भोगते हैं।

अर्थ:—जो सिद्ध परमात्मा अपनी संसार पर्याय में समस्त प्रकार के कर्मरूपी शत्रुओं को ध्यान रूपी अग्नि से भस्म कर अनंत सुख सहित तीन लोक की शिखर पर विराजे हैं।

अर्थ:—शरीर रहित चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे सिद्ध परमात्मा जिनकी मैंने संस्तुति की है, मुझे समाधि और रत्नत्रय की प्राप्ति प्रदान करें।

सिद्धचारा इमे नित्यं धीरवीरैर्मुनीश्वरैः । वंद्या ममापि संभूयात् सिद्धवृंदाय वंदना ॥ 12 ॥
ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे । गत्वा निरामयं शर्म शाश्वतं चाक्षवर्जितं ॥ 13 ॥
कर्मकायविनिर्मुक्तमात्मभजं नाशवर्जितं । निर्लेपं वृद्धिहीनं च सर्वेषां हि समं वरं ॥ 14 ॥
स व्रती व्रतपुण्येन ह्यंतातीतं सदा खलु । भोक्ष्यत्येव विचारज्ञ गतागमनवर्जितं ॥ 15 ॥
अनेन विधिना ये हि करिष्यंति कलौ नराः । यास्यंति शाश्वते स्थाने विदेहात् नात्र संशयः ॥ 16 ॥
कर्मदहनसद्व्रतः सोऽयं कर्मविनाशकः । सार्थनामयुतः सम्यक् वंद्यो भव्योत्करैः सदा ॥ 17 ॥
सर्वोत्कृष्टविधिश्चायं कथितश्च नरेश्वर । बुद्धस्व त्वं हृदि शुद्धे मया त्वत्प्रश्नतः खलु ॥ 18 ॥

अर्थः—वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीश्वरों से सदैव पूजित हैं, वंदनीक हैं, उनको मैं भी भाव भक्ति से वंदना करता हूं।

अर्थः—हे राजन्! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट महा मनोहर–मोक्षस्थान में जाकर निरामय–साश्वत अतीन्द्रिय कर्म और शरीर की पराधीनता से रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अनंत सुख को वे सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते हैं।

अर्थः—हे राजन! यह कर्मदहन व्रत को धारण करने वाला भव्य जीव व्रत के पुण्य के प्रभाव से सांसारिक समस्त सुखों को भोगकर क्रम से आदि, मध्य और अंत रहित–जन्ममरणादि विकार रहित मोक्ष के सुख को भोगता है।

अर्थः—इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्म दहन व्रत को पंचम काल में जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्य ही अविनाशीक मोक्षसुख को प्राप्त होंगे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

अर्थः—यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है। जो कोई भव्यजीव इस व्रत को विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मों का दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसीलिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है। भव्यजीवों से सदैव पूज्य है।

अर्थः—हे मगधाधीश कर्मदहनव्रत की जो विधी बतलाई है वह सर्वोत्कृष्ट विधि है। जघन्य और मध्यम विधि भी इस व्रत की है।

आजन्म पापमग्रा हि नरा यास्यंति निश्चायात्। अस्यैव कारणात् भूप। शिवास्पदेच शाश्वते ॥ 19 ॥

अस्य श्रृणु पुन: त्वंच अपरमपि ये नरा: । करिष्यंति विधिश्चायं तरिष्यंति भवाच्च ते ॥ 20 ॥

पूजनस्य विधि: सैव भोजनस्यापि स विधि: । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभि: शिवप्राप्तये ॥ 21 ॥

शक्त्यनुसारतो मासे करणीया: सुभावत: । प्रोषधा: पंच वा पंक्तिप्रमा एवं सदैव वै ॥ 22 ॥

वा मासं प्रति चत्वार: प्रोषधा: शुद्धित: त्रिधा। कर्तव्या: कर्मनाशार्थं सजाप्या: सक्रियान्विता: ॥ 23 ॥

प्रोषधस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसंभृते। भवंत्यघाश्च तूर्णन शिथिली हि दुराशया: ॥ 24 ॥

खगेश्वरेक्षणेनैव यथा क्रूराश्च पन्नगा: । शिथिलतां प्रयांत्येव तथैव व्रततो ह्यघा: ॥ 25 ॥

ये ये मया नराधीश आख्याता: शिवदायका: । व्रतानां निकरा: सर्वे ते ते स्यु: नात्र संशय: ॥ 26 ॥

अर्थ—व्रत के प्रभाव से आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष सुख को प्राप्त होंगे ऐसा हे राजन् तू निश्चय समझ।

अर्थ—हे राजन् इस कर्मदहन व्रत की अन्य विधि भी बहुत हैं। जिनको पालन करने से भव्य जीव संसार समुद्र से अवश्य ही तिर जांयगे।

अन्य विधियों में भगवान के अभिषेक और पूजन की विधि जो प्रथम बतलाई है वह वैसी ही करनी चाहिए। भोजन की शुद्धि और प्रोषध की विधि भी जो प्रथम बतलाई है वह भी वैसी ही करनी चाहिए। परंतु प्रोषधोपवास प्रथम एकांतर रूप से बतलाये थे वे अपनी शक्ति के अनुसार एकांतर रूप से न कर पृथक्-प्रथक् रूप भी कर सकते हैं। परंतु मन वचन काय की शुद्धि से करना चाहिए। एक मास में पांच या दश प्रोषधोपवास करने चाहिए अथवा एक मास में चार प्रोषधोपवास करना चाहिए। प्रोषधोपवास के दिवस जाप्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियायें करना चाहिए।

इस कर्मदहन व्रत के प्रभाव से कर्मो का चूर्ण अवश्य ही होगा।

अर्थ:—जैसे गरुड़ के दर्शनमात्र से सर्प भाग जाते हैं वैसे व्रत के प्रभाव से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ:—हे राजन् जो जो व्रत इस ग्रंथ में भव्य जीवों के उपकारार्थ बतलाये हैं वे सब मोक्ष के प्रदान करने वाले हैं।

पंचमाख्येशुभे काले मर्त्या या: स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवा: ॥ 27 ॥

करिष्यंति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यंति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ 28 ॥

श्रुत्वेत्थं मगधाधीश: स ध्वनिं च प्रमोर्मुदा । तं प्रत्याह तदा स्वामिन् वीर वीरेश पावन ॥ 29 ॥

भवद्भि: कथिता मर्त्या निस्वा हि पंचमोद्भवा: । करिष्यंति कथं व्रत्तं तदृते नास्ति तत्फलं ॥ 30 ॥

गृहे यदि दरिद्र: स्यात् पूर्वपापोदयात् नृप। कायेन द्विगुणं कार्य व्रतं प्रोषधसंयुतं ॥ 31 ॥

द्रव्यहीना नरा: तस्मिन् करिष्यंति व्रतोत्करान् । द्रव्याढ्याश्च करिष्यंति उत्थापनां व्रतस्य वै ॥ 32 ॥

अर्थ:—हे राजन् इस पंचम काल में जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्म दहन व्रत को पालन करेंगे वे नियम से जरा जन्म मरण रहित मोक्ष सुख को प्राप्त होंगे।

अर्थ:—इस प्रकार कर्मदहन व्रत का महान माहात्म्य श्रीवीर प्रभु की दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर हर्ष को प्राप्त हुआ। फिर भी राजा श्रेणिक ने वीर प्रभु से प्रश्न किया।

अर्थ:—हे प्रभो पंचम काल के मनुष्य दरिद्री होंगे और दरिद्री मनुष्य इस व्रत को किस प्रकार संपादन कर सकेंगे क्योंकि धन के बिना धर्म किस प्रकार हो सकता है ?

अर्थ:—हे राजन् यदि दरिद्रता के कारण व्रत का उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीर से द्विगुणा व्रत करे तो भी वही फल प्राप्त होगा।

अर्थ:—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रत को बड़े विशुद्ध भावों से और भक्ति से करेंगे। परंतु श्रीमंत (धनिक) लोग इस व्रत की उत्थापना करेंगे अर्थात् धन के लोभ से वे व्रत के पालन करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते रहेंगे। यह उनका लोभ परिणाम धर्मभावना की कमजोरी प्रकट करेगा।

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्र-पुत्री आदि के विवाह में कभी-कभी अपनी मान-बढ़ाई के लिये शक्ति से अधिक धन का व्यय करेंगे। या मृतकादि पुरुषों की क्रिया में शक्ति के उपरांत धन व्यय करेंगे, परंतु धर्मकार्य में उनको रुचि नहीं होगी।

सुतापुत्रविवाहेषु द्रव्योत्करस्य ते नरा: । करिष्यंति व्ययं भूप मृतकादिक्रियासु वै ॥ 33 ॥
पंचमाभिधकालस्य मानवा: पापमंडिता: । धर्ममार्गविहिर्भूता धर्मकार्यपरान्मुखा: ॥ 34 ॥
हर्षोल्लासेन ते मूढा: पापकार्येषु नित्यश: । द्रव्यौघस्य व्ययं भूप करिष्यंति न संशय: ॥ 35 ॥
कृपणा द्रव्यभोक्तारो निकृपणा: तद्वर्जिता: । कलौ एव भविष्यंति मिथ्यामार्गरता: खला: ॥ 36 ॥
एकम प व्रतं शुद्धं य: करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र संदेह: कायात् द्विगुणं च ना ॥ 37 ॥
गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा: चैव (नैव) शिवशर्मकरा: खलु ॥ 38 ॥
अत: कायाच्च भो मर्त्या: कुर्वीध्वं द्विगुणं व्रतं । इमं नैव गृहे द्रव्यो यद्यस्ति शिवशर्मणे ॥ 39 ॥

अर्थ:—हे राजन् पंचमकाल का माहात्म्य ही अद्भुत है उसमें प्राय: धर्म मार्ग से विपरीत ही कार्य होंगे। क्योंकि पंचमकाल के मनुष्य प्राय: पापों से लिप्त होंगे। धर्म मार्ग से बहिर्भूत-धर्मकार्य से परांमुख होंगे। पंचमकाल के मनुष्य हर्ष और उल्लास के साथ पाप कार्य नित्य ही करेंगे। ऐसे कार्यों में ही अपना धन का उपयोग कर अपने को कृतकृत्य मानेगें। कृपण धन के स्वामी बनेंगे और उदार मनुष्यों के पास धन का अभाव होगा। इस प्रकार कलिकाल पंचम काल में सर्वत्र अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

अर्थ—इस पंचम काल में भाव भक्ति से हर्ष और उल्लास के साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धता पूर्वक करता है वह मोक्ष के सुख को अवश्य ही प्राप्त होता है। इसमें संदेह नहीं है। उद्यापन शक्ति विहीन पुरुषों को दूना व्रत कर अपने भावों की विशुद्धि करनी चाहिये।

अर्थ:—जो मनुष्य व्रतों को विधि बिना ही अपने मन से करते हैं उनका श्रम करना हाथी के स्नान समान निष्फल है। अत: एव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये। बिना विधि के व्रत स्वर्ग मोक्ष का साधक नहीं है। जिनके पास द्रव्य नहीं है उनको शरीर से ही व्रत करने में श्रम अधिक करना चाहिये।

भावार्थ:—व्रत की विधि उद्यापन आदि करने की परम्परा में सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्य पुरुषों को तो व्रत की उद्यापन आदि समस्त विधि करनी ही चाहिये। यदि धनवान और पुण्यवान ही ऐसी विधि न करें तो उनने अपनी शक्ति को छुपाकर भावना कम की। परिणामों की विशुद्धि पूर्ण रूप से नहीं की इस लिये उनको धर्म का फल स्वर्ग मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार निर्धन यदि व्रत को दूना द्विगुणित न करे तो आगम की आज्ञानुसार सर्व क्रिया न करने से परिणामों की विशुद्धि किस प्रकार रह सकती है। इसलिये प्रत्येक प्राणी को अपनी-अपनी शक्ति को नहीं छुपाकर व्रत विशुद्ध परिणामों से करना चाहिये।

भो बुधा: जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा। कृपणत्वं भजध्वं मा ह्यनेकदु:खदायकम् ॥ 40 ॥
कुमार्गे सर्वदा यूयं कृपणत्वं बुधोत्तमा: । भजध्वं धर्मकार्येषु मा कदापि सुखाप्तये ॥ 41 ॥
नागराणां व्रतेदंच कारापण सुशर्मदं। अस्माद्धि सकला भव्या: शिवे यास्यंति निश्चयात् ॥ 42 ॥
कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया। करिष्य त सुभावेन इदं यास्यति सोव्यये ॥ 43 ॥
पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनां। करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ 44 ॥
चतुर्विधाय संघाय यथायोग्यानि मोदत: । संदेयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभि: खलु ॥ 45 ॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहरा: । छत्राश्च चामरा: घंटा: ध्वजाद्या: जिनसद्मसु ॥ 46 ॥
उत्कृष्टोयं विधिर्भूप ! शिवशर्मप्रदायक: । व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मत: ॥ 47 ॥

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान भव्य जीवों जिनधर्म संबंधी पुण्यकार्य में पूजा और पात्रदान में कभी भी कृपणता मत करो। क्योंकि पूजा और दान में कृपणता करना महान दु:खों को प्रदान करने वाला है। हां यदि कृपणता ही करनी है तो कुमार्ग में व्यर्थ धन को व्यय मत करो। कुमार्ग में कृपणता धारण करो। परंतु सुख की इच्छा करने वालों को धर्म कार्य में कृपणता महान हानि पहुंचाने वाली है।

अर्थ:—शहर के विचारशील मनुष्यों को तो यह व्रत अवश्य ही करना चाहिये। इस व्रत के माहात्म्य से भव्यजीव नियम से मोक्ष के पात्र होगें।

अर्थ:—कर्मदहन व्रत की विधि जो यहां पर बतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध भावों से करेंगे वे अवश्य ही मोक्ष सुख को प्राप्त होंगे।

अर्थ— पूर्ण व्रत होने पर व्रत की फल की सिद्धि के लिये भव्य जीवों को व्रत का उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये। व्रत के उद्यापन की विधि–व्रती पुरुषों को शुभ भावों से श्री जिनेन्द्र भगवान के उत्तमोत्तम जिनबिंब निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये। चार प्रकार के संघ को अपनी शक्ति के अनुसार दान भी देना चाहिये। संघ को भोजन पान के द्वारा संतोषित करना चाहिये। नगर में अथवा ग्राम में उत्तम जिनालय बनवाकर उसमें छत्र–चमर घंटा आदि उपकरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रदान करना चाहिये। यह उत्कृष्ट विधि है। मध्यम भी की जाती है। इस प्रकार विधि पूर्वक व्रत करने से अभ्युदय की सिद्धि होती है।

यथा शक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप। एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्र्ययोगत: ॥ 48 ॥
अतो हि कायतो भव्या: कुरुध्वं द्विगुणमिदं। तत्समं हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत् ॥ 49 ॥
अनेन केवलेनैव तरिष्यंति नरोत्करा: । भजिष्यंति शिवशर्म सर्वाहस्यैव नाशनात् ॥ 50 ॥
असमगुणनिधानं सर्वव्रतेष मुख्यं। जिनवरमुखजातं कर्मसंतापहारं ॥
करमदहननाम चित्तमातंगसिंहं । परममतिप्रयुक्ता: भो भजध्वं त्रिशुद्ध्या ॥ 51 ॥
भो भव्या व्रतमुत्तमं शिवप्रदं येहि करिष्यंत्यहो। भक्त्या चैव कलौ सुनिर्जरघनैर्वंद्यंच पापापहं ॥
यास्यंत्येव शिवास्पदे मुनिनुते न्हासादिकर्माज्झिते । ज्ञात्वैवं बुधसत्तमा: सुविधिना कुर्वीध्वमेव व्रतं ॥ 52 ॥
बुधा वामा: चेदं कुरुत विधिना मोक्षसुखदं। तनो: सर्वे चांहा: प्रलयमनिशं अस्य करणात् ॥
इमां ज्ञात्वा यांति अमलमतिदं वा हि महिमां । भजंते हिचेमं मुनिवरगणास्तेपि ह्यमला: ॥ 53 ॥

अर्थ—हे राजन् यथाशक्ति व्रत का उद्यापन करना ही चाहिए। व्रतों की सिद्धि उद्यापन किये बिना नहीं होती है। जो इस प्रकार उद्यापन करने की शक्ति नहीं हो तो व्रत को द्विगुणित करना चाहिये। इस प्रकार द्विगुणित व्रत करने वालों को भी वही फल प्राप्त होता है।

हे राजन्! एक इसी व्रत के माहात्म्य से भव्यजीव संसार समुद्र से तरकर मोक्ष सुख को अवश्य ही प्राप्त होंगे।और समस्त पापों का नाश करेंगे।

अर्थ—यह व्रत उत्कृष्ट गुणों का खजाना है। समस्त व्रतों में मुख्यव्रत है। श्रीजिनेन्द्र भगवान के मुख कमल से प्रकाशित हुआ है। समस्त कर्मों का नाश करने वाला है। इसलिये मन वचन काय की शुद्धि से पालन करना चाहिये।

अर्थ:—हे भव्यजीव ! यह व्रत सर्वोत्कृष्ट और मुख्य व्रत है। इसको पालन करने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। देवगण भी इसकी वंदना करते हैं। समस्त पापों का नाश करने वाला यह व्रत है। इसलिये भव्यजीवों को विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिये।

अर्थ:—जो कोई स्त्री या पुरुष मोक्ष को प्रदान करने वाले इस पवित्र व्रत को विधि पूर्वक करेंगे उनके समस्त पाप नाश हो जायंगे। इस व्रत की यही महिमा है। जिसने भाव भक्ति से इसकी भावना भी की है वे सुख को प्राप्त हुए हैं। मुनिगण भी इस व्रत को धारण करते हैं।

श्रीसंमेदाचलप्रकरण

पंचमाभिधकालस्य भव्यानां शिवदायकम्। अन्यवृतं श्रृणु भूप श्रवणात्कल्मषापहं ॥ 1 ॥
श्रीमदिन्द्रदिशायांच विख्यातः सकलावनौ। नाम्ना सम्मेदशिखरो विद्यते च नगोत्तमः ॥ 2 ॥
सिद्धानां निकुरंवेण मूषितोऽनंतशर्मदः । सदैव पूजितो देवैः सच्छोभाभिरलंकृतः ॥ 3 ॥
श्रीमदजितनाथाद्य मदंते मगधेश्वर । असंख्याः तत्रतो मोक्षे मुजीन्द्राश्च गता वराः ॥ 4 ॥
श्रीमदजितपार्श्वांताः तीर्थनाथाः सुरैस्तुताः। तस्माद्धि मुक्तिमापन्न केवलज्ञानमंडिताः ॥ 5 ॥
तत्र तेषां जिनेन्द्राणां पृथक् पृथक् मनोहराः। कूटाः संति तदा पूज्याः सुरेन्द्रखेचरेश्वरैः ॥ 6 ॥

अर्थः—हे मगधेश्वर ! पंचमकालवर्ती भव्यजीवों के उपकारार्थ मोक्ष को प्रदान करने वाली एक कथा का वर्णन करता हूं जिसके श्रवणमात्र से पापों का नाश होता है।

अर्थः—हे राजन् ! श्री पूर्व दिशा में–समस्त भारत वर्ष में प्रसिद्ध–तीर्थराजों में श्रेष्ठ–जगतवंद्य ऐसा सम्मेदशिखर नाम का एक पर्वत है।

जिस पर्वत से असंख्य सिद्ध हुए हैं जो अनंत सुख को प्रदान करने की शक्ति से ही प्रसिद्ध है। अतएव देव उसकी निरंतर पूजा करते हैं।

हे मगधेश्वर ! श्री भगवान् अजितनाथ तीर्थंकर से श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर्यंत इस पर्वत से मोक्षधाम को पधारे हैं। और असंख्य मुनि गणों ने यहां से निर्वाणपद प्राप्त किया है। इसलिये यह निर्वाण क्षेत्र प्रसिद्ध है। बीस तीर्थंकरों ने मोक्ष इस पर्वतराज से ही प्राप्त की है।

अर्थ—सम्मेद शिखर पर्वत पर श्री जिनेन्द्र भगवान के मोक्ष स्थान प्राप्त करने के बीस तीर्थंकरों के पृथक् पृथक् बीस कूट हैं जिनकी पूजा देव विद्याधर आदि समस्त भव्य जीव करते हैं।

द्विदशप्रमतीर्थेशा गता: तस्मात् शिवालये। अन्ये तीर्थकरा: तूर्या: कस्मात् गता: शिवास्पदे ॥ 7 ॥
तत्सर्वं श्रृणु भूपालं कारणं कथयाम्यहं। समाधिना शिवकरं पापाद्रिभंजने पविम् ॥ 8 ॥
हुंडासर्पिणि कालस्य दोषादेव भवंति च। अंतरा: सिद्धक्षेत्राणां नान्यत्काले नराधिप ॥ 9 ॥
संमेदाचलत: सर्वे भरतस्था जिनेश्वरा: । याता यांत्येव यास्यंति ह्यसंख्यमुनिसंयुता: ॥ 10 ॥
सदा काले नराधीश मोक्षस्थाने च सुंदरे। हत्वा कर्मरिपून् सर्वान् अंत्यशुक्लासिना खलु ॥ 11 ॥
रचयंतिस्म भो भूप पुनरुत्पर्ति च सुरा: । सर्वप्रलय याते हि सदैव समये खलु ॥ 12 ॥
आदौ जातजिनेन्द्रस्य स्थित्यर्थं सकलां शुभाम् । पंचकल्याणयुक्तस्य महत्पुण्योदयाच्च ते ॥ 13 ॥

अर्थ:—हे राजन् इस प्रकार 20 तीर्थंकर असंख्य मुनियों के साथ श्रीसंमेद शिखर पर से वर्तमान चतुर्थ युग में मोक्ष को पधारे हैं। परंतु उस पर्वतराज से अनादि काल से अनंतकाल पर्यंत अनंत मुनीश्वर मोक्षगामी हुए हैं और होंगे।

इस वर्तमान चतुर्थ युग में संमेद शिखर से 20 बीस ही तीर्थंकर क्यों मोक्ष गये ? चार तीर्थंकर अन्य क्षेत्र से मोक्ष गये इसका कारण क्या ? श्रेणिक महाराज के उक्त प्रश्न से श्री महावीर स्वामी ने कहा कि श्रेणिक महाराज यह चतुर्थ युग हुंडासर्पिणिका था सो हुंडक काल दोष से इस प्रकार विभिन्नता हुई। अन्यथा यह नियम है कि अनादि काल से जितने तीर्थंकर उत्पन्न होंगे वे समस्त श्रीसंमेद शिखर से ही मोक्ष को जायंगे। इसलिये इस तीर्थराज को निर्वाण सदन कहते हैं। यह नियम है कि भरतक्षेत्र के समस्त तीर्थंकरों को मोक्ष स्थान अनादि निधन रूप श्रीसंमेदाचल ही है अन्य क्षेत्र नहीं। इस युग में जो चार तीर्थंकर मोक्ष को अन्य क्षेत्र से गये वह हुंडक नामक काल का दोष है।

अर्थ:—हे राजन् प्रलय काल में जब समस्त पदार्थ नष्ट हो जाते हैं तब देवगण इस पवित्र तीर्थ की रचना बार-बार प्रत्येक समय में करते हैं।

अर्थ:—हे राजन् ! युग की आदि में जब पंचकल्याण विभूषित श्री देवाधिदेव श्रीऋषभदेव के अवतार का समय हुआ तो महान पुण्योदय से उस अयोध्या नगरी में उनकी स्थिति के लिये शुभ रचना की कि जो अयोध्या नगरी अनादि काल से तीर्थंकर प्रभु के जन्म से पवित्र मानी है।

अयोध्यायास्तले चास्ति कमलांको ह्यतो नृप। तत्रैव रचनां तस्या: ते कुर्वंतिस्म निर्जरा: ॥ 14 ॥

स्वस्तिकांका नराधीश अब्धिपक्षप्रमा: शुभा:। सम्मेदाद्रितले संति कूटा: तेषां च मस्तके ॥ 15 ॥

सोपि अनादिकालाद्धि सम्मेदाभिधभूधर: । उत्पद्यते च तत्रैव मगधाधिप निश्चयात् ॥ 16 ॥

मुनींद्रा वा जिनेन्द्राश्च सर्वे ह्यनादिकालत:। असंख्याश्चाश्च तस्माद्धि शिवधाम व्रजंत्यहो ॥ 17 ॥

चंद्रप्रक्षप्रमस्तस्य विस्तारो लघुयोजनै:। त्वया ज्ञेयो नराधीश सिद्धवारयुतस्य वै ॥ 18 ॥

ह्येकवालाग्रमात्रापि सिद्धादृतेस्ति न सा धरा। सर्वत्रैव गता: वानयोगीन्द्राश्च शिवास्पदे ॥ 19 ॥

अयोध्या नगर का प्रलय के द्वारा विध्वंस होने पर देवगण उसी समय उस स्थान पर कमल का चिन्ह स्थापित करते हैं। और युग के प्रारंभ में जब तीर्थंकरों का जन्मावतार होता है तब उसी स्थान पर अयोध्या नगर की रचना की जाती है। इसलिये अयोध्या नगर कभी किसी काल में नष्ट नहीं होता है। अनादि है और उसी में समस्त तीर्थंकरों का जन्म होता है।

अर्थ—हे राजन्! इसी प्रकार श्री संमेदशिखर के नीचे चित्रा पृथ्वी पर 24 श्री तीर्थंकर देवों की निर्वाण कूटों के चौबीस स्वस्तिक चिन्ह हैं। प्रलयकाल के बाद उन चिन्हों के ऊपर ही कूट सहित संमेदशिखर भी अनादि तीर्थस्थान है वह किसी भी काल में नाश नहीं होगा और अनादि काल से वहां से ही समस्त तीर्थंकर मोक्ष पद को प्राप्त होंगे और हुए हैं।

अर्थ—हे राजन् यह संमेदशिखर तीर्थराज अनादिनिधन है। सदैव शाश्वत है। कभी किसी भी काल में इस तीर्थराज पर से असंख्य तीर्थंकर मोक्ष धाम को प्राप्त हो गये और होंगे। अनंत मुनीश्वर भी इस पवित्र तीर्थराज से मोक्ष को प्राप्त हो गए और होंगे।

इस सम्मेदशिखर का 12 योजन प्रमाण का विस्तार है और इसको परमागम में सिद्ध भूमि मानी है। सिद्धाचल भी इसी को कहते हैं।

हे राजन् इस पर्वत पर ऐसा कोई बाल (केश) बराबर क्षेत्र नहीं है कि जहां से कोई न कोई मुनीश्वर निर्वाण को प्राप्त न हुआ हो। बाल-बाल पर सिद्ध हुए हैं। इस पर्वत राज के कंकर-कंकर पर से सिद्ध हुए हैं। समस्त पर्वत ही सिद्धभूमि है।

अस्मिन् काले प्रयांत्येव तस्माद्धि कालदोषत: । द्विदशप्रमतीर्थेशा: द्विदशकूटतो नृप ॥ 20 ॥

सिद्धस्थानेच भव्यानां तारका निर्मलाशया: । दिव्यदेहधरा: पूज्या: सुरेन्द्रै: वा मुनीश्वरै: ॥ 21 ॥

नामानि किंच कूटानां अस्मिन् काले कियत्प्रमा: । मुक्तिं गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्वै सिद्धभूधरात् ॥ 22 ॥

एकस्यैव सुकूटस्य दर्शनात् किं फलं भवेत् । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ 23 ॥

तदनुसारतो भव्या भव्यानां शिवसिद्धये । व्याख्यानं तस्य कुर्वेहं सर्वसंसारतापहं ॥ 24 ॥

नत्वा श्री जिननायकान् गणधरान् देवेन्द्रवृंदार्चितान् । मौनीन्द्रान् सकलान् तथाच सुखदां जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम् ।

वाणी पापप्रणाशकां मुनिनुतां सद्बुद्धिदां पावनीं । सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्रं करोमि शुभम् ॥ 25 ॥

हे राजन् इस वर्तमान युग में काल के दोष से तो बीस तीर्थंकर और असंख्य मुनीश्वर मोक्ष को गए। चौबीस नहीं।

अर्थ:—तीर्थराज से दिव्य देह के धारक देवों से पूजित मुनीश्वरों से वंदनीय जगत को तारन करने वाले परम दिगंबर परम पवित्र ऐसे भी श्री तीर्थंकर प्रभु मोक्ष धाम को पधारते हैं।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराज ने श्री वीर प्रभु से तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी का अद्भुत रहस्य सुनकर प्रश्न किया कि हे प्रभो ! हे दयानिधे ! कृपाकर यह बतलाइये कि इस वर्तमान युग में उन कूटों से कितनी संख्या में मुनीश्वर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। एक एक कूट के दर्शन से क्या फल प्राप्त होता है ? यह सर्व वृत्तांत मैं आपके मुखकमल से श्रवण करना चाहता हूं। श्रेणिक महाराज के प्रश्नों से श्री वीर प्रभु ने जो सिद्धराज श्री संमेद शिखर का स्वरूप बतलाया है तदनुसार ही भव्यजीवों के कल्याण के लिये और संसार के दु:खों को दूर करने के लिये मैं वर्णन करता हूं।

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान अरहंत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवों को नमस्कार कर पाप को नाश करने वाली सुबुद्धि को प्रदान करने वाली भगवती जिनवाणी माता को नमस्कार कर श्री सम्मेद शिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हूं।

कूटस्य संख्यां सकलांहहान्यै, नामानि तेषां फलमद्भुतं च। संख्यां मुनीनां बुधसत्तमास्ते, शृण्वंतु ह्येकाग्रहृदाच वच्मि ॥ 26 ॥
यन्मस्तके संति सुराधिपार्च्या: पापाद्रिनाशे वरवज्रतुल्या: । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता: शून्यद्विसंख्या: कथिता जिनेन्द्रै: ॥
अर्कप्रभा: पूर्वदिशिहि कूटा: । वसुप्रभा: पश्चिमसद्दिशिच । एवं च ज्ञेया: शिवदा: सुराच्यां: तत्वार्थयुक्तै: बुधसत्तमैश्च ॥ 27 ॥
वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननूतनाश्च । ह्यशीतिकोट्य: प्रमितार्युदैवै: । मुनीश्वरा: श्रीअजितस्य काले । मुक्तिंगता: सिद्धवराश्च कूटात् ॥ 28 ॥
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्ध्या । यो भव्यमर्त्य: श्रृणुथ फलं तत् । सद्दर्शनं सैव लभेत्फलं च । पक्षाग्निकोटिप्रमप्रोषधानाम् ॥ 29 ॥
एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै । काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽहं । नमामि संसारपयोधिनस्ते । उद्धर्तुमीशा: सुरनाथवंद्या: ॥ 30 ॥
नेत्राब्धिपंचैव शतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनीद्रवंद्या: । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोट्यो नव सर्वमुनीश्वराश्च ॥ 31 ॥
धवलादिदत्तात् शुभनामकूटात् गतांहनाशात् वरसिद्धतां च । संसारदावानलमेघपुष्पा: स्वदेहमातर्जितपुष्पदंता: ॥ 32 ॥

अर्थ:—हे राजन् मगधाधीश ! समस्त प्रकार के पापों का संहार करने वाले ऐसे कूटों की संख्या उनके नाम, उनके दर्शन करने का फल, और उन कूटों से मोक्षपद को प्राप्त हुए मुनीश्वरों की संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हूं। सो एकाग्र मन से सावधान होकर श्रवण कर।

अर्थ:—हे राजन् (इस वर्तमान युग में सिद्धाचल श्रीसम्मेद शिखर पर देवों से पूजित पापों को नाश करने वाले अतिशय मनोज्ञ और तीर्थंकर प्रभु के निर्वाण स्थानभूत ऐसे बीस कूट श्री जिनेद्र देव ने बतलाये हैं। जिनमें से बारह कूट तो पूर्व दिशा में विराजमान हैं और आठ कूट पश्चिम दिशा में सुशोभित हैं। इस प्रकार शुभ कूट बीस हैं।

अर्थ—हे मगधाधिप श्रीसंमेदशिखर पर्वत पर सिद्धवर नामक कूट से श्री अजितनाथ भगवान चौरासी अरब चौरासी करोड़ चौपन लाख मुनीश्वर सहित मोक्ष पद को प्राप्त हुए। जो भव्य जीव इस कूट का दर्शन मन वचन कार्य की शुद्धि से और विशुद्ध परिणामों से करता है उसको बत्तीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है। जो इस कूट से दिगंबर मुनीश्वर कर्मों को नाश कर निर्वाण पद को प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्ति से नमस्कार करता हूं। मुझे वे प्रभु असार संसार से पार करें।

अर्थ:—धवलदत्तकूट से नो कोडाकोडि बहत्तर लाख दो हजार पांच सौ ब्यालीस मुनि श्रीभगवान पुष्पदंत के समय में पापों को नाश कर मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। जो भव्य जीव इस कूट का दर्शन भावभक्ति से करे वह ब्यालीस लाख उपवास का फल प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है।

यस्येक्षणाद्भव्यनृणां च प्राप्तिः कराब्धिलक्षप्रमप्रोषधानां। भवेच नो संशयः चात्र भव्या ह्यनुक्रमात् मोक्षपदस्य प्राप्तिः ॥ 33 ॥
आनंदकूटाच्च गता मुनीन्द्राः पंचप्रमाः ह्यष्टशतानि चैव ॥ मित्रेक्षसहस्रैवससप्ततिर्हि। लक्षास्तथा सप्ततिकोट्यो वै ॥ 34 ॥
गुणाश्च कोट्यश्च पुनश्च कोटिः। एते च यस्मात् सकलांहनाशात् ॥ यद्वंदनात् भव्यनरो लभेत् वै। द्व्यष्टप्रमलक्षसुप्रोषधं च ॥ 35 ॥
एकाशीतिसप्तशतानि नेत्राद्रिप्रमलक्षाः यस्मात्। चतुरशीतिकोटिस्ततो वै अर्बुदैको ह्यविचलकूटात् ॥ 36 ॥
पुरेक्षये संयमपालनाद्धि मुनीश्वराः केवलज्ञानयुक्ताः। गताः सुरेन्द्रादिगणैः प्रपूज्याः कर्मादिमातंगविघातसिंहाः ॥ 37 ॥
एकैव कोटिप्रमप्रोषधानां फलं च प्राप्नोति करोति यस्य। सद्वदनां यः शुभभावशुद्ध्या स वै वाविलंबेन तथा शिवं च ॥ 38 ॥
सप्ताधिका विंशतिवा च सप्त। शतप्रमा मोहनकूटतो वै ॥ यस्मात्पुनः पक्षसुबंधयुक्ताः । धीराः सहस्रासुरनाथवंद्याः ॥ 39 ॥
लक्षाब्ध्यशीतिः पुनर्धर्मतीर्थात्। शतैकमध्ये खलु एकहीनः ॥ कोट्यो गताः मोक्षपुरे मनोज्ञे। अनंतशर्माणंवमप्रदेहाः ॥ 40 ॥

अर्थः—आनंदकूट से अभिनंदन तीर्थंकर तथा तिहत्तर कोडाकोडि सत्तरकोडि सत्तरलाख चौपन हजार आठ सौ पांच मुनि समस्त पापों को नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए। इस कूट के दर्शन का फल सोलह लाख उपवास का है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने चतुर्विध संघ सहित यात्रा की। यह संघ सबसे भारी निकाला गया था। लाखों की संख्या में यात्री थे। सबकी चर्या संघ में होती थी।

अर्थः—अविचल कूट से सुमतिनाथ भगवान और एक अरब चौरासी करोड बासठ लाख सात सौ इक्यासी मुनि संयम को धारण कर मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं। जो भव्य इस कूट का दर्शन भावभक्ति से त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड़ उपवास का फल प्राप्त करता है। इस कूट की चतुर्विध संघ सहित यात्रा श्री आनंदसेन महाराज ने की थी जिसमें मुनिगण आदि सर्व ही संघ भारी संख्या में था। सुमति भगवान के समय में एक हजार मुनि मोक्ष गये। बाकी उनके शासन समय में मोक्ष को प्राप्त हुये।

अर्थ—मोहनकूट से पद्मप्रभु तीर्थंकर और निन्यानवे करोड़ चौरासी लाख ब्यालीस हजार सात सो सात मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए। पद्मप्रभु भगवान के समय में एक हजार मुनि मोक्ष को गए। बाकी मुनिगण उनके शासन समय में मोक्ष को गए। इस कूट के दर्शन भाव भक्ति से त्रिशुद्धि पूर्वक करता है वह एक करोड़ उपवास का फल प्राप्त करता है। इसकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित सुप्रभ राजा ने की।

यद्वंदनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै। कोट्येकसत्प्रोषधजं फलं च ॥ अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या। तं तीर्थराजं शिवदायकं च ॥ 41 ॥
प्रभासकूटात् करमित्रसंख्या सप्तशतानिच सहस्रसप्त। द्विसप्ततिलक्षप्रभा यतीन्द्राः कोट्यशीतिः चतुरुत्तरा च ॥ 42 ॥
रंध्रेवबंधुप्रमकोटिकोट्यः गताश्च मोक्षे सुरराजपूज्याः । यद्दर्शनात्प्राप्तिर्भवेच भव्याः द्वित्र्येवकोटिप्रमप्रोषधानां ॥ 43 ॥
घटाच अंते ललितैवकूटात् द्विपंचपंचैव शतानि यस्मात्। पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ताः अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥ 44 ॥
द्विसप्ततिकोटिसुकोटिकोट्यः वेदोत्तराशीतिगताः शिवं च। यद्वंदनात् षोडशलक्षकानां स प्रोषधनां च फलं लभेत् वै ॥ 45 ॥
अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुनः सहस्रेन्दुनगैवलक्षाः। मुनीश्वराः सुप्रभनामकूटात् एकोनमध्ये शतकोट्यश्च ॥ 46 ॥
यद्वंदनात् भव्यजनः सुभक्त्या फलंच कोटिप्रमप्नोषधानां। आन्पोति नो संशय भो बुधौघाः मोक्षाप्तये तंच सदा प्रवंदे ॥ 47 ॥
शतैक पंचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्राः करिसंघुसंख्याः। कराग्निलक्षाः पुनः पक्षवेद अष्टादशैव खलु कोटिकोट्यः ॥ 48 ॥

अर्थ—प्रभासकूट से सुपार्श्वनाथ भगवान और नवासी कोडाकोडि चौरासी करोड़ बहत्तर लाख सात हजार सात सौ ब्यालीस मुनिगण मोक्ष को पधारे। इसके दर्शन का फल बत्तीस करोड़ उपवास का है। इसकी यात्रा उद्योत नाम के राजा ने एक बडे भारी चतुःर्विध के साथ की थी जिसमें मुनिगणों की हजारों से भी अधिक संख्या थी। इस कूट की रज लगाने से कुष्ट रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटों की यात्रा के समान इसका फल है।

अर्थ—ललितघट कूट से श्रीचन्द्रप्रभ जिनेंद्र और चौरासी कोडाकोडि बहत्तर करोड़ अस्सी लाख चौरासी हजार पांच सौ बावन मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूट के दर्शन व संघसहित यात्रा ललितदत्त राजा ने की सोलह उपवास का फल इसके दर्शन से होता है।

अर्थ:—सुप्रभकूट से पुष्पदंत भगवान तथा निन्यानवे करोड़ निन्यानवे लाख छ्यासठ हजार चार सौ अस्सी मुनिगण मोक्ष को पधारे। जिसकी भाव विशुद्धि से वंदना करने का फल एक करोड़ उपवास का होता है। इसकी वंदना उस समय सोमप्रभ राजा ने चतुर्विध संघ सहित की थी।

विधूद्धरान्मोक्षपुरे मुनीन्द्रा गताश्च कूटात् सकलाघनाशात्। यद्वंदनात् षोडशलक्षकानां चतुर्थकानांच फलं भवेद्धि ॥ 49 ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि पंच द्विरंध्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनंदकोटिप्रमवैर्मुनीन्द्राः । यस्माच्च कूटात् वरसंकुलाच ॥ 50 ॥
नवादि अंते ऋतुकोटिकोट्याः सद्धर्धका मोक्षपुरे गताश्च। प्राप्तिर्भवेद्यस्य सुवंदनाच्च फलंच कोट्येकसुप्रोषधानां ॥ 51 ॥
द्विवेदयुक्तश्च शतानि सप्त सहस्राणि षट्त्रिंसूक्तलक्षाः । अभ्रारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् मुनीश्वरा मोक्षपुरे सुखार्के ॥ 52 ॥
वीरादिअंते शुभसंकुलाच्च यो भव्यजीवः कुरुतेच यस्य। सदूर्शन सैव लभेत् फलंच कोट्येकसंख्यायुतप्रोषधानां ॥ 53 ॥
स्वयंभूकूटात् शिवपत्तनेच शतानि सप्तैव यतीश्वराश्च। सुरेन्द्रवंद्याः पुनः सप्ततिर्हि लक्षाः सहस्राश्च तथैव ज्ञेयाः ॥ 54 ॥
गताः पुनः सप्ततिकोटयश्च यो वंदयत्येव सुभावतो वै। प्राप्नोति सैव खलु प्रोषधानां कोट्येक भव्योत्तम सत्फलंच ॥ 55 ॥
पंचोत्तरा रंद्रप्रमा मुनीन्द्राः शतानि पंचैव तथा नवैव। लक्षाः सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकेनविंशत्यूनकोट्यश्च ॥ 56 ॥

अर्थ:—विधूद्धर नामक कूट से श्री शीतलनाथ भगवान तथा अठारह कोडाकोडि व्यालीस करोड़ बत्तीस लाख व्यालीस हजार पांच सौ मुनिगण मोक्ष को पधारे। इस कूट के दर्शन का फल सोलह लाख उपवास का है। अविचल नाम के राजा ने संघ सहित यात्रा की।

अर्थ:—संकुलकूट से श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा छानवे कोडाकोडि छानवे करोड़ छानवे लाख बानवे हजार पांच सौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे।

इस कूट के दर्शन का फल एक कोटी उपवास का है। इसकी यात्रा आनंदसेन राजा ने चतुर्विध संघ सहित की।

अर्थ—सुवीर नाम के कूट से विमलनाथ भगवान तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सात सौ व्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूट का दर्शन करने से एक करोड उपवास का फल प्राप्त होता है। इसकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित सुप्रभनाम के राजाने की थी।

अर्थ:—स्वयंभु नामक कूट से अनंतनाथ तीर्थंकर तथा सत्तर करोड़ लाख सत्तर हजार सात सौ मुनि गण मोक्ष पधारे। इसके दर्शन का फल एक करोड़ उपवास का है। इस कूट का दर्शन चारुसेन राजा ने किया।

कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकेनविंशतिसंख्यवत्यः। मोक्षेपुरे शर्मनिवेतने च सुदत्त आदिवर अंत कूटात् ॥ 57 ॥
यस्यैव कूटस्य सुवंदनाच्च कोटिप्रमप्रोषधजं फलं च। भव्यो लभेत् संशय नोत्र भव्या वंदे च तं शर्मप्रदं सदा हि ॥ 58 ॥
प्रभासकूटात् सुरनाथवंद्याः सद्ध्यानघर्मेण विधूतपापाः। शतमध्य एकेन शतानि रंध्र सहस्राणि नवैव तैवलशाः ॥ 59 ॥
नवैव कोट्युक्त पुनश्च कोटिरेते शिवे धर्मधरा गताश्च। श्रीशांतिनाथस्य सुकूटमध्ये संसारसिंधोः मथक्र मुनीन्द्राः ॥ 60 ॥
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्धया योदर्शनं सैव लभेत् फलं च। एकस्य कोटिप्रमप्रोषधस्य ब्रम्माद्धि मोक्षं सकलांहनाशनात् ॥ 61 ॥
द्विवेदयुक्तश्च शतानि सप्त यस्मान्मुनीन्द्राः शिवप्राप्तिरेव। सहस्रोपमाः षट्पुनः नंदकश्च कात्रिलक्षा हतकर्मकूटाः ॥ 62 ॥
ऋतुस्तथारंध्रप्रमाश्च कोट्यो रसाख्यनंदोपकमकोटिकोट्यः। गताः मनः पापविभंजकश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥ 63 ॥
अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधजं फलं च। लभेच्च भव्यो बुधसत्तमाश्च नमामि तं चैव सदा त्रिकाले ॥ 64 ॥
नवतिनवसहस्रा वाच लक्षास्तथैव। नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यंतकूटात् ॥
सकलविधिविनाशात्सत्पुरे मोक्षसंज्ञे। अमलगुणनिधानाः संगता लेखपूज्याः ॥ 65 ॥

अर्थः—सुदत्त नामक कूट से श्री धर्मनाथ भगवान तथा उनईस (उगनीस) कोडाकोडि उगनीस करोड नवलाख नवहजार पांच सौ पिचानवे मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूट का दर्शन करने का फल एक करोड़ उपवास का है। इस कूट की यात्रा विभीवसेन राजा ने चतुर्विध संघ सहित की।

अर्थः—प्रभास कूट से श्री शांतिनाथ भगवान तथा एक कोडाकोडि नव करोड़ नव लाख नव हजार नौ सौ निन्यानवे मुनिगण मोक्ष पधारे। इस कूट के दर्शन का फल एक करोड़ उपवास का है। इसकी यात्रा सुदर्शन राजा ने चतुर्विध संघ सहित की थी।

अर्थः—श्रीज्ञानधर कूट से कुंथुनाथ भगवान तथा छ्यानवे करोड़ बत्तीस लाख छ्यानवे हजार सात सौ ब्यालीस मुनिगण सिद्ध पद को प्राप्त हुए। इस कूट के दर्शन का फल एक करोड़ उपवास का फल है। इसकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सोमधर राजा ने की थी।

अर्थः—नाटक नाम कूट से श्री भगवान अरहनाथ स्वामी तथा व्यानवे लाख व्यानवे हजार मुनिगण सिद्धपद को प्राप्त हुये। इस कूट के दर्शन का फल छ्यानवे करोड़ उपवास का है। इसकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सुप्रभ राजा ने की।

प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतु: हि भव्या: । षट्रंध्र कोटि प्रमप्रोषधानां ॥

यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि: । ह्यनुक्रमान्नात्र हि संशयश्च ॥ 66 ॥

षट्नंकदोट्योवरसंवलाख्य कूटान्मुनीन्द्रा: शिवसत्पुरे च। गताश्च स्वकर्मविघातनाच श्रीमल्लिनाथस्य सुकालमध्ये ॥ 67 ॥

षट्रंध्रकोटिप्रमप्रोषधानां फलस्य प्राप्ति: खलु संभवेच्च। तदृर्शनादनुक्रमत: शिवस्य शिवाप्तये तं च सदा प्रवंदे ॥ 68 ॥

नवैक्ययुक्ता: वरनिर्जराख्य एकोनशतयुक्तशतानि कुटात्। लक्षा नवैव सुरवारपूज्या: त्रिन्यूनशतकोटियतीश्वराश्च ॥ 69 ॥

एकोनशतकोटि तथैव कोटि: गता: शिवे पापविघातनाच। यद्दर्शनात्कोटिसुप्रोषधानां फलं भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ 70 ॥

अभ्राब्धियुक्ताश्च शतानिरंध्रगणनित्र आदिसुनामकूटात्। मुनीश्वरा: सप्तसहस्रयुक्ता: पंचाब्धियुक्ता: सकलर्तिदुरा: ॥ 71 ॥

एकार्बुद: संयमपालनाच कोट्युक्तकोट्यो नवसत्प्रयुक्ता: । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धा: सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययेच ॥ 72 ॥

एकैवकोटयु पमप्रोषधानं फलं लभेद्य: कुरुते सुभावात। यस्येक्षणं भव्यनरोत्तमो वै वंदे सदा शर्मप्रदं शिवाय ॥ 73 ॥

अर्थ:—संवलनाम कूट से श्री मल्लिनाथ भगवान तथा छयानवे करोड़ मुनिगण सिद्ध पद को प्राप्त हुए। इस कूट के दर्शन से छयानवे करोड़ उपवास का फल प्राप्त होता है। इस कूट की वंदना–चतुर्विध संघ सहित सत्यसेन राजा ने की थी। इस संघ में मुनिगणों की संख्या बहुत थी।

अर्थ—निर्जर नाम के कूट से मुनिसुव्रत भगवान तथा निन्यानवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड़ नो लाख नो सौ निन्यानवें मुनिगण सिद्ध पद को प्राप्त हुए। इस कूट के दर्शन का फल एक करोड़ उपवास का फल है। इस कूट की वंदना चतुर्विध संघ सहित और अतिशय विभूति के साथ श्री रामचंद्र नाम के बलभद्र ने की।

अर्थ:—श्री मित्रधर नाम कूट से श्री नमिनाथ भगवान तथा एक अरब नव करोड पैंतालीस लाख सात हजार नव सौ चालीस मुनिगण मोक्षपद को प्राप्त हुये। इस कूट के दर्शन का फल एक करोड़ उपवास का है। इस कूट का दर्शन चतुर्विध संघ सहित मेघदंत राजा ने किया था।

अर्थ:—श्री सुवर्णभद्र कूट से श्री पार्श्वनाथ भगवान तथा चौरासी लाख मुनिगण मोक्षपद को प्राप्त हुये। इस कूट के दर्शन करने का फल चौरासी लाख उपवास का है। इस कूट की चतुर्विध संघ सहित यात्रा सुप्रभावसेन राजा ने की।

सुवर्णभद्रात् वरकूटतो वै लक्षाः ह्यशीतिः चतुरुत्तराश्च । मोक्षं गताः सर्वमुनीश्वराश्च सर्वाहनाशात्सुरनाथवंद्याः ॥ 74 ॥

यस्यैव कूटस्य सुदर्शनेन भव्यो लभत्येव फलं वरं च । मित्राष्टलक्षप्रमपोषधानामीडे सदा तं शिवदायकंच ॥ 75 ॥

एकस्य कूटस्य सुदर्शनेन भव्योत्तराः मुक्तिपदे गताश्च । संप्राप्य शर्म परमं ततोवै जरादिदुःवर्मविवर्जिताश्च ॥ 76 ॥

यः सर्वकूटस्य सुभावशुद्ध्या करोति तस्यैव सुदर्शनंच । वक्तुंफलं तस्य क्षमो न कोपि बिना जिनेन्द्रैर्हतकर्मव्यूहैः ॥ 77 ॥

चंपापुरबहिर्भागमंदराभिधभुधरात् । वासुपूज्यजिनाधीशः शिवस्थाने गतो नृप ॥ 78 ॥

अन्येपि बहवस्तस्मात्संपाल्य परमं तपः । मोक्षेगुः मुनयो धीराः अतः सोपि नगोत्तमः ॥ 79 ॥

ईशानस्य सुकोणस्थकैलासाद्रेः वृषाधिपः । गतश्च शाश्वते स्थाने आदिनाथो दयापतिः ॥ 80 ॥

यस्मादप्येव संप्राप्ता मुनीन्द्राः शर्म सत्पदे । उत्पाद्य परमं बोधं भूपाः सहस्रशः खलु ॥ 81 ॥

अर्थ—एक ही कूट के दर्शन करने के फल से अनेक भव्यजीव मोक्ष पद को प्राप्त हो चुके हैं। कितने ही भव्यजीवों ने जन्म जरा आदि क्लेशों का नाशकर परमसुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावों की विशुद्धि से मन वचन काय शुद्धतापूर्वक समस्त कूटों का दर्शन करें उसकी महिमा का वर्णन क्या कहा जाता है। उसकी महिमा श्री अरहंत भगवान ही कहने में समर्थ हैं।

हे राजन् हे श्रेणिक चंपापुर नगर के बहिर्भाग में एक मंदराद्रि नाम के पर्वत से श्री वासुपूज्य भगवान मोक्ष धाम को पधारे। मंदराचल पर्वत श्री वासुपूज्य स्वामी की निर्वाण भूमि है। इसलिए यह भी तीर्थरूप है।

अर्थ:—इस मंदराभिध पर्वत से श्री वासुपूज्य भगवान के सिवाय अनेक मुनिगण संयम का पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इसलिए यह पर्वत तीर्थभूमियों में अतिशय उत्तम है।

अर्थ—हे राजन् श्रेणिक! ईशान दिशा में कैलाश नाम के पर्वतराज से श्रीवृषभनाथ आदितीर्थंकर युग की आदि में मोक्ष धाम को पधारे और भी बहुत से मुनिगण परमबोध को प्राप्त कर उसी पर्वत से मोक्षपद को प्राप्त हुए। इसलिये कैलाश पर्वत भी निर्वाण भूमि और परमपवित्र तीर्थ है। कैलाश पर्वत अयोध्या नगर से पौने दो लाख कोश ईशान दिशा में है।

अयोध्याया द्विलक्षाश्च पादोना: क्रोशकास्तथा। तस्यांतरोहि जानीहि एतावत्प्रमितो नृप ॥ 82 ॥

सोरठाख्यसुदेशस्थ ऊर्जयंतनगाच्छुभात्। नेमिनाथजिनेन्द्रोहि गतोव्ययपुरे वरे ॥ 83 ॥

यं दृष्ट्वा भरतेश्वरोपि नृपते पूर्वंव भव्योत्तम: । प्रादात्तस्य सुरार्चितोवरद्रदा संधृत्य चित्ते इदं ।

अस्माद्यास्यति सत्पदे जिनपति: श्रीनेमिनाथाभिध: । अन्यैर्वाधविनाशकां मुनिनुतं प्रादक्षिणां संप्रदां ॥ 84 ॥

धृत्वा ध्यानमहो मुनीश्वरगणा: संसारपारं गता: । यस्मात् भो सुरनाथपूजितपदा: कर्मारिविध्वंसका: ॥

भव्यानां भवकूपतो नरवरा: उद्धर्तुमीशाश्च ते: कायाकर्मविवर्जिता मुनिनुता: पापद्रिवज्रोपमा: ॥ 85 ॥

मे भावि मगधाधीश पावापुरसरोवरात्। मुक्तिं त्वं निश्चयाद्विद्धि चतु:कर्मविनाशनात् ॥ 86 ॥

अर्थ:—सोरठ (सौराष्ट्र) देश में स्थित ऐसे गिरनार (ऊर्जयंत गिरी) पर्वत से श्री नेमिनाथ भगवान निर्वाण पद को प्राप्त होकर मोक्ष को गये।

अर्थ:—जिस ऊर्जयंत पर्वत को (गिरनार पर्वत को) देख कर भरत चक्रवर्ती ने प्रथम ही यह एक बार अपने हृदय में निश्चय किया कि इस पर्वतराज श्री गिरनार से भगवान नेमिनाथ दुष्ट कर्मों का संहार कर मोक्ष पदको प्राप्त होंगे। इसलिये देवगण से पूजित और मुनिगणों से वंदनीय उस पर्वतराज की तीन प्रदक्षिणायें दी।

भावार्थ:—गिरनार पर्वत को भावी तीर्थ समझकर प्रदक्षिणा दी और पूजा की।

जिस पर्वत पर मुनीश्वरजण उत्तम ध्यान को धरकर संसार से पार होजवे जिसकी देवजण पूजा करते हैं ऐसे पर्वत पर अजणित मुनिवों ने अपने कर्मों का नाश किया है। जो भव्य जीवों को संसार रूपी कूप से निकाल कर उत्तम सुख में निराबाध धारण करता है और जो पापों का नाश करने वाला है ऐसे तीर्थराज श्रीगिरनार के लिवे नमस्कार है।

अर्थ:—श्रेणिक महाराज के प्रश्न के वश से तीर्थेश अरहंत वर्द्धमान (महावीर प्रभु) स्वामी ने कहा कि हे श्रेणिक मेरा निर्वाण पावापुर सरोवर के मध्यभाग से होगा यह तू निश्चय समझ। अर्थात् महावीर प्रभु ने कहा कि मैं चार अघातिया कर्मों का नाश कर पावापुर के सरोवर से मोक्षपद को प्राप्त होऊगा।

सम्मेदशिखरस्यैव करिष्यंति सुभावतः । दर्शनं विधिना मर्त्या ये वै भव्यसुकायजाः ॥ 87 ॥
शिवे यास्यंति ते भूप स विधिः कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ 88 ॥
भव्यजीवाहि तस्यैव चार्हा नान्ये कदाचन । तेषां मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यहं ॥ 89 ॥
नरकायुर्बंधजीवानां तिर्यगायुर्युतात्मनां । त्रिकाले नास्ति तेषांहि तदाप्तिर्नात्र संशयः ॥ 90 ॥
ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्वं मलीमषं । शुद्धदृष्टेः नराधीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ 91 ॥
नरकायुः तव बंधोभूत् मुनेः मारणपापतः । अतस्त्वं नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावितीर्थराट् ॥ 92 ॥
त्रयत्रिंशत्समुद्रायुः पूर्वबंधे बबंधच । सप्तमस्यैव श्वभ्रस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ 93 ॥

अर्थः—जो भव्यजीव शुभभावों से संमेद शिखर की यात्रा व दर्शन पूजा आदि विधिपूर्वक करेंगे वे भव्यजीव समस्त कर्मों का नाश कर निश्चय से मोक्ष पद को प्राप्त होंगे। वीर प्रभु से श्रेणिक महाराज ने श्री संमेद शिखर का इस प्रकार अद्‌भुत माहात्म्य सुनकर श्रीवीर प्रभु से प्रश्न किया कि हे प्रभो ! श्री तीर्थराज श्रीसम्मेद शिखर का दर्शन किस विधि से करना चाहिये ? आप दर्शन करने की जो विधि बतलायेंगे उसी विधि से हे वीरेश मेरी भावना दर्शन करने की है।

अर्थः—हे श्रेणिक ! श्रीतीर्थराज श्री संमेद शिखर की यात्रा भव्यजीवों को ही होती है। अभव्यों को सर्वथा नहीं होती है। भव्यजीवों में से भी जिन जीवों के नरक तथा तिर्यंच आयु का वंध नहीं हुआ है उनको ही यात्रा होगी। हे श्रेणिक महाराज ! तुझको उस पवित्र तीर्थराज के दर्शन होने दुर्लभ हैं क्यों कि तू इसके योग्य नहीं है। तूने मुनीश्वर को मारने के भावों से नरक की आयु का बंध किया है। यद्यपि तू भावी तीर्थेश है तो भी नरका आयु का बंध होने से तुझ को दर्शन होना दुर्लभ है। इसलिये मन में इसका खेदभाव न कर।

अर्थः—हे श्रेणिक महाराज मुनि के मारण के समय तेरे ऐसे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तेरी नरक की गति और उसमें तेतीस सागर की आयु का बंध हुआ। परंतु चेलना रानी के संयोग से फिर भी मुनि के दर्शन कर पुण्य संपादन करने के भाव तेरे हुए और तुने जो पाप किया था उसकी निंदा गर्हा आदि हो जाने से तूने अपनी नरक की स्थिति बंध को कम कर दिया अर्थात्

राज्ञीसंयोगतो तेहि प्रलयं स गतो नृप। वेदाष्टसहस्रमानो सोमश्चभ्रायु: तेस्ति वै ॥ 94 ॥
स्थितिबंधस्य हानिर्हि गतिबंधस्य नो भवेत्। अतो भो मगधाधीश त्वं तद् मोक्ष्यसि तत्र हि ॥ 95 ॥
नरकगत्यानुयुक्तानां तदासिर्नास्ति निश्चयात्। मा दु:खं कुरु तस्यैव त्वं भावितीर्थनायक: ॥ 96 ॥
सर्वविद्याधिपो भूप दशाननसमाव्हय:। भूचरै: खेचरैर्वंद्य: त्रिखंडावनिपालक: ॥ 97 ॥
ईदृशोपि गतो यत्र वने सिद्धाचलस्य वै। दर्शनं नोऽभजत् तूर्णमाजगाम स्वमास्पदं ॥ 98 ॥
अनेकाश्च महीपाल नो प्रापु: तस्य दर्शनं। मध्यभागात् समाजग्मु: स्वालयं मगधाधिप ॥ 99 ॥
सगरो मघवा चक्री सनत्कुमारसंज्ञक:। आनंदाव्हयभूपेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनामाक् ॥ 100 ॥

तेतीस सागर से घटाकर 84000 हजार की स्वल्पायु हो गई। परंतु नरक आयुका बंध नहीं छूटा। आयुबंध नहीं छूटता है परन्तु स्थितिबंध कम हो जाता है। इसलिए हे श्रेणिक तुझ को श्री तीर्थराज का दर्शन होना दुर्लभ है परन्तु हे भावि तीर्थराट् इसका तू अब विचार मत कर। इसका एक उदाहरण मैं बतलाता हूं उसको श्रवण कर जिससे सन्तोष होगा।

अर्थ:—सर्व विद्या का स्वामी भूचर और विद्याधर राजाओं से पूजित महासत्ताधारी तीन खंड का स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसंग से संमेदशिखर के वन समीप जाने पर भी उसको तीर्थराज का दर्शन नहीं हुआ। क्योंकि रावण ने इसके प्रथम नरकायुका बंध किया था। इसलिये इस उदाहरण से हे श्रेणिक महाराज! नरक गति का बंध करने वाले जीवों को श्री तीर्थराज का दर्शन नहीं होता है। ऐसे अनेक राजगणों को इसी कारण से इस तीर्थराज के दर्शन नहीं हुए। तीर्थराज के जाने के पहले-पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पड़ा। इसलिये हे मगधाधीश तू भी इसका प्रयत्न मत कर।

अर्थ:—हे श्रेणिक महाराज निम्न लिखित राजाओं ने श्री संमेद शिखर की चतुर्विध संघ सहित और विधि पूर्वक यात्रा की। अर्थात् वहां पर अपने-अपने तीर्थंकर के समय में उनने संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) सहित कूटों की स्थापना की-कूटों की प्रतिष्ठायें कराई-इस कूट से अमुक तीर्थंकर मोक्ष को पधारे हैं और इस कूट का आज से यह नाम है ऐसी प्रसिद्धि सर्वत्र की। उन राजाओं के शुभ नाम:—

द्योतकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसंज्ञक: । कुंदप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक: ॥ 101 ॥

वरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम: । पुनरविचलभूपाल: आनंदश्रेणिको नृप: ॥ 102 ॥

सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसंज्ञक: । भावदत्तकभूपाल: सुंदरो नरनायक ॥ 103 ॥

रामचंद्राभिधो भूपस्तथा अमर श्रेणिक: । सुवसंतो महीपाल: पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ 104 ॥

इमे विख्याततां जाता भव्या: संघाधिपा नृपा: । यात्राया: करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न संशय: ॥ 105 ॥

सिद्धवरादिकूटानां प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषां नोहि संख्याचज्ञेया भो चेलनापते ॥ 106 ॥

इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिमीयु: नरेश्वर । केवलं दर्शनेनैव संभुक्त्वा राज्यसंपदां ॥ 107 ॥

1. सगर 2. मधवा 3. सनत्कुमार 4. आनंदकुमार 5. प्रभासेन 6. द्योतक
7. ललितदत 8. कुन्दप्रभ 9. शुभसेन 10. वरदत 11. सोमप्रभ 12. अविचल
13. आनंदसेन 14. सुप्रभ 15. चारुसेन 16. भावदत्त 17. सुंदरसेन 18. रामचंद्र
19. अमरसेन 20. सुवसंत ।

उपरोक्त राजगण संघाधिप (संघपति) के पद से प्रसिद्ध हुए। समस्त प्रजा ने इन राजगणों को श्री संमेद शिखर की चतुर्विध संघ सहित और प्रतिष्ठा करने के लिये ही संघपति पद प्रदान किया।

हे मगधाधिप उपरोक्त संघपति राजाओं ने विधिपूर्वक (संघ सहित और प्रतिष्ठादि कराकर) यात्रा की इसलिये वे सब मुक्ति को प्राप्त हुए। इनके सिवाय असंख्य राजा श्री संमेदशिखर की यात्रा को गये और उत्तम सुख प्राप्त किया ।

इसलिये श्री संमेदशिखर की महिमा अपरंपार है । उसके दर्शन करने से भव्य जीवों को सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है ।

श्री सम्मेदशिखरयात्राया विधिः।

(श्रीसम्मेद शिखरयात्रायाः विधिं प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूयं श्रृणुथ।)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रा-सूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि । पश्चात् स्वनगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजनैः सह पंचकल्याणका भिधमंडलस्य विधिः करणीयः । पुनः जिनाग्रे इति जाप्यं कर्तव्यंओं अनंतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु-श्रीसम्मेद शिखरयात्रामहं करिष्ये। जातीपुष्पैश्चाष्टोत्तरशतप्रभं। पश्चात् सिद्धमंत्रभिः सिद्धजयां कृत्वा। पश्चात् जिनेश्वरस्य बिंब रथस्यहर-विष्टरमध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचंद्रोपकचामरादिसच्छोभा करणीया। चतुर्विधवदित्राणां अग्रे शब्दोत्करः कर्त्तव्याः। यदि द्रव्यशक्तिर्विशेषा स्यात्तर्हि-मुनि-आर्यिकौघश्च श्रावकश्राविकौघैः साकं गमनं कर्त्तव्यं।

"नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्यः" इति मार्गे जाप्यं जपनीयं चतुःपंचक्रोशप्रमाणमेव गमनं करणीयं। सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं। स्वः संघाधिपो भूत्वा-शुक्लांबराणि संधार्य शुक्लामेव मालां केर गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना सार्द्धं गमनं कर्तव्यं भोजनमप्येकवारं हि करणीयं। ब्रह्मचर्यं पालनीयं। सर्वेषां चतुर्विध संघस्थ भव्यमर्त्यानां वैयावृत्यं करणीयं । केषामपि न्यादपानादिषु दुःखं न देयं।

श्री संमेदशिखर यात्रा करने की विधि

अर्थः—हे श्रेणिक महाराज अब श्री सम्मेदशिखर की यात्रा किस प्रकार करनी चाहिए उसकी विधि बतलाते हैं। भव्य जीवों को सावधान पूर्वक श्रवण करनी चाहिए।

श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करने वाले भव्योत्तम को सबसे प्रथम-चतुर्विध संघसहित यात्रा करने के अपने भावों को सूचित करने वाली कुंकम पत्रिका प्रत्येक ग्रामों में आदर के साथ भेजनी चाहिए। फिर अपने नगर में समस्त भव्यजनों के साथ जिनालय में अतिशय ठाठ, बाट और भावभक्ति से जाकर पंचकल्याणक विधान का मंडल बनाकर पूजा करनी चाहिये। भव्य जीवों को भोजनपान आदि के द्वारा आदर सत्कार करना चाहिए। पूजा पूर्ण हो जाने के बाद "ओं अनंतानंतप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्मेदशिखर यात्रामहं करिष्यते" इस मंत्र के द्वारा एक सौ आठ (108) जुही के फूलों से जाप देनी चाहिये। फिर

सिद्धमंत्रों के द्वारा सिद्ध भगवान की पूजा भावभक्ति और उनके गुणों के चिंतवन द्वारा करनी चाहिये। फिर श्रीजिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा को रथ में विराजमान करनी चाहिये। रथ का श्रृंगार करना चाहिये। रथ को सुंदर सिंहासन-छत्र-चमर-चंदोवा-घंटा झालर-ध्वजा-क्षुद्रघंटिका अष्ट मंगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्यों से सुशोभित करना चाहिये। चार प्रकार वादित्रों के साथ महान उत्सव पूर्वक भगवान के रथ को आगे रखकर गमन करना चाहिये। जो द्रव्य की शक्ति हो तो मुनि-आर्यिका-श्रावक -श्राविका के समूह कर चतुर्विध संघ के साथ गमन करना चाहिये। सबके योग्य वाहन आदि की व्यवस्था कर सुख पूर्वक गमन करना चाहिये। जिससे समस्त भव्यगणों को संतोष हो और विशुद्ध भाव रहें।

मार्ग में "नमोस्तु सर्वसिद्धेभ्य-" इस मंत्र की जाप्य देनी चाहिये। जाप्य स्फटिक मणि की सफेद हो। संघपति को स्वयं यह कार्य करना चाहिये। संघपति को सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये। समस्त जीवों के सुख के लिये प्रति दिवस चार पांच कोश ही गमन करना चाहिये। संघ पति को वाहन के बिना पैदल मुनिगणों के साथ-साथ गमन करना चाहिये और दूसरे भव्यजीवों को उनके योग्य वाहनादि की यथेष्ट व्यवस्था कर देनी चाहिये। संघपति को एकबार भोजन करना चाहिये और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। संघ में सब की वैयावृत्य सेवा सुश्रूषा करना चाहिये। किसी को किसी प्रकार का दुख न हो उसकी पूर्ण सावधानी रखना चाहिये। किसी भी जीव को अन्न पान आदि का जरा भी कष्ट न हो ऐसी व्यवस्था करना चाहिए। सबको सुंदर भोजन पान के द्वारा नित्य ही संतोष कराना चाहिए।

नित्यश: सर्वेषां न्याद्पानादिना संतोषणीयं। पंचामृतरसैर्जिनेंद्रस्य मार्गे वासरं प्रति स्नानं करणीयं। पश्चात् वसुविध द्रव्योत्करै: पूजा कर्तव्या। दीन जनाय मार्गे दानं सदा देयं। वस्त्र भोजन पानादिकं। इत्यादि शुभविधिना सो वंदित: सन् द्वितीयेहि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षम:। नात्र संशय: ॥

मार्ग में श्री जिनेंद्र भगवान की प्रतिमा का पंचामृत के द्वारा अभिषेक करना चाहिए और फिर आठ द्रव्य के समूह से उत्सव के साथ पूजा प्रभावना करना चाहिए। दीन अनाथ दु:खी जीवों को करुणा दान भोजन वस्त्रादिक देना चाहिये।

उपरोक्त विधि से जो भव्य जीव श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा चतुर्विध संघ निकालकर करता है वह दूसरे ही भव में मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। इसमें संदेह नहीं।

अर्थ:—हे मगधेश्वर यदि द्रव्य के अभाव के कारण संघ चलाने की (शक्ति न हो तो) सम्मेदाचल की यात्रा इस प्रकार करनी चाहिये—

यदि गृहे द्रव्यस्य हीनता स्यात् तर्हि सम्मेदाचलस्य एवं यात्रा करणीया मंत्र जाप्य सैव सिद्धेज्या सैव कर्त्तव्या। न्यादमप्येकबारं सहब्रह्मचर्यंच। वाहनं विना गमनं कार्य। गवाक्षं वा क्रमेलकमगालितमुदकं नो पानीयं । तेषां खानपानेषु महद्यत्नं रक्षणीयं वालवृद्धानां दुःखं नो दातव्यं निःशल्यः सन् पथि सदा गमनं कर्त्तव्यं स्नानपूजादानकार्यादीन् कुर्वन् सन्।

भो मगधाधिप यः कलौभव्यः पुमान् एवं तस्य संमेदाचलस्य यात्रां करिष्यति स पंचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति।

यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्तिचेत् तदपि शक्त्यनुसारतः तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या। अवश्यमेव यूयं मोक्षे यास्यथ ॥

भो भव्याः शक्त्याः लोपनं मा कुरुध्वं। अस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापालयः प्रलयं यांत्येव नात्र संदेहः ॥

पूर्व प्रकरण में जो जाप्य बतलाई है वह तो नित्य देनी ही चाहिये। सिद्ध भगवान की पूजा जो प्रथम बतलाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये। भोजन भी एक बार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। वाहन बिना ही पैदल यात्रा करना चाहिये।

गाय-बलद-या गाडी-घोड़ा आदि जो वाहन अपने साथ में हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये । खानपान में किसी प्रकार का दुःख न हो ऐसी सुंदर व्यवस्था रखनी चाहिये। अपने संघ में बालक स्त्री-वृद्ध पुरुष होवें उनकी सेवा सुश्रुषा उत्तम प्रकार से करनी चाहिये। किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो। मार्ग में दान पूजा आदि करता हुआ निःशल्य गमन करे। किसी प्रकार की संकल्प भावना न करे और जो भव्य अपने साथ यात्रा करने के लिये आये हों उनकी यथेष्ट सहायता करे। इस प्रकार यात्रा करने से पांचवें या दसवें भव में मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अर्थः—हे मगधेश्वर यदि पूर्वोक्त प्रकार की शक्ति न हो तो शक्ति के अनुसार यात्रा करनी चाहिये परंतु दान पूजा आदि कार्यों में शक्ति को नहीं छिपाना चाहिये। जो भव्यजीव निःशल्य भावों से शक्ति को नहीं छिपाकर तीर्थराज सम्मेद शिखर की यात्रा करेगा वह नियम से मोक्ष को प्राप्त होगा।

तीर्थराज के दर्शन मात्र से ही समस्त पाप नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं है।

ये नरा मगधाशीश ह्यनेन विधिना कलौ। यात्रां सम्मेदशैलस्य करिष्यंति शिवास्पदं ॥ 1 ॥

यास्यंति क्रमतः कर्मसंततेः नाशनात् खलु। प्राप्य संसारजं शर्म देवमानुष्ययोनिषु ॥ 2 ॥

सवाहनेन भो भूप करिष्यंति नराश्च ये। यात्रां तस्य भविष्यति कदा मोक्षं च तच्छृणु ॥ 3 ॥

रंध्रवेदभवं भुक्त्वा शिवस्थानं च ते ननु। तदग्रे नैव स्थास्यंति संसारे दुःखसंभृते ॥ 4 ॥

करिष्यंति शिवं येहि वाहनेन बिना नृप। यात्रां सम्मेदशैलस्य यास्यंति ते कदा श्रृणु ॥ 5 ॥

हिमांशुनेत्रपर्यंतभवजं शर्मबारिधिम्। भुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनिषु तत्प्रभावतः ॥ 6 ॥

पश्चात् प्राप्स्यंति वै मोक्षमनंतशर्मदायकं। सर्वपापविनिर्मुक्तमभव्यजनदुर्लभम् ॥ 7 ॥

तनोः वै यदि सामर्थ्यं नास्त्येव मार्गचालने। तदाहि वाहनेनैव कर्तव्यं तस्य दर्शनम् ॥ 8 ॥

अर्थ:—हे मगधेश्वर जो कोई भव्य जीव इस विधि से श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करेगा वह देव मनुष्य गति के उत्तमोत्तम सुखों को भोग कर क्रम से निर्वाण पद को अवश्य ही प्राप्त करेगा।

अर्थ:—हे मगधेश्वर जे भव्य जीव वाहन पर सवारी कर तीर्थ की यात्रा करे उसको मोक्ष 49 भव में प्राप्त होगी। इससे अधिक वह संसार में नहीं रहेगा।

अर्थ:—राजन् जो भव्य जीव सवारी के बिना ही पैदल भावों से यात्रा करें उनको बारह भव में मोक्ष नियम से होगी। देव मनुष्य आदि के उत्तम सुखों को भोग अनंत सुखों की खानि ऐसी मोक्ष में वे भव्य जीव बारहवें भव पर्यंत जायंगे मोक्ष को नियम से प्राप्त करेंगे। अभव्य जीवों को यह यात्रा होना दुर्लभ है।

अर्थ:—हे मगधेश्वर जो शरीर में शक्ति नहीं हो तो सवारी (वाहन) से ही संमेदशिखर की यात्रा करनी चाहिये। उससे भी वही मोक्ष फल प्राप्त होगा। परंतु सामर्थ्य के होते संते सवारी आदि पर बैठकर यात्रा नहीं करनी चाहिये। सामर्थ्य लोप करने से भावों में कुटिलता प्राप्त होती है जिससे भावों में विशुद्धि नहीं होती है। इसलिये सामर्थ्य का लोप नहीं करना चाहिये।

सामर्थ्यं विद्यते मूढा: तस्य यात्रां च ये नरा: । करिष्यंत्येव वै मोक्षो अश्वयानादिवाहनै: ॥ 9 ॥
अत्यैव दूरो तेषांच सामर्थ्यलोपपापत: । मा कुरुध्वमहो भव्या: सामर्थ्यलोपनं ह्यतं ॥ 10 ॥
कलौ भूप तप:कार्यं सर्वेषां नृणां खलु । नो भविष्यति सामर्थ्यं तद्दते शर्मसंतति: ॥ 11 ॥
अत: सकलसौख्याप्त्यै सा कार्या वाहनाद्दते । तदाहि सफला शीघ्रं भविष्यत्येव निश्चयात् ॥ 12 ॥
कोटीपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु । तदधिकं भक्त्येव फलं तदृर्शनात् नृणां ॥ 13 ॥
नैव सिद्धि: तपस्योचै: ध्यानस्यैव कदाचन । तस्मिन् काले ह्यतो भूप सा यात्रा सर्वसिद्धिका ॥ 14 ॥
तस्य यात्रासमं नास्ति ह्यपरं पुण्यकारणं । अतो भव्या: शिवाप्त्यर्थं कुर्वीध्वं तां मुदा सदा ॥ 15 ॥
एकवारमपि तंच वंदयिष्यंति ये नरा: । अनुक्रमाच्च यास्यंति शिवेव्यये धराधिप ॥ 16 ॥
मा कुरुध्वं तपोवृंदं भो भव्या: ध्यानसंहतिं । समं प्रत्येकवारंच आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ 17 ॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे । यास्यथ नात्र संदेहो द्वितीयेहि भवेऽव्यये ॥ 18 ॥

अर्थ:—हे मगधेश्वर पंचमकाल में उत्कृष्ट तपश्चरण करने की शक्ति मनुष्यों में नहीं होने से मोक्ष सुख प्राप्त होने में कठिनता प्रतीत होती है। परंतु जो भव्य जीव वाहन के बिना भाव भक्ति से पैदल श्री सम्मेद शिखर की यात्रा करते हैं उनको समस्त प्रकार के सुख स्वयमेव प्राप्त होते हैं इसमें संदेह नहीं है।

अर्थ:—हे मगधेश्वर जो पर्वत श्मसान आदि भूमि में करोड़ पूर्व वर्ष पर्यंत ध्यान किया जाय उससे उतने कर्मों की निर्जरा नहीं होती है जितनी कि सम्मेद शिखर के दर्शन भाव पूर्वक करने से होती है।

इस पंचम काल में न तो तप है न ध्यान है। केवल सम्मेदशिखर की यात्रा ही समस्त प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली है।

अर्थ—श्री सम्मेदशिखर की यात्रा के समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्य का कारण नहीं है। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये भव्यजीवों को यात्रा करनी चाहिये। जो कोई एक बार भी उस पर्वतराज की वंदना भावभक्ति से करता है वह अवश्य ही अनुक्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

तस्य विंशतितमस्यैव कूटानां दर्शनात् नृप। कोटिश: प्रोषधानांच फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ 19 ॥

तत्फलात् कर्मवृंदाश्च नाशं यांत्येव तत्क्षणे। अग्रे अव्ययगोत्रस्य बंधोत्पत्ति: प्रजायते ॥ 20 ॥

बिना वाहनतो पंच तस्य दर्शनत: शिवे। द्वितीयेहि भवे भूप इतरा यास्यंति क्रमात् ॥ 21 ॥

अस्य दर्शनमात्रेण कुष्ठाद्या: नाशतां गता: । रोगिणां सकलातंका: ऋद्ध्याप्ति: ऋद्धिकांक्षिणां ॥ 22 ॥

पुत्रकांक्षावतां चैव जाताहि चेलनाप्रिय। पुत्रोत्पत्तिर्धनोत्पत्ति: राज्योत्पत्ति: शिवस्यच ॥ 23 ॥

अस्मात्किमपि नो संति दुर्लभा: दुर्घटा: सुखा: । शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते ह्यपरेण किम् ॥ 24 ॥

अर्थ—हे भव्यजीव जो तप और ध्यान करने की तुझ में शक्ति नहीं तो मत कर परंतु अपनी पर्याय में बार-बार सम्मेद शिखर की यात्रा कर। जिससे अवश्य सुख को प्राप्त होगा और जो चतुर्विध संघ सहित विधीपूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भव में मोक्षसुख को प्राप्त होगा।

अर्थ:—हे मगधेश्वर ! जो कोई भव्यजीव बीस कूट के दर्शन करता है उसको करोड़ों उपवास का फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूह का नाश होता है और मोक्ष पद के योग्य उत्तम गोत्र का बंध होता है।

हे राजन् जो भव्यजीव वाहन के बिना श्रीसम्मेद शिखर की यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे भव में ही मोक्षपद को प्राप्त होता है और वाहन सहित यात्रा करने वालों को अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त होती है।

अर्थ:—हे राजन् जो भव्यजीव इसके दर्शन भाव भक्ति से करते हैं उनके कुष्टरोग आदि भयानक रोग नाश को प्राप्त हो जाते हैं। समस्त व्याधि नष्ट हो जाती है। धनार्थी को धन की प्राप्ति होती है। पुत्रार्थी को पुत्र की प्राप्ति होती है और राज्य की प्राप्ति करने वाले को राज्य मिलता है। जीवों को सम्मेदशिखर के दर्शन समस्त प्रकार के सुखों को प्रदान करते हैं।

अर्थ:—इस पर्वतराज की वंदना और दर्शन के पुण्य से संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। सब प्रकार के दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जब इसकी वंदना का फल मोक्ष के सुखों की प्राप्ति है तब अन्य साधारण सुखों की प्राप्ति में आश्चर्य ही क्या ? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये तीर्थराज श्री संमेदाचल के दर्शन चतुर्विध संघ निकालकर अतिशय भावभक्ति से करे। ऐसी शक्ति न हो तो स्वशक्ति के अनुसार ही दर्शन (वंदन) कर।

भो भव्या: शिवप्राप्त्यर्थं कुरुध्वं तस्य दर्शनं । चतुर्विधेन संघेन तथा शक्त्यनुसारत: ॥ 25 ॥
अस्मिन् काले नराणांच मतो भो मगधाधिप । श्रीमच्छिखरसंमेदान्नन्योपाय: शिवस्य वै ॥ 26 ॥
पद्भ्यामेवच कर्तव्या संमेदभूभृत: खलु । सकलकर्मनाशार्थं तूर्णमेव शिवाप्तये ॥ 27 ॥
यत्रत्या: सकला जीवा: सिंहसर्पादिका नरा: । भव्या: स्यु: इतरेषांच उत्पत्तिर्नैव तत्र वै ॥ 28 ॥
केचिदासन्नभव्यास्ते केचित् दूरतरा: खलु । शिवयोग्याश्च सर्वे स्यु: नायोग्या मगधेश्वर ॥ 29 ॥
सदातिशयसंयुक्त: खगामरादिवंदित: । फलपुष्पोत्करै: सोद्रि: सदा भात्येव सुंदर: ॥ 30 ॥
वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च । तद्यात्राकारिणां भूप तत्रत्या: मृदुमानसा: ॥ 31 ॥
यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनंतानंतशो जिना: । गताश्च तस्य किं भूप महिमांच करोम्यहम् ॥ 32 ॥
कली तद्दर्शनेनैव तरिष्यंति घना जना: । भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्या: तस्य दर्शका: ॥ 33 ॥

अर्थ:—हे मगधेश्वर पंचम काल में मोक्ष की प्राप्ति का सरल उपाय है तो एक मात्र श्री सम्मेदशिखर की यात्रा पैदल (बिना सवारी) ही करना चाहिये जिससे समस्त कर्मों का नाश होकर मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

अर्थ:—हे राजन् जिस सम्मेदशिखर पर समस्त जीव मात्र भव्य हैं। सिंह सर्प आदि क्षुद्र जीव भी भव्य ही हैं वहां पर अभव्य उत्पन्न नहीं होते हैं। इसका यह भाव है कि वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव भी वहां पर भव्य ही हैं।

अर्थ:—हे राजन् सम्मेदाचल पर कितने ही तो आसन भव्यजीव हैं। कितने ही दूर भव्य हैं। परंतु वे सब मोक्ष जाने के योग्य ही हैं। जिनको कभी मोक्ष होने वाली नहीं है ऐसे जीव वहां पर उत्पन्न ही नहीं होते हैं।

अर्थ:—हे राजन् वह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है। देव विद्याधरादि से सदैव पूजित है। फल फूल आदि लताओं से रमणीय है। यहां पर सर्प सिंह सूअर आदि क्रूर प्राणी यात्रीगणों को बाधा नहीं देते हैं। यह एक विचित्र अतिशय है क्यों कि ये क्रूर प्राणी होकर भी सदैव भद्रपरिणामी ही वहां पर रहते हैं।

अर्थ:—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीसम्मेदशिखर से ध्यान को धारण कर अनंत तीर्थंकर मोक्षधाम को पधारे हैं

देवायुर्बंधजीवानां मनुष्यायुर्युतात्मनाम्। तस्याप्तिः संभवेन्नूनं इतरेषांच नो भवेत् ॥ 34 ॥
कुरुष्व त्वं ह्रदि स्वस्य स्मरणं भावशुद्धितः । तस्य संमेदशैलस्य तद्धि तदृर्शनोपमम् ॥ 35 ॥
प्रातःमध्यान्हसायान्हे भो भव्याः ते हृदि सदा। चिंतयथाष्टकमारेः घातार्थं घातनक्षमम् ॥ 36 ॥
इत्यादिमहिमां स्वामी तं प्रति भव्यबोधकः । सम्मेदाद्रेश्च आचख्यत् स सर्वेषां सुखाप्तये ॥ 37 ॥
विभोः ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वापरहानये। इमां प्रश्नावलिं चक्रे स्वांतःस्थां भव्यबोधदाम् ॥ 38 ॥
वीराधिप महावीर अस्य नुः केन कर्मणा। निकोतेः बंधनप्राप्तिर्जायते परमेश्वर ॥ 39 ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश कर्मणा केन गच्छति। जीवोसौ नरके घोरदुःखसंहतिसंभृते ॥ 40 ॥
नाके व्रजति भो नाथ केन वै शुभकर्मणा। तिर्यंचाख्यं च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ 41 ॥
मर्त्ययोनिंच द्विभेदां केन प्राप्नोति कर्मणा। स्त्रियाः ना भो जिनाधीश नुः वामा केन कर्मणा ॥ 42 ॥
क्लीवकाभिधदुःकर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै। भवति कर्मणा केन अल्पायुर्नामभाक् च वै ॥ 43 ॥
दीर्घायुर्भो जिनादित्य भवेदस्यैव केन वै। कर्मणा सार्वतीर्थेश कंथ भोगी ह्ययं भवेत् ॥ 44 ॥

उसकी महिमा का क्या वर्णन किया जाय ? कलिकाल में उस तीर्थराज के दर्शन मात्र से ही बहुत से प्राणी संसार समुद्र से पार होंगे। भव्यजीवों को ही उसका दर्शन होता है अभव्य को नहीं। भव्यों में से जिन जीवों को देवायु अथवा मनुष्यायुका बंध है उनको ही तीर्थराज का दर्शन होगा। अन्य को सर्वथा नहीं होगा।

अर्थः—हे मगधेश्वर तू अपने हृदय में भावशुद्धि से उस तीर्थराज श्री संमेदशिखर का स्मरण कर। वह स्मरण तुझ को साक्षात् दर्शन के समान ही फल का प्रदान करने वाला है। जो भव्यजीव प्रातःकाल, मध्याह्न काल और सायंकाल को उस तीर्थराज का स्मरण करता है वह कर्मों का नाश करता है। इस प्रकार अचिंत्य महिमा धारक श्रीसम्मेदशिखर का किंचित वर्णन भव्य जीवों के उपकारार्थ श्री देवाधिदेव श्री वीर प्रभु ने कहा।

अर्थः—इस प्रकार महावीर प्रभु की दिव्य ध्वनि को श्रवण कर श्रेणिक महाराज अतिशय प्रसन्न हुआ और इस प्रकार प्रश्नावलि भगवान से की।

विधिना केन वीरेश चाभोगी वा सुखी दुःखी । भवेदयं महावीर सुबुद्धिमान् कुबुद्धिमान् ॥ 45 ॥
विद्वत्वं चैव मूर्खत्वं धैर्यत्वं केन कर्मणा। लभते चैव भीरुत्वमयं देही जिनेश्वर ॥ 46 ॥
देहिनः सकलार्थज्ञ विद्या भवति निःफला। विधिना केन अस्यैव भवत्यर्थस्य हानिता ॥ 47 ॥
कर्मणा केन प्रान्पोति द्रव्यौघं वा स्थिरत्वता। कर्मणा केन जीवंति पुत्रपौत्रोत्करा नो ॥ 48 ॥
भवंति बहवः पुत्रा विधिना केन कर्मणा। भवत्ययं दरिद्री च बहुवित्तपतिस्तथा ॥ 49 ॥
आतंकी वा निरातंकी भवति केन कर्मणा। जात्यंधाअंधकश्चैव अयं जीवो दयापते ॥ 50 ॥
न्यादो नो जीयंते वीर अस्य नुः केन कर्मणा। कुष्टित्वं चैव दासत्वं खंजत्वं मानहीनता ॥ 51 ॥
हीनांगो भवति केन विधिना टुंटकस्तथा। पंगुर्मूकः कुरूपो हि रूपसंपत्तिभाक् तथा ॥ 52 ॥
शरीरवेदयुक्तो वा भवति केन कर्मणा। तद्धीनो भो जिनसिंह अयं देही च्युतोपम ॥ 53 ॥
केन दुःकर्मणा स्वामिन् अयं पंचेन्द्रियः पुमान्। भवेत्येकेन्द्रियो नूनं सर्वतत्वप्रकाशक ॥ 54 ॥
स्थिरो भवति अस्यैव संसारोयं कुकर्मणा। केन तुच्छैव संसारः सार्व भो परमेश्वर ॥ 55 ॥

हे वीर ! सर्वज्ञ ! हे दयापते यह जीव निगोद में कौन पाप के करने से जाता है ? नरक में कौन पाप के फल से प्राप्त होता है ? तिर्यंच कौन-कौन कार्य से होता है। मनुष्य गति को कौन-कौन से कारणों से प्राप्त करता है। स्त्रीपर्याय कौन-कौन से कारणों से प्राप्त होती है। नपुंसक कौन-कौन से कारणों से प्राप्त होता है। इस जीव की स्वल्पायु किस कारण से होती है और दीर्घायु किस कारण से होती है। समस्त पदार्थों का भोगने वाला किस कारण से यह जीव होता है। और अभोगी कब होता है। सुखी और दुःखी किन-किन कारणों से होता है। बुद्धिमान् कुबुद्धिमान् विद्वान् मूर्ख धैर्यशाली अधैर्यवान् भीरु निर्भय आदि किन-किन कारणों से होता है।

धनी-दरिद्री-पुत्रवान्-अपुत्र-दुःखी-सुखी-रोगी-निरोगी-अंधक-नेत्रवान्-भाग्यशाली भाग्यहीन भोजनादि सामग्री से परिपूर्ण और शून्य गृही किन-किन कारणों से होता है।

विधिना केन अस्यैव अष्टानां कर्मणां प्रभो। ग्रंथी संजायते वीर ग्रंथितश्चैव नाशता ॥ 56 ॥

केन केन प्रयोगेण बंधो भवति अस्यवै। कर्मणामष्टसंख्यानां भो भव्यजनभावित् ॥ 57 ॥

विधिना केन वामाश्च भवंति निर्धवा: प्रभो। शीलव्रतप्रयुक्ताश्च नि:शीला: व्रतविच्युता: ॥ 58 ॥

त्वं भो नाथ दयापते जितरिपो त्वं सर्वदर्शी सदा। त्वं सर्वज्ञ महामुनि: जितभय: त्वं सर्वदेवाधिप: ॥ 59 ॥

मे संदेहविनाशने त्वमसि भो नान्य: क्षमो भूतले। तस्मात्त्वं वद उत्तरं शिवप्रद प्रश्नावले: सन्मते ॥ 60 ॥

इत्थं प्रश्नावलिं श्रुत्वा कृतांच श्रेणिकेन वै। इत्याह तं प्रति वीरो भव्य त्वं उत्तरान् श्रृणु ॥ 61 ॥

शुभाशुभानि कर्माणि एकैव मगधाधिप। बध्यते तत्फलं चैव एकैव भुज्यते खलु ॥ 62 ॥

त्रयो वै कारणा दुष्टा मदाष्टौ इन्द्रियास्तथा। विकथा वेदसंख्याढ्या: सप्तैव व्यसनान्यहो ॥ 63 ॥

चत्वारो हि कषायाश्च मिथ्यात्वं पंचमाशुभा:। षट्त्रिंशदेभि: संख्याभिरयं जीवो नराधिप ॥ 64 ॥

कोढ़ी-खाज-मानहीन-हीनांग-विकल-टूंटा-पंगु मूक-बधिर-कुरूपी-रूपवान् आदि किन-किन कारणों से यह जीव होता है। विधवा और शीलवान् किन-किन कारणों से जीव होता है।

संसार का नाश करने वाला और दीर्घ संसारी किन-किन कारणों से होता है।

इत्यादि बहुत से प्रश्नों को श्रेणिक महाराज ने वीर प्रभु से किये और कहा कि हे सर्वज्ञ हे त्रिलोकनाथ आपके बिना मेरा संदेह दूर नहीं होगा इसलिये समस्त जीवों के उपकारार्थ समाधान कीजिये। यह श्रवण कर वीर प्रभु ने कहा कि हे श्रेणिक ! अपने प्रश्नों का उत्तर सावधान होकर श्रवण कर।

अर्थ:—हे मगधेश्वर जीवों के शुभाशुभ परिणाम ही बंध के कारण हैं। जीव अपने शुभाशुभ भावों से कर्मों का बंध करता है और फिर उनका भला बुरा फल भोगता है।

मन वचन काय आठ मद पंच इंद्रिय चार विकथा सात व्यसन चार कषाय पांच मिथ्यात्व इस प्रकार छत्तीस कारणों से निगोद का बंध होता है।

निकोतेनंतदुःखाब्धिसंभूते हि कुकर्मभिः। प्रजायतेऽत्र संदेहो नास्ति पापात्र किं भवेत् ॥ 65 ॥
पिशून् हंतिच यो मर्त्यो मांसं भक्षिण वाधमः । अलीकंच वदत्येव मधु मंथ पिवल्यहो ॥ 66 ॥
अवलामपरमर्त्यस्य वंचत्येव सुसुंदरां। दृष्ट्वा प्रयोगमंत्राद्यैरन्योपायोत्करैस्तथा ॥ 67 ॥
जिनधर्मंच सिद्धांतं सद्गुरुं गुणमंडितं । संघं चतुर्विधं चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ 68 ॥
हरत्येव परस्वंच कौटिल्यादिकुकर्मभिः। आशक्तोत्येव ग्रंथस्य वर्द्धने भवति सदा ॥ 69 ॥
यज्ञादौ नैव पापोस्ति जीवानां मारणस्यवै। एवं ब्रुवति रात्रौच भोजनस्यैव भक्षणे ॥ 70 ॥
इत्यादीनि कुकर्माणि करोति सैव निश्चयात्। एकादिसप्तश्वभ्रेषु व्रजत्येव नरेश्वर ॥ 71 ॥
घोरं घोरं च दुःखौघं तत्र सुचेलनाप्रिय। भुंक्त्येव सैव एकाकी घोरपापोदयात्खलु ॥ 72 ॥

मिथ्यात्व की तीव्रता के साथ यदि मन वचन काय की प्रवृत्ति अशुभ हो और कषायों के उद्वेग से विषयों में प्रवृत्ति हो तो जीव निगोद का बंध करता है।

अथवा मिथ्यात्व की तीव्रता से सात व्यसनों का सेवन करना परिणामों में तीव्र कषाय का रखना सो भी निगोद के आश्रव का कारण है।

अर्थः—हे राजन् नरक गति के आश्रवों को सुनो। पशुओं का वध करना मांस भक्षण करना, झूंठ बोलना, मधु का सेवन करना, मदिरापान करना, दूसरों की सुंदर स्त्रियों को मंत्रादि अथवा किसी भी प्रयोग के द्वारा ठगना जिनधर्म जिनसिद्धांत जिनगुरु चतुर्विध संघ और जिनधर्मोपदेशों की निंदा करना अवर्णवाद लगाना उनके विषय में मलिन चिंतवन करना आदि सब नरक के कारण हैं।

दूसरों का धन हरण करना, कुटिल परिणाम रखना परिग्रह का तीव्रतर ममत्व परिणाम रखना यज्ञ में जीवों का हवन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनता को पाप के मार्ग में लगाना जीवों के वध में पाप नहीं बतलाना, जीव हिंसा में धर्म मानना, रात्रि में भोजन करना इत्यादिक कुकर्मों से जीव नरक योनियों में जाता है। जिनधर्म जिनायतन-जिनगुरु-जिनसंघ में मिथ्या अवर्णवाद लगाने से और मिथ्यात्व की तीव्रता से जीव नरक में जाता है।

कियत्प्रमा जिनाधीश तत्र दुःखोत्करा: प्रभो। श्रृणु तेषांच भो संख्यां संक्षेपात् वच्म्यहं नृप ॥ 73 ॥
वेदाष्टौच शतानि पंच भवति अंकसहस्राणिवै। अष्टर्तुप्रमलक्षकाश्च नृपते पंचैव कोट्यस्तथा ॥ 74 ॥
त्वं जानीहि नगप्रमेषु सकलश्चभ्रेषु दुःखोत्करा:। नानाशर्मविघायका भयप्रदा एतावता निश्चयात् ॥ 75 ॥
श्रीजिनाधिपबिंबानां पंचामृतरसोत्करै: । स्नानकर्ता तथैवेज्याकर्त्ताच मृदुभाक्युक् ॥ 76 ॥
दयाभावेन संयुक्तो द्वादशव्रतपालक: चतुर्धादानकर्ताच गुरुसेवापरायण: ॥ 77 ॥
मंदकषायसंपन्न: परदोषधरान्मुख:। स्ववामारक्तबुद्धिश्च पररामाविरक्तधी: ॥ 78 ॥
इत्यादिशुभभावाढ्यो य: पुमान् सैव निश्चयात्। नाकलोकं लभत्येव सदा शर्मविभूषितं ॥ 79 ॥
कार्यार्थं सेवते मित्रं कृत्वा कार्यं पुनश्च तं। त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपराङ्मुख: ॥ 80 ॥
विश्रुतो दुर्जनश्चैव परनिंदनचातुर:। दुर्मते: पोषक: क्रूर: रात्रौ भक्षी च निर्दयी ॥ 81 ॥

अर्थ:—हे राजन् जीव पाप के कारण नरक में घोर घोर दुःखों को अकेला ही भोगता है।

वहां कितने प्रकार के दुःख है ? इस प्रकार का प्रश्न सुनकर वीरप्रभु ने कहा कि हे श्रेणिक ! नरक में इस जीव को पांच करोड़ अड़सठ लाख पांच सौ चौरासी प्रकार का दुःख प्राप्त होता है। यह एक सामान्य प्रकार से दुःखों का पारावार ही नहीं है।

अर्थ:—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवान के प्रतिबिंबों का पंचामृतरस से भक्ति पूर्वक स्नान करता है उसी प्रकार पूजा अष्टद्रव्य से करता है मृदुभावों को धारण करता है दयाभावका पालन, बारह प्रकार के व्रतों का परिधारण, चार प्रकार के दानों का प्रदान करना, गुरुसेवा करना, स्वदारा संतोष व्रत का पालन करना, परस्त्रीका त्याग करना इत्यादिक अनेक शुभ कारणों से स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है।

अर्थ:—हे राजन् तिर्यंच योनि का बंध मायाचार के परिणामों से होता है। जो मनुष्य मतलब के लिये तो मित्र की उपासना करे और मतलब सिद्ध हो जाने पर त्याग कर देवे। जो सदैव मायाचार के भावों से विश्वासघात करता हो, जिनधर्म से पराङ्मुख हो, सब प्रकार से दुर्जन हो, निंदाखोर हो, दुष्टबुद्धि हो, क्रूर हो, रात्रिभक्षी हो, निर्दयी हो इत्यादि दुष्ट आचरणवाला नियम से तिर्यंच गति में जाता है।

ईदृशः पुरुषो मृत्वा जायते दुष्टभावयुक्। तिर्यंचयोनिषु नूनं सदाशर्माकरेषु च ॥ 82 ॥
स्वल्पक्रोधी च निर्लोभी मार्दवार्जवभावयुक्। स्वल्पनिद्रश्च निर्दभी स्वात्मनिंदापरायणः ॥ 83 ॥
मर्त्यो हि चेदृशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधीः । भवति नात्र संदेहः परजन्मनि निश्चयात् ॥ 84 ॥
सदा संतोषसंयुक्ता स्वपतेः भक्तितत्परा। सुशीला क्रोधसंहीना विमाना दंभवर्जिता ॥ 85 ॥
साहसधारका नम्रा शुचित्वगुणसंयुता। जिनभक्तिकरा नित्यं दानेज्याव्रततत्परा ॥ 86 ॥
निःकपटा निरालस्या आर्जवामृतपानका। स्थिरचित्ता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी ॥ 87 ॥
स्वल्पाहारकरा स्वल्पनिद्रा संयमपालका। कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ 88 ॥
इत्यादिगुणसंपन्ना भवेन्नार्यत्र भूपते। ईदृशायाः सुबामायाः पुरुषो भवति निश्चयात् ॥89 ॥

अर्थः— हे राजन् स्वल्पक्रोधी, निर्लोभी, सरल परिणामी, शुभ भावों को धारण करने वाला, स्वल्प निद्रा को लेने वाला, निर्दभी अपने पापकर्मों की निंदा करने वाला, पापों से डरने वाला, जिनधर्म का सेवन करने वाला ऐसा जीव मनुष्य बंध को प्राप्त होता है।

अर्थ—हे राजन्! स्त्री पर्याय को छोड़कर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंग का छेदन) कौन-कौन से पुण्यकर्म से प्राप्त होती है सो बतलाते हैं।

जो स्त्री संतोष से रहती है अपने ही स्वामी की भक्ति पूजा में अपना धर्म समझती है। शीलव्रत को ही मुख्य धर्म समझकर पालन करती है। क्रोध मान माया आदि विकारों की भावना नहीं करती है। नम्र-पवित्रता को धारण करने वाली जिनभक्ति में तत्पर-जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्यों में सावधान-सरल परिणामों को रखने वाली मायाचार रहित शुद्ध चित्त से कार्य करने वाली स्वल्प आहार करने वाली व्रत संयम आदि को भाव भक्ति से पालन करने वाली-विषयों से विशेष गृद्धता नहीं रखने वाली इत्यादि सुंदर कृत्यों को करने वाली स्त्री अपने स्त्री लिंग को छेदनकर पुरुष लिंग को प्राप्त होती है। हे राजन् पुरुष पर्याय से निंद्य स्त्री पर्याय इस प्रकार प्राप्त होती है।

मायाकपटसंपन्न: अतिचंचलभावयुक् । कामसेवासुसंरक्त: अत्यंतक्रूरधी: ह्यधी: ॥ 90 ॥
गायने भंडरागस्य अत्यंतचंचलस्तथा । नेत्रविकारसंपन्न: तथैव कामभावयुक् ॥ 91 ॥
महामानी सदालस्यो वव्हारंभस्य धारक: । बहुनिद्रारतोशुद्ध: निंदापैशून्यतत्पर: ॥ 92 ॥
क्रियाकर्मविहीनश्च निर्दयी निस्त्रपी तथा । बव्हालापी तथा हीनो विनयेन नरेश्वर ॥ 93 ॥
कस्यापि नैव विश्वासं करोति साधुनिंदक: । वंचक: स्वजनानांच साधूनां परदोषद: ॥ 94 ॥
इत्यादिगुणसंपन्नो मृत्वा मर्त्योपि निश्चयात् । परजन्मनि निंद्या च स्त्रयेव भवति सद्बुधै: ॥ 95 ॥
वृषाश्वं महिषं छागं माहेयीं चक्रमेलकं । मातंगं च खरं श्वानं स्त्रियं मर्त्यंच बालकम् ॥ 96 ॥
लोहशस्त्रंच संधृत्वा पावकेन्यो नराधम । इत्यादीनां च जीवानां अंकयतेच निर्दय: ॥ 97 ॥

जो पुरुष मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामक्रीडा में मग्न रहता है, अत्यंत क्रूर है, पापों का ही सदैव संचय करने वाला है, दूसरों के शील भ्रष्ट करने में ही अपने को धन्य समझता है, जो इसीलिये अभिमानी बनता है, बहुत आरंभ का करने वाला निंदा और चुगली करने वाला, भंड वचनों का बोलने वाला, कामोत्पादक गान का करने वाला, नेत्र विकार और शरीर से कुचेष्टा करने वाला, दूसरों से द्रोह को करने वाला, श्रेष्ठ आचरणों को छोड़ देने वाला, नीच आचरणों का पालन करने वाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निंदक, साधु पुरुषों में दोष लगाने वाला, गुरुजनों की भी निंदा करने वाला, सत्य का लोप करने वाला, किसी का भी विश्वास नहीं करने वाला और पापमार्ग को प्रकट करने वाला मनुष्य मर कर पर जन्म में स्त्री पर्याय (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है।

हे राजन्! यह जीव नपुंसक कौन-कौन से कारणों से होता है। जो मनुष्य काम की तीव्र ज्वाला से अनर्थकारी कार्य करे। तथा बैल, घोड़ा, भैंस, बकरा, हाथी, गदहा, कुत्ता स्त्री बालक वृद्ध मनुष्यों के अंगोपांगका छेदन करे लिंग आदि को बड़े-बड़े भयंकर शस्त्रों के द्वारा काटे अथवा लिंग आदि गुह्य स्थानों को अग्नि के द्वारा दाग लगावे अथवा मर्मभेदी स्थानों में दुर्भावों से पीड़ा उत्पन्न करने लायक छेद करे कर्ण नासिका आदि को छेदे और भी घोर संकट देने वाले कुत्सित काम करे वह मनुष्य मरकर परजन्म में नपुंसक होता है। यह सबसे निंद्य कर्म है।

छेदयति तथा तेषां कर्णं वा नासिकां खलः । वंधं वा बंधनं चैव अन्नपानादिरोधनं ॥ 100 ॥
करोति सैव प्राप्नोति नपुंसकत्वं दुःखदं । कर्मैयं भूप सर्वेषु निंदनीयं च कर्मसु ॥ 1 ॥
अलर्कान् च कपोलौघान् तित्तरान् च हरीन् मृगान् । काकोदरान् तथाकीशान् नीलकंठान् खगेश्वरान् ॥ 2 ॥
शुकान् हंसान् बकांश्चैव घ्रियते यो नृप कुधीः । इत्यादीन् जीवसंदोहान् काष्टादिपंजरेषु च ॥ 3 ॥
आजन्माऽत्ययपर्यंत सा खलु वंदिदुःगृहे । स्थितिं करोति दुःखौघं भुंजन् वाचामगोचरं ॥ 4 ॥
मनसा निर्दयेनोचैः अदयापरिणामयुक् । मारयत्येव जीवान् वै छागपारावतादिकान् ॥ 5 ॥
निर्दयं तंच दृष्ट्वा वै कोप्येवं ब्रुवते पुमान् । दयालंकृतसद्वात्रः तं प्रति जीवरक्षकः ॥ 6 ॥

हे राजन् स्वल्पायु कौन-कौन से कारणों से होती है सो सुन-

जो मनुष्य कबूतर, तीतर, हरिण, मृग, काकोदर, कीश (पक्षी), नीलकंठ, गरुड, सूआ, हंश, बगुला आदि पशु-पक्षियों को पकड़कर काठ के पींजरों में बंद करता है आजन्म उनकी स्वतंत्रता का हरण करता उनकी इच्छा का व्याधात करता है। जो मन में सदैव निर्दयभाव रखता है दयाभावों को जानता ही नहीं (जो किसी भी प्राणी को सुखी नहीं देखना चाहता) है। जो सदैव बकरादि जीवों का वध करता है। जो कबूतर आदि जीवों को पकड़ने में मारने में दत्तचित्त रहता है। जिसके परिणामों में निर्दयपने की सदैव वासना बनी रहती हो। जिसको दया का उपदेश कटुक मालुम होता हो और जीवहिंसा करने के समय धर्मात्मा के रोकने पर जिसके परिणामों में क्रूरता प्रकट होती है। जो जीवों के वध में पापोत्पत्ति नहीं मानता हो। जो जीवं जीवस्य भक्षणं कहकर जीवों के भक्षण करने में धर्म मानता हो। जिसे परलोक का भय नहीं हो और जो परलोक को मानता भी न हो। जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हों। जो सदैव संक्लेश परिणामों से रहता हो और ऐसे ही दुष्ट पुरुषों की संगति में रहता हो। जो सदैव कुकर्म का व्यापार करता हो इत्यादि कुत्सित कर्म करने वाले जीवों की स्वल्पायु होती है। निगोद आदि पर्याय में स्वल्पायु की पूर्ति वे जीव करते हैं।

नत्वेवं तेच कर्तुं वै युंक्त जीवस्य घातक: । मा गच्छ दुर्गतिं मूढ श्रुत्वेत्थमाह दुष्टधी: ॥ 7 ॥
जीवानां मारणे नैव पापोत्पत्ति: पुमान् खलु । न्यादार्थंच कृता: सर्वे स्वयंभुवा इमेस्य नु: ॥ 8 ॥
परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्म: तथा ह्यघ: एवं धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ 9 ॥
संल्किष्टैर्निर्दयैश्चैव सार्द्धं कुपुरुषै: सदा । करोति चैव व्यापारं कुकर्मणश्च दु:खदं ॥ 10 ॥
सोल्पायुर्भवत्येव इत्थं कुकर्मणोदयात् । सदा कालेत्र संदेहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ 11 ॥
स्वयं नैव कदाप्येव मारयत्येव प्राणिनं । मार्यमाणं च संदृष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ 12 ॥
मोचापयति तं नूनं दयाभावेन मंडित: । संतुष्टोभयदानेषु परघातनिवारक: ॥ 13 ॥
परशर्मेषु संतुष्ट: परदु:खेषु दु:खभाक् । जीवस्य रक्षणे चैव सदा कालेच सन्मति: ॥ 14 ॥
ईदृशस्य नरस्यैव भो भवत्येव निश्चयात् । दीर्घायु: सर्वकाले च मृदुभावोदयाच्छुभ: ॥ 15 ॥
आप्यैव वित्तसंदोहं स पुनर्न दयात्यहो । आहाराख्यं च सद्दानं पात्राय योहि मानव: ॥ 16 ॥
कदापि लोकलज्जाया वशादेव ददात्यहो । दानं पात्राय तर्हिचेत् दत्ते हि स्वस्य मानसे ॥ 17 ॥

अर्थ:—हे राजन् जो किसी भी जीव को स्वत: नहीं मारता है न दूसरों से मारने के लिये वचन से कहता है और न ऐसी अनुमोदना ही करता है। जो दयालु, दूसरों के द्वारा जीवों के वध को देखकर दयाभाव से उस जीव को मारने से बचाता है। जो सदैव दयाभाव से अपने अंत:करण को आर्द्र रखता है, जो जीवों के अभयदान में संतोष मानता है, जो दूसरें जीवों के घात को रोकता है, जो दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होता है जो दूसरों को दु:खी देखकर दु:खी होता है, जो जीवों की रक्षा करने में सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यात्मा को दीर्घायु की प्राप्ति होती है। जो मृदु भावों से दया करता है वह भी दीर्घायु को प्राप्त करता है।

अर्थ:—भोगरहित कौन-कौन से पापों से होता है सो बताते हैं।

हें राजन् ! जो मनुष्य द्रव्य की यथेष्ट शक्ति रखने पर भी लोभ परिणामों से मुनिगणादि चतुर्विध संघ को आहार दान नहीं प्रदान करता है। न पात्र में दान प्रदान करने की रुचि करता है। कदाचित् लोक लाज वश किसी खास मोके पर दान

पश्चात्तांप करोत्येवं वृथा दत्तो हि हा माया। अस्मै दानं च मे स्वस्य व्ययो जातोऽद्य किं कृतं ॥ 18 ॥
दीयामाने महादाने अन्येषां वर्जयत्यहो। किमर्थं कुरुथ लोका: व्ययो द्रव्योत्करस्य च ॥ 19 ॥
एभि: कुकर्मभिर्मुत्वा सैव भो मगधेश्वर। भवति वर्जितो भोगै: सदा दु:खैकभाजन: ॥ 20 ॥
शयनार्थं मुनीन्द्राणां फलक'तृणादिकै: शुभै:। शयनोपकरणैरेभि: वैयावृत्यसुपालक: ॥ 21 ॥
वैयावृत्यं करोत्येव तथा पादस्य धोवनं। तेषां सद्गुणसंयुक्तं स्तवनं पापनाशकं ॥ 22 ॥
पिच्छिकां सर्वभूतानां रक्षकां गुणमंडितां। यो ददात्येव कुंडींच शौचकार्याय शोभनं ॥ 23 ॥
आर्यिकायै तथा वस्त्रं शुभ्रंच ब्रह्मचारिणां। गृहस्थाय तथा तेषां वामायै भूषणं तथा ॥ 24 ॥
आहारादिचतुर्दानं सदा शर्मप्रदायकं। अतिहर्षेण सयुक्तो मृदुभावविमंडित: ॥ 25 ॥

अनिच्छा से देना भी पड़े तो पीछे से पश्चात्ताप को प्राप्त होकर विचार करता है कि हा मैंने व्यर्थ ही दान दिया। इस दान में मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया। यह सर्व व्यर्थ ही गया। इस प्रकार पश्चात्ताप करता है। अरे तुम लोग व्यर्थ द्रव्य क्यों लुटाते हो जरा तो विचार करो। इस प्रकार मन की मलिनता से अन्य जीवों को दान करते हुए रोकता है स्वंय भी धनादिक वस्तुओं का सेवन नहीं करता है। ऐसे कुकर्मों से भोगरहित मनुष्य होता है।

अर्थ—नाना प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाले भोग कौन-कौन से कारणों से प्राप्त होते हैं ? हे राजन्! जो भव्य जीव लकड़े का फलक तृणादिकों के विविध आसन आदि वस्तुओं को मुनिगणों के शयनार्थ रखता है और उसके द्वारा भाव भक्ति से मुनिगणों की वैयावृत्य करता है। इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका गुहा मठ आदि बनाकर वैयावृत्य का लाभ लेता है तथा जो मुनिगणों के पादकमलों का धोना, सेवा सुश्रुषा का करना स्तोत्रादिक के द्वारा उनके गुणों में मुग्ध होना आदि विशुद्ध भावों से करता है। जीवों की रक्षा के लिये पीछी देता है, शौच रक्षा के लिये कमंडलु देता है, आर्यिकाओं को वस्त्र देता है,

1—मुनिगण-आर्यिका आदि के लिये गृहस्थ अपने यहां पर लकडे के फलक (तख्ते) रखता है जिस पर मुनिगण शयनादि करते हैं। इसी प्रकार आर्यिका आदि के निवास के लिये वसतिका-गुहा-मठ आदि बनवा कर प्रदान करता है जिससे उनके शील की रक्षा और संयम की सिद्धि बराबर बनी रहे। इसके बिना शीलादिक की रक्षा होना कठिन है।

सैव भो मगधाधीश नानाशर्मोत्करं सदा। परजन्मनि तत्पुण्यात् भुनक्ति नात्र संशय: ॥ 26 ॥

त्रयाणां देवसिद्धांतगुरूणां कटुकाक्षरं। कदापि नो वदत्येव तथा विनयवान् महान् ॥ 27 ॥

शांतचित्तेन संयुक्त: सदा काले हि धर्मवान्। बालकादिकवृद्धेषु यथाविनयकारक: ॥ 28 ॥

ईदृशो मानवो मृत्वा महाशर्मी भवत्यहो। परभवे नराधीश परशर्मस्य कारणात् ॥ 29 ॥

तपस्विनां मुनीन्द्राणां धर्मस्थानां करोति य: । निंदां वा पिशुनं चैव प्रत्यक्षाद्वा परोक्षत: ॥ 30 ॥

ब्रह्मचारियों के लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थों के लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सल्य अंग को प्रकट करता है, इस प्रकार चारों प्रकार का दान चार संघ को अत्यंत हर्षभाव से देता है और अपने परिणामों को सदैव कोमल रखता है वह अनंत भोगों को भोगने वाला होता है।

इस प्रकार चार संघ को चार प्रकार का दान प्रदान करने वाले भव्य जीवों के सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है और वह पुण्य के प्रभाव से अनुपम सुखों को प्राप्त होता है।

अर्थ:—यह जीव सुख संपन्न कौन-कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् जो भव्य जीव देव, शास्त्र, गुरुओं की अंत:करण के भावों से श्रद्धा रखकर सदैव उनको पूज्य और हित प्रदाता मानता अतएव उनके प्रति एक भी कटुक अक्षर नहीं बोलता, महान विनय और नम्र भावों से रहता है, सदैव शांतचित्त रहता और वृद्ध बालक मुनिगणों की भी विनय भाव रूप से पूर्ण सेवा करता। ऐसे शुभ कार्यों से जीव सर्व प्रकार के सुखों से संपन्न होता है।

अर्थ:—अतिशय दु:ख किन किन कारणों से उत्पन्न होते हैं। अथवा अत्यंत दुखिया कौन से कारण से होते हैं ?

हे राजन् तपस्वी-मुनि आदि धर्मस्थापकों की निंदा करना उनमें मिथ्या दोषों का लगाना-जनता में उनके महत्व को गिराने का प्रयत्न करना उनके विषय में झूंठी झूंठी विशुनता कर बड़े-बड़े श्रीमानों को धर्म भावना से गिरा देना। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अवहेलना करना, स्वयं निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्व का साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकट कर अपना

निर्गुणी चैव गर्विष्टो मायावी अतिक्रूरधीः । जिनसिद्धांतवाक्यानामुत्थापकश्च पापधीः ॥ 31 ॥
महद्भंभी च भो भूप इत्यादिगुणसंभृतः । यः पुमान् सैव मृत्वाच महादुःखी भवत्यहो ॥ 32 ॥
परमदुःखसंयोगात् कृत्वा पापस्य संचयं । पुनर्यात्येव दुःखाब्धौ अंहस्य चेदृशं फलम् ॥ 33 ॥
प्रातः काले समुत्थाय तल्पात् यो हि नरेश्वर । कृत्वा सामायिकं चैव जाप्यं वा परमेष्ठितः ॥ 34 ॥
पञ्चादादाय स्वर्णादिभाजने बहुमोदतः । वसुद्रव्योत्करं शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ 35 ॥
जिनवेश्मनि संगत्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । संपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ 36 ॥
आगत्य गुरुवक्त्राद्धि शास्त्रं सिद्धांतसूचकं । श्रृणोति वा पठत्येव चिंतयत्येव स्वहृदि ॥ 37 ॥
पाठयत्येव अन्येषां ददात्येवानिशं मुदा । सद्धर्मोपदेशंच गात्रस्थांहविनाशकं ॥ 38 ॥

मतलब बनाना-अत्यंत क्रूर और कुटिल परिणाम रखना। जैन सिद्धांत के वाक्यों का उत्थापन करना-जैन सिद्धांत के श्लोकों का विपरीत अर्थ कर धर्म की पवित्रता का नाश करना। सदैव पापबुद्धि का रखना और महान दंभी बनकर ढोंग फैलाकर अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना-इत्यादि कारणों से जीव अत्यंत दुःखी होता है।

अर्थः—इस प्रकार देव शास्त्र गुरु के निंदकों को अपरंपार भयानक दुःख प्राप्त होते हैं। और वे उन दुःखों से पीड़ित होकर अन्य ऐसे ही पापों का संचय करते रहते हैं। इसीलिये वे चिरकाल पर्यंत संसार में दुःखों को भोगते रहते हैं। पाप का फल ही यह है।

अर्थः—ज्ञानवान् कौन से कारणों से होते हैं ? हे राजन् जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर सामायिक करता है। पंच परमेष्ठी की जाप्य देता है। फिर सोने चांदी आदि के पात्र में अभिषेक और पूजन की सामग्री से श्रीजिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अत्यंत हर्ष से अभिषेक करता है। पूजा करता है। सभा में शास्त्रपूजा कर गुरु के मुखकमल से शास्त्रों का श्रवण करता है। पठन करता है चिंतवन और उपदेश करता है और रात्रि दिवस जिनागम की प्रभावना में ही अपना जीवन पूर्ण करता है वह मनुष्य बहुज्ञानी होता है।

अर्थः— मनुष्य बुद्धिहीन कौन-कौन से कारणों से होता है ? हे राजन् जिसको तप ज्ञान चारित्र आदि का भेद विज्ञान

एवं कृत्वा पुनर्न्यादं करोत्येव सदा नरः। सो मृत्वा च भवत्येव सुमेधावी न संशयः ॥ 39 ॥
तपोज्ञानादिसद्भेदं नैव जानाति यः पुमान्। वा त्रयाणां करोत्येवाविनयं नैव मन्यते ॥ 40 ॥
यस्य हृदि विचारोहि नास्त्येव किमपि नृप। त्रिंपचाशत्क्रियाणांच मुनिधर्मस्य वा खलु ॥ 41 ॥
ईदृशोहि मनुष्यश्च मृत्वा भवति निश्चयात्। परजन्मनि निर्धर्मात् बुद्धिहीनो हि सैव भो ॥ 42 ॥
तत्रापि अविवेकत्वात् करोत्येव सदा ह्यघं। तदंहादपि यात्येव दुर्गतौ च सदा नृप ॥ 43 ॥

हे राजन्! दर्शन ज्ञान तप चारित्र आदि का अविनय करने से उत्पन्न होने वाले पाप से जीव दुर्गति में गमन करता है।

गुरूणां भक्तिकश्चैव यो जानाति सदा हृदि। जिनेन्द्रोक्तं च सद्धर्मं सदा शर्मप्रदं शुभम् ॥ 44 ॥
हेयं त्यजति वस्त्वोघमुपादेयंच मोक्षदम्। स्वीकरोत्येव पापानां नाशकं धर्मवर्द्धकम् ॥ 45 ॥
स नृप तद्भवे भुक्त्वा शर्मपंक्तिं सुखप्रदाम्। ततो मृत्वा भवत्येव महान् विद्वान् गुणाकरः ॥ 46 ॥

बिलकुल नहीं है अथवा तप ज्ञान चारित्र आदि महान् गुणों को धारण करने वालों की श्रद्धा नहीं है। इसीलिये ज्ञान तप चारित्र व उनके धारकों का विनय नहीं करना और विनय करने के भाव नहीं रखना अथवा मन में मलिन विचारों को रखना त्रेपन क्रियाओं का या मुनि धर्म का विचार नहीं करना जैन सिद्धांतों का विपरीत अर्थ करना काल दोषादिक से अध्ययन करना-आदि बुद्धिहीन होने के कारण हैं। ऐसे कार्यों से जीव बुद्धिहीन होता है।

अर्थः—दुर्गति कौन से पापों से होती है?

अर्थः—महान विद्वान कौन-कौन से कारणों से होता है? हे राजन्! अपने हृदय में पवित्र भावों से गुरुभक्ति को धारण करना श्रीजिनेंद्र धर्म को मन वचन काय की विशुद्धी से धारण करना, त्याग करने योग्य वस्तुओं को अनात्मस्वरूप मानकर छोड़ना और उपादेय वस्तुओं को आत्मस्वरूप मानकर ग्रहण करना, पाप क्रियाओं का परित्याग करना और धार्मिक पवित्र आचरणों का पालन करना इत्यादि शुभ कार्यों से यह जीव महान विद्वान होता है।

अर्थः—विद्वान का लक्षण क्या है?

हे राजन् जो द्वादशांग श्रुत को जानता है-तदनुसार भाव श्रुत को धारण करता है वह विद्वान है।

लक्षणं किं महावीर विदुषो द्वादशांगवित् । श्रेणिक त्वं हि भो विद्धि एतत्तस्यैव लक्षणम् ॥ 47 ॥
वेदमंत्रेण जीवौघान् निर्दयी मारयत्यहो। मारयित्वा पुनस्तेषां पलं भक्षति योऽधमः ॥ 48 ॥
करोति मद्यपानंच अधर्मपोषणं तथा। किं तस्य शास्त्रपाठेन प्रयोजनमधाकरम् ॥ 49 ॥
कथयत्येव धर्मंच अधर्मस्य नराधिप। सोधर्मोहि भवत्येव चांडालः परजन्मनि ॥ 50 ॥
तित्तरं कुर्कटं श्वानं शूकरं च मृगाधिपम् । व्याघ्रं वा मर्कटं नागं मृगं कोकं परिमृतम् ॥ 51 ॥
शुकादिजीवजातीनां दृढपासेन योऽधमः । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ 52 ॥
दृढैव रज्जुना तत्र बंधयित्वा च दुष्टधीः खलु । रक्षति सैव मृत्वा च भीरुको भवति सदा ॥ 53 ॥

अर्थः— चांडाल कौन-कौन पाप के कारणों से होता है ? हे राजन् ! जो यज्ञादिक के लिये वेदमंत्रों के द्वारा जीवों को मारता है और उनको मारकर मांस भक्षण करता है। जो पढ़ लिख विद्वान बनकर भी मद्यपान करता है सदाचार को अधर्म और व्यभिचारादि मलिनाचार को धर्म बतलाता है। जो अधर्म की उन्नति करने में तत्पर हो। जो अधर्म को ही धर्म मानकर जगत में प्रचार करता हो ऐसा पापी मरकर चांडाल योनि में उत्पन्न होता है।

भावार्थः—शास्त्रों का पठन-पाठन ज्ञान संपादन कर भी लोक में अपने को आदर्श विद्वान बतलाता हुआ जो मनुष्य मद्यपान सेवन करे मांस भक्षण करे-विधवा विवाह जैसे व्यभिचार को धर्म बतलावे असदाचार को धर्म बतलाकर उसका प्रचार करे वह मरकर चांडाल होता है।

अर्थः—भीरु भयवान् कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन तीतर, कुत्ता, मुर्गा, शूकर, सिंह, व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कबूतर, सूआ (तोता) आदि जीवों को पकड़कर जो दृढ़ बंधनों में रखता है वह मर कर भीरु होता है।

भावार्थः—ऐसे पशु जो मनुष्यों के उपयोगी नहीं हैं जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षीजगणों को जाल द्वारा पकड़कर मोज शौक के लिये दृढ बांधकर रखने में बड़ा भारी पाप है।

अर्थः—निर्भय मनुष्य कौन से कारणों से होता है ?

मनसा वचसा चैव कायेन प्राणिनां नृप। न करोत्येव त्रासं हि सर्वेषां मृदुभावयुक् ॥ 54 ॥
कारापयति नो नूनं नानुमोदयति कदा। अन्यायवित्ततश्चैव मुक्तधीः परपोषकः ॥ 55 ॥
ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैव निर्भयः खलु। भवति नात्र संदेहः परदुःखस्य मोचनात् ॥ 56 ॥
विद्यालोभेन पूर्वं च कृत्वा यो विनयं गुरोः । विद्यां गृह्णाति वा मंत्रं विवेकादिकसत्फलाम् ॥ 57 ॥
पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरोः। मया भाग्यात्समापन्ना सर्वा विद्यादिसत्फला ॥ 58 ॥
तस्य मर्त्यस्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कलाच सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥ 59 ॥
अत्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरोः। करोति विनयं भूप वैयावृत्यं च सर्वदा ॥ 60 ॥
तदुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम्। आगते सन्मुखे शीघ्रमभ्युत्थानादिसत्क्रियाम् ॥ 61 ॥
एवं गृह्णाति यो विद्यां सैव भोक्ता भवत्यहो। विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥ 62 ॥

हे राजन् मन वचन काय से जो कभी भी किसी जीव को कष्ट नहीं देता है, न दूसरों से दिलवाता है और न ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरों को कष्ट हो, जो अन्याय के कार्यों का परित्याग करता है, जो दूसरों का परिपालन करता है वह निर्भय होता है।

अर्थ:—किस की विद्याएं निष्फल होती हैं ?

हे राजन जो विद्या लाभ की प्राप्ति के लोभ से विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरु का विनय सेवा सुश्रुषा करता हो उपकारी मानता हो परन्तु विद्या संपादन हो जाने के बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्य से मिली है इसमें गुरु ने क्या कर दिया। इत्यादिक कार्यों से जो गुरु के उपकार को भूलकर कृतघ्नी हो उस मनुष्य की विद्या निष्फल होती है।

अर्थ—विद्या सफल किस की होती है ?

हे राजन् जो चित्त की शुद्धि से गुरु का विनय करता है वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि करने में निष्कपट भावों से तत्पर रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष गुरु को बड़ा मानता है उपकारी समझता है उनके आने पर उठकर सन्मान आदि प्रकट करता उसकी विद्या सफल होती है।

परेषां यो हरत्येव कौटिल्यादि कुकर्मभिः। द्रव्यं तस्यैव वित्तञ्च न्हियतेऽयैव मानुजैः ॥ 63 ॥

नो हरति कदाप्येव परकीयं च यः पुमान्। गृहे तस्यैव द्रव्यस्य संचयो भवति सदा ॥ 64 ॥

नाशः कदापि नो स्याद्धि वित्तस्य परजन्मनि। मगधेश भवत्येव एवं शुभोदयात् खलु ॥ 65 ॥

कथयत्येव यो मर्त्यः पूर्वमेव नरेश्वर। वस्त्रं वस्तु तथा द्रव्यं त्वां दास्यामि मनोहरं ॥ 66 ॥

धृत्वा लोभं हृदि पश्चात् नो ददात्येव तंच ताम्। आशाभंगं करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥ 67 ॥

तद्धि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात्। द्रव्याशायाश्च भो भूप परजन्मनि जन्मनि ॥ 68 ॥

अर्थः—किस का धन अपहरण होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामों से और विश्वासघात से दूसरों के धन का अपहरण करता है उसके धन का अपहरण होता है।

अर्थः—किसके धन का नाश नहीं होता है ?

हे राजन जो मनुष्य अन्यायपूर्वक दूसरों का धन हरण नहीं करता है न कुटिल भावों से मायाचारी पूर्वक दूसरों की वस्तु का अपहरण करता है और न विश्वासघात से दूसरों के धन को लेता है उसके धन का लोप इस जन्म और परजन्म में नहीं होता है।

अर्थः—द्रव्यप्राप्ति की आशा किसकी नाश होती है ?

हे राजन् ! जो कोई मनुष्य विश्वास दिखलाकर प्रथम तो बतलावे कि मैं तुम को काम पड़ने पर वस्त्र दूंगा धन दूंगा या अमुक चीज मुझ से मांग लेजाना, परंतु उसके काम पड़ने पर विश्वासघात कर नहीं देवे और सब प्रकार से उसकी आशा भंग कर देवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्य की आशाभंग होती है। जो दूसरों की आशा का भंग करता हो उसकी भी परजन्म में आशाभंग होती है।

यद्यद्धि शोभनं वस्तु मुनीनां ब्रह्मचारिणाम् । दत्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो नृप ॥ 69 ॥

धर्मस्य कारणं नास्ति लोकलज्जावशान्मया । वस्तवश्च इमे दत्ता एवं हि मूढबुद्धितः ॥ 70 ॥

सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रैव संशयः खलु ॥ 71 ॥

मृगस्य तस्य वामायाः स्त्रिया: मर्त्यस्य भो नृप । सिंहन्याश्चैव सिंहस्य तथा पारावतस्य च ॥ 72 ॥

नागिन्याश्चैव नागस्य हंसिन्या हंसकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च जायायाः वर्हिणस्तथा ॥ 73 ॥

इत्यादीनां च जीवानां परस्परं करोत्यहो । वियोगं यो हि मर्त्यश्च स्थितानां च वनावनौ ॥ 74 ॥

पुत्रपौत्रादिहीनाढ्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधाधीश परवियोगपापतः ॥ 75 ॥

अर्थः—किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

हे मगधेश्वर जो उत्तम से उत्तम और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वस्तु को मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्मायतनों में प्रदान कर फिर पीछे से मन में विचार करें या पश्चाताप करे कि मैंने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदि को दी । नहीं तो वे देने लायक नहीं हैं। इस प्रकार धर्मगुरु आदि के विषय में अपनी दुर्बुद्धि के कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओं की महिमा की हासता प्रकट करे उसके पुण्यकर्म का नाश हो जाता है।

अर्थः—पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य मृग, सिंह, कबूतर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवों की स्त्रियों (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बच्चों का अपहरण करता है या पापबुद्धि से दूसरों की स्त्रियों का हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरों से बालक-बालिकाओं को उनके भूल वा उनके लोभ से एकांत में मारकर वियोग करता है उसके इस प्रकार के पाप कारणों से पर जन्म में संतान नहीं होती, स्त्री का वियोग होता है, संतान होवे तो भी वह जीवित रहती नहीं है, मर जायगी।

जायंतेपि क्वचिद्दैवात् संताना: तस्य वा तदा। म्रियंते नैव जीवंति तुर्ये वा पंचमे समे ॥ 76 ॥
पूर्वोक्तान् नैव यो मर्त्य: कार्यात् करोति निश्चयात्। सर्वजीवेषु भो भूप दयापरो भवत्यहो ॥ 77 ॥
बहुपुत्रै: तथा पौत्रै: बांधवौघैश्च वेष्टित: । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणात् ॥ 78 ॥
जिनाननात्समुत्पन्नमागमं ह्यघनाशकं। वाच्यमानं सभामध्ये गुरूणां शास्त्रवेदिनां ॥ 79 ॥
तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिकं च यो नर: । वा कथां विकथोत्पन्नां निद्रां हास्यंच श्रेणिक ॥ 80 ॥
बधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि। अश्रुतं कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥ 81 ॥
हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जित: । चारित्रगुणहीनांगो मनोवाक्कायवर्जित: ॥ 82 ॥
जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोपिच। स दरिद्री भवत्येव परजन्मनि जन्मनि ॥ 83 ॥
महाचातुर्यसंपन्नो महाविनयमंडित: । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येषु निश्चल: ॥ 84 ॥

अर्थ:—किसके पुत्र पौत्र कुटुंब परिवार का वियोग नहीं होता है ?

हे राजन् जो सदैव दूसरे जीवों को दया भावों (परिणाम) की निर्मलता से पालन करता है। अन्य किसी भी जीव का वियोग नहीं करता है। जो सदैव दयाभावों से जीवों को अभयदान देता है वह पुत्र-पौत्र आदि का वियोगी नहीं होता है।

अर्थ:—बहिरा (बधिर) कौन से पापों से होता है ? हे श्रेणिक् ! जो मनुष्य सभा में समस्त तत्वों को जानने वाले गुरु के परमागम के उपदेश के समय वार्तालाप और विकथादिक कर शास्त्र श्रवण करने वाले साधर्मी भाइयों को क्षोभ उत्पन्न करता हो। जो शास्त्र स्वयं श्रवण नहीं करता हो। शास्त्र वांचने के समय हास्य आदि कुचेष्टा करता हो या नींद लेता हो वह बधिर होता है।

अर्थ:—दरिद्री कौन से पाप से होता है ?

हे राजन् जो शास्त्रविरुद्ध बात को कहता हो जो सदैव जिनाज्ञा में संदेहास्पद रहता हो। देव शास्त्र गुरु की विनय करने में मलिन परिणाम रखता हो । चारित्र से रहित हो मन वचन काय से श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा और अभिषेक आदि करने में असावधान हो। शक्ति होने पर दान देने में अतिशय कृपण हो। वह दरिद्री होता है।

अर्थ:—धनवान् कौन होता है ?

चित्तवाक्यतनूनां च दंडको भयवर्जित:। इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानद: ॥ 85 ॥

इत्यादिपुण्यकार्याणां कारक: पापवर्जित:। स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ 86 ॥

धनवारधरैर्मर्त्यो वेष्टितो भवति सदा। सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जराधिप: ॥ 87 ॥

निजात्मघातकारीच विषशस्त्राग्निना नृप। अतंकालेच संयुक्त: शल्येन क्रियते तप: ॥ 88 ॥

निजोज्वलकुलस्यैव क्षयकारीच यो नर:। मृत्वा भवति स रोगी पुन: गच्छति दुर्गती ॥ 89 ॥

प्राणिनां रक्षको मर्त्य: अंत्यशल्येन वर्जित:। निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारीच यो नर: ॥ 90 ॥

हे राजन्! जो धर्म के कार्यों में सदैव चतुर रहता है, देव शास्त्र गुरुओं की विनय वैयावृत्य करने में जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करने में सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानने में भावों की विशुद्धता से दृढ रहता है, मन वचन काय से संयम का आराधन करता है, भगवान की पूजा अभिषेक आदि धर्मकार्यों को जो प्रेमभाव से करता है और पात्र तथा चतुर्विध संघ को दान देता है वह धनवान् होता है। पुण्यकार्यों से धनवान् होता है।

अर्थ:—जो मनुष्य सदैव दान पूजा अभिषेक आदि पुण्यकार्यों को करता है और अपने परिणामों को सदैव हर्ष के साथ दान पूजा में लगाता है वह धनवान् होता है और फिर निर्जराधिप होता है।

अर्थ:— रोगी कौन से पाप से होता है ?

हे राजन् अपनी आत्महत्या करना, विष शस्त्र अग्नि आदि से अपघात करना–धर्म समझकर आत्म घात से मरना–शल्य से तप करना, अपने पवित्र कुल में धर्मविरुद्ध कलंक लगाकर नाश करना, गुरु माता–पिता आदि पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य सेवा सुश्रुषा आदि नहीं करना इत्यादि कामों से मनुष्य रोगी होता है और दुर्गति में जाता है।

अर्थ:— निरोग कौन कारणों से होता है ?

हे राजन् समस्त प्राणियों को औषध दान से रक्षण करना। शल्य रहित धर्म सेवन करना। अपने अपने कुटुंब तथा समस्त जीवों के कुटुंबों की वृद्धि चाहना, दान पूजादि कार्यों में हर्षित होना इत्यादि पुण्य कार्यों से निरोगता प्राप्त होती है। वह जीव महान् सुखों का प्रभोक्ता होता है।

निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात्। सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र संशय: ॥ 91 ॥
किंचिद्रस्तुमदृष्टंच मानवो योहि भूपते। दृष्टं हि कथयत्येव परदोषप्रदस्तथा ॥ 92 ॥
समये जिनपूजाया: पश्यति स्त्रीस्तनं तनुम्। आभरणं चाननं सुरूपलावण्यादिकम् ॥ 93 ॥
जात्यंधो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि। स पुमान् नात्र संदेह: सदा दु:खस्य भाजक: ॥ 94 ॥
वृद्धत्वेपि नराधीश स्त्रीक्रीडामक्षपोषणं। मुंचति य: पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ 95 ॥
स मृत्वाहि भवत्येव अंधश्च परजन्मनि। महादु:खाब्धिभोगी च मरणांतेहवारत: ॥ 96 ॥
दुर्गंधाद्यमशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात्। मंत्राकर्षेण ह्यानीतं शूद्रस्पृश्यं विवासितम् ॥ 97 ॥
ईदृशं न्वादपानंच व्रतिनां वा मुनीशिनां। आर्यिकाणां ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ 98 ॥
निधसो जायते तस्माद्दोषात् दुर्गतिकारणम्। व्रतयुक्ताय नो देयं अतोऽशुद्धंच वस्तुकम् ॥ 99 ॥

अर्थ:—जन्मांध कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् बिना देखी हुई वस्तु को देखी हुई बतलाना दूसरों के दोषों को देखते रहना। धर्मात्मा पुरुषों के छिद्र ढूंढना। भगवान की पूजा के समय स्त्रियों के स्तन मुख और आभूषणों को देखकर प्रसन्नचित्त होना इत्यादि पाप कार्यों से मनुष्य जन्मांध होता है और वह सदैव दु:ख को प्राप्त करता है।

अर्थ:—जो वृद्ध होकर भी कामक्रीडा में तत्पर रहना। इन्द्रियों के पोषण में ही निमग्न रहना। पुष्ट रसों के सेवन में ही जीवन को व्यतीत करना, धर्मकृत्य को भूल जाना दूसरों की आंखें फोड़ना–इत्यादि पापों से अंधा होता है।

अर्थ:—महान् निघस (भोगरहित) कौन से कारणों से होता है ?

हे श्रेणिक ! जो मुनि–आर्यिका– व्रती–संयमी पुरुषों को दुर्गंध–अशुद्ध उच्छिष्ट दूसरों के लिये संकल्प पूर्वक बनाया हुआ मंत्र के द्वारा लाया और शूद्रजन से स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोगरहित होता है और मायाचार के पाप से दुर्गति में अनंत संसार तक भ्रमण करता है। व्रती पुरुषों को अशुद्ध अन्न देने से महान् पाप का आश्रव होता है। इसके समान अन्य पाप नहीं है। इसलिये मन वचन काय की शुद्धि का उच्चारण कर फिर भी अशुद्ध और शूद्र जन से स्पर्श किया, आहार पान देना, दाता को पुण्य के स्थान पर धर्मकार्य में मायाचारी परिणामों के कारण महान पाप बंध होता है। इसलिये ऐसा पाप का कार्य कदापि नहीं करना चाहिये।

मनुष्यो मगधाधीश मधुस्थानस्य यः कुधीः । घातं करोति दाहं च अग्निना हि करोत्यहो ॥ 100 ॥
कस्यैव खलु जीवस्य शरीरं ज्वालयत्यहो । वा ग्रामं सदनं चैव भूघरं जीवसंभृतम् ॥ 1 ॥
प्रज्वालयत्यरण्यं च तथा ह्युपवनादिकम् । सैव कुष्टी भवत्येव परत्रात्रैव निश्चयात् ॥ 2 ॥
जात्याद्यष्टमदानां च करोति यः पुमान् मदम् । परसद्मनि स दासो भवति नात्र संशयः ॥ 3 ॥
अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च कियत्प्रमाः । दोषा भवंति अस्मिन् वै तान् श्रृणु कथयाम्यहं ॥ 4 ॥
जात्या मदेन अस्यैव नीचजातिर्भवत्यहो । कुलस्य मददोषेण कुकुलस्यैव प्राप्तिता ॥ 5 ॥
मूर्खत्वं जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोयं च दासो भवति निश्चयात् ॥ 6 ॥
निर्बली च भवत्येव बलगर्वस्य दोषतः । वित्तहर्षेण अस्यातिर्भवत्येव दरिद्रता ॥ 7 ॥

अर्थः— कोढ़ी कौन से पाप से होता है ?

हे राजन् मधुमक्षिका के छत्ताओं के नीचे अग्नि लगाकर जीवों को मारना, नगर का दाह करना, ग्राम, घर में, पर्वत में अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियों से भरे हुए वन जला देना। धर्म समझकर सती दाह करना, धर्म समझकर पर्वत में अग्नि दाह करना, वन या जंगल में अग्नि लगवा देना, जीवों को भयानक त्रास देना इत्यादिक पाप से कोढ़ी होता है।

अर्थः—दास कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो जाति कुल ज्ञान बल वीर्य तप ऐश्वर्य और रूप इन आठ के मदों (अभिमान) को धारण कर दूसरे धर्मात्मा जीवों का अपमान करता है वह मरकर दास होता है। 1. जाति का मद करने से नीच होता है। 2. कुलका अभिमान करने से कुकुलीन होता है । 3. ज्ञान का मद करने से मूर्खता आती है । 4. ऐश्वर्य का मद करने से दरिद्री होता है । 5. बल का मद करने से निर्बल होता है। 6. तप का मद करने से रोगी होता है। 7. रूप का मद करने से कुरुपी होता है। 8. और शरीर का मद करने से (साधारण दृष्टी से) दास होता है।

अत्यातं की तपस्याया मदेन भवति ह्ययं । कुरुपीच सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ 8 ॥
एभिरुन्मत्तचित्तं यः करोत्येव नरेश्वर । मृत्वा सैव खरो भूत्वा दासो भवति सः पुनः ॥ 9 ॥
पादेन ताडयत्येव ठणचारीन् नरोत्तम । मानवो यः भवत्येव सैव खंजः परत्र हि ॥ 10 ॥
गडुलो जायते चायं केन दुःकर्मणा जिन । मानुजः सर्वपापाग्निमेव पुष्पोपमप्रभो ॥ 11 ॥
सौरभेयान् तथा छागान् लुलायान् च क्रमेलकान् । रासभान् वाहयान् चैव तथा चानेकपान् नृप ॥ 12 ॥
इत्यादिजीवसंदोहान् तृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिर्मुक्तान् वचनालापवर्जितान् ॥ 13 ॥
पीडयत्यतिभारस्यारोपणेन नराधमः । अतिनिर्दयभावाढ्यो योहि परस्य पीडदः ॥ 14 ॥
अत्रैव कुब्जको भूत्वा करोति गमनं सदा । यष्टिकाभ्यांच दृग्भ्यां वै भुक्त्वा दुःखमनारतम् ॥ 15 ॥
मृत्वा पश्चाच्च गत्वाहि श्वभ्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म पापपाकेन तस्मादपि च सः पुमान् ॥ 16 ॥
आगत्य कुब्जको नूनं भवति नात्र संशयः । पूर्वपापप्रयोगेण अशर्मवस्तुभक्षकः ॥ 17 ॥
दारिद्र्याढ्यं नरं दृष्ट्वा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्सांच करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ 18 ॥
परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जितः । अन्यैश्चाप्नोति धिक्कारं सर्वस्थानेषु तदधात् ॥ 19 ॥

अर्थ—खंजा किस कारण से होता है ?

हे राजन् जो पादों (चरणों) से दूसरों की चांद में ठोकर मारता है वह खंजा होता है।

अर्थ—कुबडा कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् कुत्ता-बकरा-भैसा-बलद-गदहा आदि तृण के भक्षण करने वाले मूक प्राणियों पर शक्ति के बाहर भार लादना-पीड़ा देना निर्दय भाव से ताड़ना करना अन्न पानादि का निरोध करना इत्यादि पाप से मनुष्य कुबड़ा होता है।

अर्थ:—वह कुबडा बिना अपराधी (निरपराधी) पशुओं को अतिशय पीड़ा देने के पाप से मरकर नरक में दुःखों को प्राप्त होता है और वहां से निकलकर फिर भी कुबड़ा होता है। इसलिये मूक और निपराधी पशुओं को सताना अच्छा नहीं है।

अर्थ—धिक्कार का पात्र कौन होता है ?

लकहस्तेन यः मर्त्या मापयित्वा ददात्यहो। परेषामंशुकं भूप महाकपटमंडितः ॥ 20 ॥

हीनतुलकया चैव धान्यादिवस्तुसंचयं। यच्छति अन्यमर्त्यानां हीनमानेन वा तथा ॥ 21 ॥

गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसंहतिमंजसा। वृद्धतुलकया वृद्धमानेनातीवलोभतः ॥ 22 ॥

स हि मृत्वा भवत्येव परजन्मन्यघोदयात् । अंगहीनो महादुःख भाजनो नात्र संशयः ॥ 23 ॥

स्वकरेण कदाप्यत्र दानं स्नानं च पूजनम्। मानुजो नो करोत्येव यः स भवति टुंटकः ॥ 24 ॥

तीर्थनाथस्य तीर्थं भो करोति नैव यो नरः। स हि पंगुर्भवत्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥ 25 ॥

हे राजन् जो दरिद्री दीन मनुष्य को देखकर अपने मन में धनमद से उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य मरकर धिक्कार का पात्र होता है । उसका सर्वत्र अपमान होता है ।

अर्थ—अंगहीन कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो मनुष्य तृष्णा की गृद्धता से कमती तोलता है और बढ़ती लेता है। माप से कपड़ा आदि की कमती माप कर देता है। बढ़ती लेता है। धान्यादिक वस्तुओं को बढ़ती माप कर लेता है। कमती देता है। इस प्रकार जिसकी निष्ठा मन की लोभवृत्ति से मलिन रहती है वह मरकर या उसी भव में हीनांग होता है।

अर्थ:—टूंटा कौन से पाप से होता है ?

हे राजन् जो अपने हाथ से श्रीमज्जिनेंद्र देव की प्रतिमा का अभिषेक पूजा और मुनिगणों को दान वैयावृत्य आदि नहीं करता है वह टूंटा होता है ।

अर्थ—पंगु कौन से पाप से होता है ?

हे राजन् ! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमदेव के पवित्र तीर्थों की यात्रा अपने पैरों से न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थों का पर्यटन करता है उसके सत्य धर्म में श्रद्धा न होने के कारण और मिथ्यात्व के सेवन करने के कारण तीव्र पाप का आश्रव होता है।

अर्थ—मूक कौन से पाप से होता है ?

जिनेन्द्रगुणसंभूतां रागविद्यां शिवप्रदाम्। यः विगायति नैवात्र मानवो भूपते ननु ॥ 26 ॥

भंडरागसमुद्भूतां गायति चातिहर्षतः । रागविद्यां नरः सैव मूको भवति निश्चयात ॥ 27 ॥

यो हि संयमयुक्तानां नराणां गुणिनां तथा। शीलालंकृतगात्राणां जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ 28 ॥

दिगंबरमुनीन्द्राणां तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणां तथा भूप श्रावकाणां सुधर्मिणाम् ॥ 29 ॥

इत्यादीनां च यः मर्त्यः अपवादं ददात्यहो। करोति पापदां निंदां वा हास्यं शर्मनाशकम् ॥ 30 ॥

स मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपी परजन्मनि। भवत्यपरमर्त्यौघैः निंदनीयः सदा खलु ॥ 31 ॥

एषामितरतो भूप महारूपी भवत्ययम्। तदैव शर्मभोक्ताच महासारविभूषितः ॥ 32 ॥

हे राजन् जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवान के गुणों की गानविद्या को न गाकर भंडराग और वीभत्स रागोत्पादक भंड गानों को गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करने के कारण मूक होता है।

अर्थः— महान् कुरूपी कौन से पाप से होता है ? और जनता में अपवाद किसका होता है ?

हे राजन् संयम को धारण करने वाले परम गुणी संत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से विभूषित, जिनेन्द्र मार्ग के प्रकाशक, दिगम्बर मुनिगण ब्रह्मचारी-आर्यिका-श्रावक और श्राविका आदि चतुर्संघ का अपवाद करने से उनमें मिथ्या दूषण लगाने से उनकी मिथ्या निंदा करने से और उनका हास्य आदि कुभाव करने से कुरूपता प्राप्त होती है और उसकी निंदा सर्वत्र होती है। इस पाप के समान अन्य कोई भी पाप नहीं है। इस पाप का फल प्रत्यक्ष इसी भव में प्रकट होता है। और कौढ़ रोग आदि भयंकर दुःसह वेदना शरीर में इस प्रकार के पाप के फल से प्रकट होती है।

अर्थ—सुरूपी और मनोहर कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् चार प्रकार के संघ की मन वचन काय से प्रशंसा करना, सराहना करना और चतुःसंघ को मोक्ष मार्ग का प्रकाशकारी समझकर अतिशय आदर करना-पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्ति में तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान् सुंदर और कीर्तिशाली होता है।

जंतो: कस्यैव पीडां च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुंतेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यत: ॥ 33 ॥
बहुभिर्वेदनाभिश्च संयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्ययपर्यंतपरपीडान्न किं भवेत् ॥ 34 ॥
अन्यस्मिन् य: पुमान् जीवे पीडिते व्याधिभि : सदा । तेषांहि प्राणिनां चैव मोचापयति व्याधित: ॥ 35 ॥
भेषजै: वा रसैर्मंत्रै: अन्योपायोत्करै: तथा । कारुण्यहृदयं कृत्वा सदा परदयारत: ॥ 36 ॥
स भवति नराधीश परजन्मनि मानव: । वेदनारहितो नूनं परपीडानिवारणात् ॥ 37 ॥
कृषिकर्ममनंतानां जीवानां क्षयकारकम् । य: करोति तथा तं च कारापयति अन्यत: ॥ 38 ॥
कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदितं जिनै: । समानैव फलं जैन राद्धांते सर्ववेदिभि: ॥ 39 ॥
कृषि कर्मसमं पापं नो परं भुवनत्रये । रामठं श्रृंगवेरादि कंदवारक्रियं तथा ॥ 40 ॥
जवागूजं मधुच्छिष्टं सर्जिकामश्मजं तथा । गोपरसं तथा नागमस्म क्षारं च पिंजरं ॥ 41 ॥

अर्थ:—जीवों को दुस्सह पीड़ा कौनसे पाप से होती है ?

हे राजन् जो जीवों को बिना कारण ही त्रास देता है। तलवार कुंता चाकू बरछी आदि शस्त्रों से अन्य जीवों को पीडा देता है या अन्य किसी से ऐसी भयानक पीड़ा जीवों को दिलवाता है। समस्त जीवों को दु:खी करने की क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीड़ा को प्राप्त होता है । पाप से क्या नहीं होता है ! जो दूसरों को पीड़ा देगा उसको अवश्य ही पीड़ा प्राप्त होगी।

अर्थ—वेदना रहित कौन से पुण्य से होता है ?

हे मगधेश्वर ! जो व्याधि, दु:ख और पीड़ा से संतप्त, वेदना से आक्रांत जीवों को देखकर उनकी पीड़ा को दूर करता है जो दूसरों को दु:खों से छुड़ाता है जो रोग-व्याधी के समय औषधी मंत्र आदि से उनके दु:खों को नाश करता है और जो समस्त जीवों पर सदैव दयाभाव रखता है वह वेदना रहित होता है।

अर्थ:—मोही कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् खेती आदि हिंसक व्यापार स्वयं करना अथवा तीव्र मोह के कारण हिंसक व्यापार दूसरों से कराना इसी प्रकार अदरक, कंद, गूलर आदि अनंत जीव मिश्रित पदार्थों का व्यापार करना, मदिरा, मांस, शहद आदि का व्यापार करना

चपलं गंधकं चैव शिलिग्रीवं च अब्धिजं। तिलोद्भवरसं चैव लाक्षं जीवस्य घातकम् ॥ 42 ॥
इत्यादीनां करोत्येव क्रयं वा विक्रयं तथा। कुटुंबपोषणार्थं च धान्योत्करस्य यो नरः ॥ 43 ॥
तीव्रमोही कुटुंबेषु मोक्षज्ञानविवर्जितः। हाहाकारकरो दुःखे सदैव दुर्मतिस्तथा ॥ 44 ॥
तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मणः । ज्ञानदर्शनयोर्नून अत्येवावरणस्तथा ॥ 45 ॥
अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणां मगधाधिप। सदा शोकी दिने भोगी स्त्रियाः सद्धर्मवर्जितः ॥ 46 ॥
एभिः दुःकर्मभिः सैव पंचेन्द्रियोन्यजन्मनि। भवत्येकेन्द्रियोनंतदुःखवारस्य भाजनः ॥ 47 ॥
महागूढं च आत्मोत्थं चिन्मयं कर्मवर्जितम्। यः पुमान् जीवतत्वंच सदा निश्चलसंस्थितम् ॥ 48 ॥
ईदृशं कर्मकर्तारं भोक्तारं तत्फलस्यच। व्ययमपि च अभव्यानामप्राप्तंच कदाप्यहो ॥ 49 ॥
जानाति स्वहृदि नैव धर्माधर्मफलं तथा। लोकाकाशमलोकं च सर्वज्ञं दोषवर्जितम् ॥ 50 ॥

कराना, रायगुडिया (जीव विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना कराना, जीवों की चर्बी का व्यापार, गंधक, लोहा, लाख आदि का व्यापार, महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार, मशीनों के द्वारा महान हिंसक होने वाली व्यापार, चमड़े का व्यापार आदि निंद्य और हिंसाजनक व्यापारों का करना कराना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोह उदय से पाप की प्रवृत्ति में लग जाना आदि कारणों से मोही होता है जो अनंत संसार का कारण है ।

अर्थ—एकेन्द्रिय कौन से पापों से होता है ?

हे राजन् जो अन्य धर्मात्मा जीवों के दर्शन ज्ञान का आवरण करता है कुटिल परिणामों से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का अपवाद करता है जो सद्धर्म का लोप करता है जो आर्तध्यान से सदैव शोकातुर रहता है जो दिवस में स्त्रियों का सेवन करता है जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त होता है।

अर्थ:—अनंत संसार में कौन परिभ्रमण करता है ?

हे श्रेणिक समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित आत्मा का जिसके श्रद्धान नहीं है, जो चिद्रूप आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता है, जिसके अंतरंग परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्व से सत्य पदार्थों की श्रद्धा से रहित हैं, जो

मुनीनां सकलाचारं स्वरूपं च चतुर्गतेः। कर्मकर्मफलं चैव कर्मणो बंधनं तथा ॥ 51 ॥
व्यवहारनयस्यैव स्वरूपं नाकदायकम्। निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ 52 ॥
सैव भो मगधाधीश एभिः कुकर्मभिः खलु। तिष्ठत्येव सदा काले संसारे दुःखसंभृते ॥ 53 ॥
उक्तदोषान् निजे चित्ते इतरत्वेन यो नरः। जानात्येव नराधीश भव्यभावेन मंडितः ॥ 54 ॥
बहुकालं च स नैव भवारण्येतिदुःखदे। भ्रमति शीघ्रतो मोक्षे यात्येव ह्यघनाशतः ॥ 55 ॥
भंजनाज्जिनबिंबानां आलयानां च भो नृप। उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानांच नाशतः ॥ 56 ॥
एभिस्त्रिभिः कर्मभिश्चास्य कर्मणां च दृढा खलु । ग्रंथी संबध्यतेऽनंतभवदुःखपदायिका ॥ 57 ॥

लोकाकाशादि तत्वों को नहीं जानता है, जो मुनिधर्म के चारित्र को नहीं जानता है और जो चारों गतियों का स्वरूप कर्म का फल, कर्मों का स्वरूप, कर्मबंध का स्वरूप, व्यवहारनय का स्वरूप, निश्चयनय का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप आदि के स्वरूप को, नहीं जानकर अन्यथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावों से तत्वों के स्वरूप का अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थों के स्वरूप को नहीं जानता है वह चिरकाल संसार में परिभ्रमण करता है ।

अर्थ—संसार के परिभ्रमण से कौन शीघ्र ही छूटता है ?

हे मगधेश्वर ! जो सात तत्वों को यथार्थ श्रद्धान करता है। जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्म को मोक्षोपयोगी समझकर विशुद्ध भावों से धारण करता है जो निश्चयनय और व्यवहार सबसे आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है। जो भव्यभावों से सदैव आनंदित रहता है। जो प्रशम संवेगादि गुणों को धारण करता है वह शीघ्र ही संसार से मुक्त होता है और आत्मिक अविनश्वर सुख को प्राप्त होता है।

अर्थ—मोह की गांठ किस कारण से दृढ होती है ?

हे राजन् ! श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं का भंग करना–दुष्ट बुद्धि से उनका अपमान करना–श्रीजिनदेव के मंदिर का विध्वंस करना–मुनियों को उपसर्ग करना–जिनागम को अवर्णवाद लगाना या जिनागम को मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयंकर पापों से मोह की गांठ दृढ होती जिससे जीव अनंतकाल पर्यंत घोर दुःखों को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानचारित्राणांच यः पुमान्। त्रिशुद्धया पालयत्येव निश्चयव्यवहारतः ॥ 58 ॥
तपोयोगेन कृत्वैवं ग्रंथनः ह्याष्टकर्मणाम्। नाशं यात्येव भो भूप सदा शर्मभयेऽक्षये ॥ 59 ॥
च्युतोपमे निराधारे वृद्धिह्रासविवर्जिते। सिद्धसंदोहसंयुक्ते ह्यंतातीतगुणालये ॥ 60 ॥
इन्द्रनागेन्द्रभूपेन्द्रवृंदपूज्येक्षविच्युते। ईदृशे परमे स्थाने दुर्लभे चान्यलिंगिनाम् ॥ 61 ॥
प्रदोषो निह्नवश्चैव तथा मात्सर्यसंज्ञाकः। अंतरायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ 62 ॥
एभिः षट्कर्मभिश्चास्य बंधो भवति भूपते। द्वयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भवप्रदः ॥ 63 ॥
पृथक्-पृथक् श्रृणु त्वं च षण्णांहि लक्षणं नृप। निर्विकल्पतया वक्ष्ये कर्मबंधविघातकम् ॥ 64 ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानधारकस्यच नुः खलु। चारित्रपालकस्यैव व्येकस्य धारकस्य वा ॥ 65 ॥

अर्थ—मोह की गांठ किस कारण से छूटती है ?

हे राजन् ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि आत्मिक गुणों को मन वचन काय की विशुद्धि से धारण करने से मोह की गांठ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जिससे आत्मीक सत्य सुख प्रकट होता है।

अर्थ—मोह की ग्रंथी नष्ट होने पर जीव को उपमा रहित अनुपम स्वभावरूप से प्राप्त अनंत गुणों से परिपूर्ण इन्द्र नागेन्द्र देवेन्द्रों से पूजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन दिगंबर लिंग से ही होती है।

अर्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आश्रव कौन-कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् प्रदोषा-निन्हव-मात्सर्य-अंतराय-आसादन और उपघात इन छह कर्मों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण का आश्रव होता है। इनका स्वरूप आगे खुलासा से बतलाते हैं।

अर्थ:—प्रदोषादि छहों आस्रवों का पृथक्-पृथक् स्वरूप आगे बताते हैं उसे सुनो।

अर्थ—प्रदोष का लक्षण क्या है ?

हे राजेन्द्र ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और उनका पालन करने वाले भव्य प्राणियों की सभा में प्रशंसा को

सभायांच कृता नूनं मर्त्येन केनचिदियम्। प्रशंसा परमा तस्य अहो धन्योऽधुना सच ॥ 66 ॥
श्रुत्वैवं नो करोत्येव पुमान् कोप्येव तस्यवै। पेशून्यदोषितांतस्थ: परोदयविघातक: ॥ 67 ॥
प्रशंसा च वदत्येव चापवादं तु तस्य वै। प्रदोषस्यैव एतद्धि जानीहि लक्षणं नृप ॥ 68 ॥
केनिचत्पुरुषेणैवं प्रोक्तं भो बुधसत्तम। भवतांच गृहे ह्यस्ति अमुकं पुस्तकं शुभम् ॥ 69 ॥
मां देहि तं पठित्वाच लिखित्वैव पुनश्चवै। दास्यामि भवतां तद्धि द्वापरो नात्र किंचन: ॥ 70 ॥
किमपि कारणं धृत्वा ह्यहंकारंच स्वहृदि। विद्यमानेपि ज्ञानादौ व्याहरत्येव स कुधी: ॥ 71 ॥
नो जानामि इदं जानमस्मत्पार्श्वे च निश्चयात्। पुस्तकोप्येव स नास्ति सा कलाप्येव मानव: ॥ 72 ॥
एवं योहि करोत्येव ज्ञानस्याच्छादनं पुमान्। नास्ति चेति कथनं तत् ज्ञानस्य विद्यते खलु ॥ 73 ॥
प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्हवाख्यं भवप्रदम्। मानवो मगधाधीश बोधापलपनाच वै ॥ 74 ॥

सुनकर सहन नहीं करना–अथवा उन गुणों में अनुराग नहीं होना, गुणों में रुचि नहीं प्रकट करना सो प्रदोष है। ईर्षा या असहिष्णुता के लिये दूसरे पुण्य पुरुषों के उत्तम सम्यग्दर्शनादि गुणों के अभ्युदय को सहन न कर मन में द्वेष बुद्धि से उसका अपवाद करना निंदा करना सो प्रदोष है। इससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आश्रव होता है।

अर्थ—निन्हव दोष का लक्षण क्या है ?

हे राजन् किसी पुरुष ने अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये किसी पुरुष के पास ज्ञान–वृद्धि का साधन पुस्तक आदि की याचना की। मांगी। परंतु मेरी पुस्तकादिकों से यह ज्ञान संपादन कर महत्वशाली बन जायगा जिससे मेरी प्रतिष्ठा या गौरव का नाश होगा इस प्रकार के दुष्ट भावों को हृदय में धारण कर किसी भी बहाने से निषेध कर देना कि मेरे पास वह पुस्तक नहीं है। इस प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनों को छुपाकर मन की कुटिलता से निषेध करना सो निन्हव है। इसी प्रकार शास्त्र की चर्चा का अपने को ज्ञान होने पर भी उक्त प्रकार दुष्ट अभिप्राय को रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालुम नहीं है। सो निन्हव है।

सम्यग्ज्ञान के प्रचार को रोकना–सम्यग्ज्ञान की वृद्धि का नाश करना सम्यग्ज्ञानियों का महत्व गिरा देना सो सब निन्हव दोष है। इससे अनंत दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) का आश्रव होता है।

विद्यते गहनार्थोयं कंठस्थों भवतां खलु। ग्रंथों मां पाठय धीर वाग्रयर्द्धनहेतवे ॥ 75 ॥

योग्योहं पठने तस्य पाठने तस्य निश्चयात्। योग्यस्त्वमसि नान्योहि महामतिप्रधारक: ॥ 76 ॥

एवं श्रुत्वापि तस्यैव वाचं पुंसे च तस्य वै। दानयोग्पायं केनापि हेतुना दीयते न सत् ॥ 77 ॥

य: स लभते भो भूप दोषं मात्सर्यसंज्ञकम्। मात्सर्यहेतुतो नूनं भवभ्रमणकारणम् ॥ 78 ॥

सदसि विद्यमानेच व्याख्यानमागमस्य वै। केनिचत् कारणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ 79 ॥

प्रश्नोदृशं मनोक्त्यावा येनैव ह्यागमस्प च। अंतरायो भवत्येव स्वकार्यवशत: तथा ॥ 80 ॥

अर्थ:—मात्सर्य दोष किसे कहते हैं ?

हे राजन् किसी शिष्य ने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रों का गहन अर्थ सब कंठस्थ है। मैं अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये आपसे पठन-पाठन और अभ्यास करना चाहता हूं मैं इसके योग्य हूं। और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यता के धारक हो यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र मुझे प्राप्त नहीं होगी। इस प्रकार प्रार्थना करने पर जो मन की मत्सरता से सम्यग्ज्ञान के शास्त्रों का पठन-पाठन नहीं करावे अथवा किसी दुष्ट अभिप्राय से योग्य ज्ञान को प्रदान करने में द्वेष करे सो मात्सर्य दोष का धारक है। इससे संसार का भ्रमण होता है।

अर्थ:—अंतराय दोष का लक्षण क्या है ?

हे राजन् शास्त्रसभा में सम्यग्ज्ञान का उत्तम व्याख्यान हो रहा है। जिसको श्रवणकर अनेक भव्य अपना हित संपादन करते हों। उस परमागम के सर्वोत्कृष्ट व्याख्यान को मन की दुष्टता से रोक देना अथवा ऐसा प्रश्न खड़ा कर देना जिससे व्याख्यान बंद हो जावे। अथवा मन को दुष्टता से परमागम के व्याख्यान में हास्यादिक कर परमागम के प्रभाव को नष्ट कर देना अथवा मिथ्या बातें लगाकर परमागम के व्याख्यान में विघ्न कर देना शास्त्र सभा वा पाठशाला आदि को तोड़ देना या किसी बहाने से अन्य के द्वारा नष्ट करा देना सो अंतराय दोष है। मूर्खता और अभिमान से परमागम का विच्छेद करना सो भी अंतराय दोष है। यह अनंत पाप का प्रदान करने वाला भयंकर दोष है।

अन्यां वाहि करोत्येव कुर्वतां हास्यदायकाम्। मौखर्यत्वेन यो मर्त्यः स्वमदेन तथा नृप ॥ 81 ॥
अंतरायाभिधं दोषमंहसंततिदायकम्। उपार्जयति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ 82 ॥
करोति नैव यो मूढः सतो ज्ञानस्य मानवः। कायेन विनयं चैव हस्तकुड्मलतस्तथा ॥ 83 ॥
पदासनाच्च स्तवनात् स्मरणाच्च प्रकाशनात्। प्रबंधानां च सोप्येव तदाछादनतः खलु ॥ 84 ॥
आसादनाख्यं दुर्दोषमाप्नोति मगधाधिप। सर्वदुःखप्रदं हेयं जैनतत्वविदांवरैः ॥ 85 ॥
सुंज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप। यः कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात् ॥ 86 ॥
इदं पाठमशुद्धंच कल्पोक्तमिव दृश्यते। अनुक्तं भासते नूनं संबंधोऽयं कथं धृतः ॥ 87 ॥
इत्याद्यगुणबुद्धेश्च आगमस्यैव योधमः। दूषणं च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ 88 ॥

आसादन दोष का स्वरूप क्या है ?

हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकार से सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागम का मन वचन काय से विनय नहीं करना हाथ नहीं जोडना वंदना भक्ति नहीं करना पूजा नहीं करना ऊंचे स्थानपर विराजमान नहीं करना परमागम के उपकार को भूल जाना और अन्य समाज में परमागम का प्रभाव कुंठित हो ऐसे आचरण करना, मन से परमागम को हितरूप नहीं समझना वचन से उत्तम प्रबंध में दूषण लगा देना सो सब आसादन नाम का दोष है।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञान को धारण करने वाले भव्योत्तम का आदर सत्कार कर महत्व नहीं प्रकट करना सो आसादन नाम का दोष होता है।

अर्थः—उपघात दोष का लक्षण–

हे राजन् सभा में उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागम का भाषण होने पर जो अहंकार या मात्सर्य भाव से (किसी प्रकार की मलिनता से) उस सत्यार्थ को स्वीकार नहीं कर ''यह पाठ नही है'' ''यह अर्थ ठीक नही है'' अथवा ''पदार्थ का स्वरूप नहीं है'' इस प्रकार ज्ञान का घात करना सो उपघात है।

आगम के वाच्यार्थ में या पदार्थ के स्वरूप में मन की कुटिलता से अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात नाम का दोष है। आगम में दूषण या आगम में असत्यार्थ पदार्थ की नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है।

सैव नूनं लभत्येवोपघातावं वुद्दोषकम्। जिनवाक्यविघातत्वात्स्वशब्दस्यैव पोषणात् ॥ 89 ॥
एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण दर्शना वरणयोर्हि भवंत्येव आश्रवा भवदायका: ॥ 90 ॥
आचार्य शत्रुता चैव अकालेऽध्ययनं तथा। अरुचिपूर्वकं ग्रंथपठनं पठतोपिच ॥ 91 ॥
आत्मस्थकरणं नूनमनादरेण तस्यच। व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्वं स्वगुरोस्तथा ॥ 92 ॥
वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभाव के। तत्रैव कथयत्येवं कोपि पैशुन्यदोषत: ॥ 93 ॥
वाचनीयं सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभं। द्रव्यानुयोगनामंच। सभायां नो परं खलु ॥ 94 ॥
वहुश्रुतेष्टगर्वस्य विधानं चापमाननं। परपक्षं पोषयत्येव मिथ्योपदेश की तथा ॥ 95 ॥
स्वस्य पक्षस्य लोकस्य पुष्टकर्मविवर्जित:। ख्यातार्थं पूजनार्थंच लाभार्थमागमस्यच ॥ 96 ॥
चोपदेशं ददात्येव असंवद्ध----(निरर्थक)। कपटेन ज्ञानपाठी चागमानांच विक्रयी ॥ 97 ॥
दूषणं च ददात्येव सम्यग्दृष्टे: ह्यघप्रदम्। प्रशंसां च करोत्येव कुशास्त्राणां च मानवान् ॥ 98 ॥

अपने अहंकार को सिद्ध करने के लिये अपने मिथ्या वचनों को सत्य कहना और आगम के सत्य वचनों को मिथ्या बतलाना सो उपघात है।

अर्थ:—ऊपर बतलाये हुए निन्हवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बंध के कारण हैं।

आचार्य से शत्रुता करना, अकाल में पठन पाठन, शास्त्र श्रवण करने में मन के परिणामों की ग्लानि रखना, ग्रंथ श्रवण करने में प्रमाद प्रकट करना, गुरु की चुगली या निंदा करना अथवा गुरु के समक्ष मिथ्या भाषण करना सो ज्ञानावरणी कर्मबंध के कारण हैं। सभा में प्रथमानुयोग का व्याख्यान हो रहा हो उसको श्रवण करने में ग्लानि प्रकट करना तथा "शास्त्र सभा में तो द्रव्यानुयोग का ही ग्रंथ पढ़ना चाहिये वही मोक्षमार्ग का प्रदाता है" इस प्रकार कहकर प्रथमानुयोग शास्त्र में अरुचि उत्पन्न करादेना या प्रथमानुयोग शास्त्रों को मिथ्या ठहराने का भाव प्रकट कर देना, प्रौढ ज्ञानी पुरुषों को अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना।

आगम के प्रौढ ज्ञाताओं के द्वारा आगमानुसार सत्य-सत्य पदार्थ का स्वरूप सप्रमाण कहने पर ये तो परपक्ष को पुष्ट करने

दीर्घनिद्रायुतो निद्रासंयुक्तो धर्मनिंदकः । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सी निंदकी तथा ॥ 99 ॥
दर्शनावरणस्यैव आश्रवाश्र इमे बुधैः । इत्याद्याः शिवंवधस्य कर्तारः संमताः खलु ॥ 100 ॥
दुःखशोकेन तापेन आक्रंदेन वधेन च । तथा हि रोदनेनैव अहो मगधमंडन ॥ 1 ॥
आत्मपरोभयत्वेन असद्वेद्यस्य बंधनः । भवत्येव च नुः त्वं च एतेषां वर्णनं श्रृणु ॥ 2 ॥
आधिव्याध्यादि के जाते स्वस्य परस्य वा तनौ । संक्लिष्टपरिणामेन चिंतनं क्रियतेत्र यत् ॥ 3 ॥
सैव दुःखाभिधं दोषं लभत्येव नरेश्वर । वा कारितानुमोदेनाशुभमार्गस्य दीपकम् ॥ 4 ॥

वाले हैं मिथ्या उपदेश देने वाले हैं अपने पक्ष को पुष्ट नहीं करते हैं। इस प्रकार अपने मन की कल्पना से आगम में पक्षों की कल्पना कर सत्यार्थ स्वरूप को रोक देना। मान बड़ाई पूजा लाभ और स्वार्थ के लिये शास्त्र का उपदेश देना। अपने स्वार्थ के लिये मिथ्या उपदेश देकर सत्य बतलाना असंबंध और कपटाचार से विरुद्ध पाठ पठन करना, आगम का क्रय विक्रय करना, सम्यग्दृष्टि जीवों को दूषण प्रदान करना, मिथ्या शास्त्रों की प्रशंसा करना। इत्यादि बहुत से कारणों से ज्ञानावरण कर्म का आश्रव होता है।

दिवस में सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढ़ते-पढ़ते शयन करना, धर्म की निंदा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्यों में आलस करना, दूसरों के दर्शन में व्याघात पहुचाना, निंदा करना, मुनिगणों के पवित्र शरीर को देखकर ग्लानि करना इत्यादि कारणों से दर्शनावरण कर्म का आश्रव होता है।

अर्थः—असाता वेदनी कर्म कौन कौन से कारणों से होता है ?

हे मगधेश्वर दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्मा में पर जीव में अथवा दोनों में उत्पन्न कर देने से असाता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है। आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते हैं।

अर्थः—आधि, व्याधि, पीड़ा और तीव्र वेदना आदि होने पर संक्लेश परिणामों के द्वारा बार-बार उस दुःख का अनुभव करना अथवा ऐसा दुःख दूसरों को देना अथवा दुःख देने की अनुमोदना करना, दुःख के कारणों को उपस्थित कर देना सो सब दुःख है। इस प्रकार अपने को और दूसरे जीवों को दुःख देना सो सर्व असाता वेदनी कर्म का आश्रव है।

पुत्रकांता कुटुंबानां विच्छेदे स्वस्य वा नृप। हस्त्यश्वयानद्रव्याणां बहुमोदप्रदायकाम् ॥ 5 ॥

महाशोकं करोत्येव तेषां प्राप्त्यै सदैव हि। शोकाख्यं बंधयत्येव दोषं जन्मनि जन्मनि ॥ 6 ॥

केनचिन्निंद्यकार्यस्य कारणात्स्वस्य जायते। अपवादो महान् लोके तं श्रुत्वा ह्यात्मनि सदा ॥ 7 ॥

पश्चात्तापं करोत्येव नैव मुंचति तं पुनः। स पुमान् भजते तापाभिधं दोषं स्वदुःखदम् ॥ 8 ॥

केनचित्कारणेनैव विलापाक्रंदनं तथा। नेत्राश्रुपातपतनं पूत्कारकरणं नृप ॥ 9 ॥

स्थितोहि रेदनं चैव करोत्येव विकारणे। आंक्रदनाख्यं सो दोषं लभते भवदुःखदम् ॥ 10 ॥

अर्थ—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के होने पर शोक होता है। पुत्र स्त्री कुटुंब आदि सजीव पदार्थों के वियोग होने परवा अपने ही वियोग होने पर अथवा हस्ती घोड़ा धन धान्य आदि पदार्थों के वियोग होने पर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं। दुःख का विशेष रूप ही शोक है। इससे असाता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है। शोक अपने में करना या दूसरे में कराना सब ही असाता के कारण हैं।

अर्थ:—कोई भी निंद्य कार्य करने से अथवा किसी भी अनुचित कार्य के हो जाने पर संसार में अपवाद (निंदा) हो जाने से जो पश्चाताप बार-बार आत्म परिणामों में संक्लेश रूप ग्लानि हो सो पश्चाताप है। कभी कभी धनधान्यादि के नष्ट हो जाने पर, व्यापार में हानि होने पर, कार्य का विपरीत परिणाम होने पर भी पश्चाताप होता है। यह भी एक प्रकार का दुःख का ही रूप है। यह भी असाता वेदनीय कर्म का कारण है।

अर्थ:—किसी भी कारण से ऐसा विलाप पूर्वक रोना कि जिसको श्रवण कर दूसरों के मन में आघात पहुचे, दूसरों के मन दुःख से पिघल जावें, नेत्रों से चित्कार पूर्वक दीनता के साथ रुदन करना अपने परिणामों का संक्लेश भाव प्रदर्शन कर रुदन करना, दूसरों के चित्त को विकार या क्षोभ हो ऐसा रुदन करना सो सब आक्रंदन है। यह अपने में और दूसरों में करने कराने से असाता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है।

झंपापातं हि यो अद्रेः पावके च प्रवेशनं। अध्वौ च पतनं नद्यां श्वासोच्श्वासप्ररोधनम् ॥ 11 ॥
करोत्येवं तथा नूनं खादत्येव विषादिकम्। असिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मानं घातयत्यहो ॥ 12 ॥
इत्यादिभिः नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापधीः। वियोगं च करोत्येव वधावहं सैव निश्चयात् ॥ 13 ॥
दोषं ह्यनंतसंसार परिभ्रमण कारणम्। प्राप्नोति आत्मघातस्य करणान्नात्र संशयः ॥ 14 ॥
परमक्लेशसंयोगात् ईदृशं रोदनं नृप। यः करोति पुमान् नूनं महादुखस्य दायकम् ॥ 15 ॥
परेषां श्रवणाद्यस्य रोदनं भवति सदा। दोषं परिवेदनाख्यं लभते भवदुःखदम् ॥ 16 ॥
पैशुन्यात् पापकार्यस्य प्रेरणात् चापवादतः। तिरस्कारस्य करणात् परेषां निंदनात् तथा ॥ 17 ॥
परद्रव्यापहरणात् अधर्मिजनसेवनात्। कार्यादूतेच अनर्थदंडस्य करणात् पुनः ॥ 18 ॥

अर्थ—समुद्र में पड़कर आर्तरौद्र परिणामों से मरना या दूसरों को मारना, पर्वत से गिरकर प्राणों का नाश करना, अग्नि में प्रवेश करना सती होना, नदी में गिरकर प्राणों का घात करना, श्वासोच्छ्वास क्रिया को रोककर अपघात करना विषादिक भक्षण कर प्राणों का नाश करना तलवार बंदूक आदि शस्त्रों के द्वारा प्राणघात या आत्मघात करना धर्म समझकर प्राणों का वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकार से संक्लेश परिणामपूर्वक मरना दूसरों को मारना या मरवाना सो सब वध है। इससे भी असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है।

अर्थ—आत्महत्या अथवा परघात करने से अनंत संसार का बंध होता है। सबसे भयंकर पाप आत्महत्या है। जो धर्म समझकर आत्महत्या करते हैं वे अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

अर्थ—हे राजन् ऐसे संक्लेश और दुःख परिणामों से रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरों को भी रुदन हो जावे। अपने और दूसरों के परिणामों को क्लेश कारक-वीभत्स रूप से करुणापूर्ण रुदन करना सो परिदेवन नाम का दोष है। इससे भी असाता कर्म का आश्रव होता है।

अर्थ:—चुगली करना, पाप कार्यों की प्रेरणा करना, दूसरों में दोष लगाकर निंदा करना, दूसरों का तिरस्कार करना, दूसरों की निंदा करना, दूसरों के द्रव्य को लूट लेना, पापी, अधर्मी और अपने धर्म से पतित ऐसे निंद्य मनुष्य की सेवा करना,

जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकरणात्तथा। इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रवा भवंत्यहो ॥ 19 ॥

भूतव्रत्यनुकंपाच दानं सरागसंयमः। योगानां क्षांतिः शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ 20 ॥

आश्रवाहि सद्वेद्यस्य महाशर्मप्रदायकाः। भेदं श्रृणुच तेषांहि वच्म्यहंच पृथक् पृथक् ॥ 21 ॥

सर्वभूतेष चित्तेन कायेन वा हृदा तथा। दयाभावं करोत्येव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ 22 ॥

एवं विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे। भूताः सर्वे सदैवोचैः कर्मोदयवशात् खलु ॥ 23 ॥

निजनिजैव भुंजंति दुःखौघं पारवर्जितम्। भविष्यंति कदा मुक्तिः एतेषां दुःखतो ननु ॥ 24 ॥

स पुमान् भूतकंपाख्यं गुणं शर्मप्रदायकम्। लभते नात्र संदेहः सद्व्यापरिणामतः ॥ 25 ॥

पंचाणुव्रतयुक्तानां दृष्ट्वा सद्धर्मवृद्धये। यः पुमान् स्वात्मनि नित्यं दयाभावं ह्यधापहम् ॥ 26 ॥

बिना प्रयोजन हिंसा आरंभ करना, अनर्थदंड के कार्य करना, अपनी आजीविका के लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुत से अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्म के होते हैं।

अर्थः—सातावेदनीय कर्म के आश्रव कौन-कौन से हैं ?

प्राणी मात्र पर अनुकंपा व्रती पुरुषों पर विशेष विनय के साथ अनुकंपा, दान सराग संयम शांति शौच इत्यादि साता वेदनीय कर्म के कारण हैं। इनका स्वरूप खुलासा से बतलाते हैं।

अर्थः—भूत अनुकंपा का क्या स्वरूप है ?

हे राजन् मन वचन काय से समस्त जीवों पर दयाभावों का रखना अर्थात् जीवमात्र में भेदाभेद विचार किये बिना ही दयाभाव से सब पर दया प्रदर्शित करना सो भूतअनुकंपा है।

ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मों के विपाक (फल) से चारों गति में दुःख को प्राप्त हो रहे हैं। इन जीवों का कर्म का संबंध कब नाश को प्राप्त हो। ये जीव कब दुःखों से छूट जावें। इनको सन्मार्ग की प्राप्ति कब हो जावे इस प्रकार का अभयदान समस्त जीवों पर देने की इच्छा से समस्त जीवों पर परम करुणाभाव रखकर उनके दुखों का प्रतीकार करना सो भूतअनुकंपा है।

अर्थः—व्रतियों पर अनुकंपा का क्या स्वरूप है ?

करोति परमं भूप बालं वृद्धं तपस्विनम्। धर्मस्य ज्ञानंद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ 27 ॥

परपीडां च जानाति आत्मपीडामिव सदा। परोपकारकरणे हि दयार्द्रचित्तधारक: ॥ 28 ॥

व्रत्यनुकंपाभिधं सैव गुणं संसारनाशकम् । प्राप्नोति मगधाधीश अनुकंपात्र किं भवेत् ॥ 29 ॥

संसारहेतुहंतारं दानं पात्राय योजयेत्। चतु:प्रकारं यो भावात् गुणं दानाभिधं लभेत् ॥ 30 ॥

हे मगधेश्वर पंच अणुव्रत के धारक या पांच महाव्रत के धारक, संयमी, व्रती और श्रेष्ठ चारित्र के प्रतिपालक पुण्य पुरुषों को दु:खी देखकर श्रेष्ठ धर्म की वृद्धि के लिये दयाभाव प्रदर्शित करना, उनके पवित्र गुणों की चाहना प्रकट कर पूज्य भाव से उनके दु:खों का नाश करना, उनकी पीड़ा को शांत करना, वृद्ध बाल तपस्वी गणों की सेवा वैयावृत्य करना, रोगी और असमर्थ संयमी को धर्म साधन में लगाये रहना, धर्मात्मा साधर्मी भाइयों की आदर भाव से सेवा सुश्रुषा करना ज्ञानी विद्वानों को धर्म के अंग समझकर उनका आदरभाव करना, पाठक, उपाध्याय और धर्म के स्वरूप को व्यक्त करने वाले भव्य जीवों को सहायता कर धर्ममार्ग में दृढ बनाये रखना, दूसरों की पीड़ा को आत्मपीड़ा समझने वाले भव्यजीव साधर्मी भाइयों को सब प्रकार से सुखी बनाना, परोपकार दयाभाव से करना इत्यादि अनेक प्रकार से धर्म अंगों की दृढता करना सो व्रती अनुकंपा है। संसार का नाश करने वाला एक यही गुण है। इस गुण से समस्त पाप कर्म एक क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है।

अर्थ—दान का स्वरूप क्या है ?

हे राजन्! जिस दान से संसार के बंधनों का नाश हो वही सत्यदान है बाकी कुदान है। दान पात्र में ही दिया जाता है। पात्र में प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है। कुपात्र और अपात्र में प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है।

चार प्रकार के पात्र में (मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका) चार प्रकार का दान संसार का नाश करता है और इसके अतिरिक्त अपात्र में प्रदान किया हुआ दान संसार को बढ़ाता है।

अर्थ—सराग संयम किसको कहते हैं ?

हे राजन्! संसार को बढ़ाने वाले द्रव्य कर्म और भावकर्मों को मन की विशुद्ध वासना से नहीं छोड़ना सो सराग संयम

संसारवर्द्धकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा। भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनसादितः ॥ 31 ॥
सो हि सरागसंज्ञंच गुणं शिवप्रदं नृप। लभते भावशुद्धित्वात् क्रमान्मोक्षपदं खलु ॥ 32 ॥
षड् वै जीवनिकायेषु दयापरिणामकारणात्। षडिन्द्रियाणां बंधत्वात् परसंतोषकारणात् ॥ 33 ॥
स्वात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यघात्तथा। आच्छादनत्वात् परेषां दोषाणां धर्मदेशनात् ॥ 34 ॥
क्रियते यः पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान्। संयमाख्यं गुणं सैव प्राप्नोति चेलनाप्रिय ॥ 35 ॥
संयमेन ह्ययं प्राणी शोभते नरनायकः। सर्वपापक्षयं कृत्वा मोक्षदाम व्रगत्यहो ॥ 36 ॥
संयमेन बिना सर्वाः क्रियाः हि निष्फला मताः। मुनीनां वा गृहस्थानां तपोदानादिकाः खलु ॥ 37 ॥

है। भावार्थ–ब्राह्य वचन और काय की क्रिया संयमरूप हो परंतु मन में संकल्प विकल्पों की भावना हो, द्रव्य कर्म और भावकर्मों के परित्याग करने में मन की विशुद्धता नहीं हो सो सराग संयम है। राग सहित संयम सो सराग संयम है। यह सराग संयम क्रम से मोक्ष के सुख को प्रदान करने वाला है।

अर्थः—संयम का स्वरूप क्या है?

चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज! छह प्रकार (पृथ्वी काय–अप् काय–तेजकाय वायुकाय–वनस्पति काय और त्रस काय) के जीवों की रक्षा के लिये अपने परिणामों की विशुद्धता को धारण कर अपने मन और इन्द्रियों को रोकना अथवा इन्द्रियों के विषयों का परित्याग करना दूसरों को संतोष भाव प्राप्त हो ऐसा सरलता से दयाभाव प्रदर्शित करना समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान समझकर समस्त जीवों पर दयाभाव रखना सब जीवों की रक्षा करना पाप कार्यों से भयभीत होना दूसरों के दोषों को ढांकना, धर्मोपदेश के द्वारा दयाभाव का प्रचार करना इत्यादि कार्यों से संयम भावना प्रकट होती है।

आत्मा के परिणामों को विशुद्ध बनाने के लिये मन और इन्द्रियों को वश करना विषय कषायों का परित्याग करना संयम है।

अर्थ—संयम के पालन करने से मनुष्य जीवन की शोभा है। संयम के पालन करने से ही जीव कर्मों का नाश कर मोक्षसुख को प्राप्त होता है। संयम के बिना समस्त जप तप दान आदि क्रियाएँ व्यर्थ हैं। संयम को पालन कर ही भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त होंगे। संयम से ही संसार समुद्र से जीव तरते हैं, तिरे हैं और तिरेंगे। मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का उपाय संयम के बिना अन्य कोई नहीं है।

तरिता: तरंति भो भूप तरिष्यंति नरोत्तमा: । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किंचन: ॥ 38 ॥
क्रोधाद्यानां त्रयाणां च निवृत्तिर्यत्र तत्र वै । क्षांतिर्भवति भो नूनं सर्वाशर्मविनाशिका ॥ 39 ॥
य इमां धारयत्येव सैव क्षांत्यभिधं गुणम् । सर्वसंपत्तिकर्तारं प्राप्नोति मनुजोत्तम: ॥ 40 ॥
क्रियते यद्विरमणं लोभस्यालोभवस्तुत: । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि त्रिशुद्धित: ॥ 41 ॥
सैव शौचाभिधं नूनं गुणं ह्यंगीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकरं भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ 42 ॥
जिनेन्द्रबिंबसत्स्नानकरणाच्च रसोत्करै: । तत्पूजनात्सुद्रव्यौघै: स्तवनान्नमनात्तथा ॥ 43 ॥
वैयावृत्यविधानाच्च बालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंसर्गात् स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ 44 ॥

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रय की निवृत्ति होना सो शांति है।

भावार्थ—क्रोध मान माया आदि विकारों को मन की पवित्रता से रोक लेना, उत्पन्न नहीं होने देना सो शांति है। शांति से समस्त दु:ख नाश को प्राप्त होता है।

अर्थ—हे राजन् लोभ का त्याग करना सो शौच है। समस्त वस्तु मात्र से निर्ममत्व भाव को धारण कर अपनी पवित्र आत्मा में लवलीन होना सो शौच है। इससे महान् पुण्य की प्राप्ति होती है।

अर्थ:—श्रीमज्जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का भक्तिपूर्वक शुभभावों से पंचामृत (दही, दूध, घी, शर्करा एवं सर्वौषधि) से स्नान करना पूजन वंदना स्तोत्र आदि के द्वारा भगवान के गुणों का स्मरण करना, प्रभु को भक्ति से नमस्कार करना, वृद्ध बाल रोगी तपस्वियों की वैयावृत्य करना, साधर्मी भाइयों की सेवा सुश्रुषा और दान मान समर्पण करना, अपने कुल और कुटंबीजनों का नीतिपूर्वक पालन करना, दूसरे जीवों को बंधनों से मुक्त करना भूखे जीवों को भोजन पान करुणा भावों से देकर संतोषित करना, दीन असमर्थ लोगों की करुणाभाव से सहायता करना, रोगी ओर पीड़ातुर जीवों को कष्ट से छुडाना मुनिजनों के हाथ पांव आदि को दबाकर सेवा करना, भक्ति करना, वैयावृत्य के द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना, उनके चरणकमलों को प्राशुक निर्मल जल से धोवना, जैनधर्म अनुयायी गृहस्थों को वस्त्राभूषण प्रदान करना ब्रह्मचारी आदि संयमीजनों की वस्त्र आदि का देना, दयादान का करना इत्यादि अनेक शुभ कारणों से सातावेदनीय कर्म का आश्रव होते हैं।

मोचनात् परबंधस्य परदुःखनिवारणात्। क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ 45 ॥
मुनीनां त्यक्तसंगानां हस्तपादादिमर्दनात्। तेषां पादारविंदानां धोवनात्प्राशुकैर्जलैः ॥ 46 ॥
वस्त्राभरणदानाच्च गृहिणां ब्रह्मचारिणाम्। दयादानस्य सद्दानादन्येषां सर्वप्राणिनाम् ॥ 47 ॥
इत्यादिगुणसंदोहधारणादस्य नुः नृप। भवंति आश्रवा नूनं सद्वेद्यस्यैव संप्रदाः ॥ 48 ॥
केवलिश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य नुः। तथाहि धर्मदेवानां भवत्यावरणो ननु ॥ 49 ॥
भूप दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु। सम्यग्दर्शनसंप्राप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ 50 ॥
एषां संक्षेपतः कुर्वे वर्णनंच पृथक् पृथक्। शिवदं त्वं शृणु भूप स्वचित्तस्य समाधिना ॥ 51 ॥
दुर्बुद्धिधारकाः केचित् ब्रुवंत्येवं मनोक्तितः। महामिथ्यात्वसंमग्नाः सदा द्वापरसंभृताः ॥ 52 ॥
कोट्यादिपूर्ववर्षांते जीवंति भोजनादृते। कथं केवलिनश्चेमे इदं पश्यत सज्जनाः ॥ 53 ॥
गुप्तत्वेन सदाहारं भुंजति सकला इमे। अतो हि संशयो नास्ति देवार्च्याः केवलेक्षणाः ॥ 54 ॥

अर्थः—दर्शन मोहनीय कर्म के आश्रव के कौन-कौन से कारण हैं ?

हे राजन् केवली-श्रुत-चतुर्विध संघ और धर्म में अवर्णवाद लगाना, असत्स्वरूप कल्पना करना सो दर्शन मोहनीय कर्म के आश्रव हैं। इनसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। आगे इन सबका खुलासा से लक्षण बतलाते हैं।

अर्थः—केवली भगवान को आवरण किस प्रकार लगाया जाता है ?

हे राजन् चार घातिया कर्मों को नाश कर केवली भगवान अनंत चतुष्टय युक्त होते हैं। उनकी अनंत चतुष्टयता (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत ही वीर्य और अनंतसुख) तब ही प्राप्त होती है जब कि वे प्रभु अपने ध्यान संयम और योग द्वारा समस्त दोषों का नाश कर देते हैं। केवली भगवान् के उस समय क्षुधा प्यास-जरा-रोग-चिंता शोक उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है। इसीलिये उनमें वह अतिशय प्रकट होता है कि जिसके प्रभाव से देव नागेन्द्र और समस्त त्रिलोक के जीव उनको सर्वोत्कृष्ट और पूज्य समझकर नमस्कार करते हैं, भावभक्ति से पूजा स्तवन और गुणगान करते हैं परंतु ऐसे महान पूज्य केवली भगवान् के अज्ञानी अवर्णवाद लगाकर असत्य कल्पना करते हैं।

सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि। महांतो तदृते तेहि कथं तिष्ठति भो बुधा: ॥ 55 ॥
आतंका हि भवंत्येव तेषां शांतिकमंजसा। भेषजैश्च प्रकुर्वंति देवा: तत्सेवक: ह्यत: ॥ 56 ॥
उपसर्गापि जायंते किंचित्पापोदयाच्च वै। निर्जरा: तद्विनाशं च कुर्वंति नात्र संशय: ॥ 57 ॥
ते नग्नापि तथाप्येव षोडशाभरणान्विता:। सर्वेषां च प्रदृश्यंते देवातिशयमंडिता: ॥ 58 ॥
तुंबी वा कंबलं दंडं रक्षंति ते न संशय: । कालेभेदेन वर्त्तत तेषां ज्ञानोपि निश्चयात् ॥ 59 ॥
केवलज्ञानिनामेवं सर्वेषु महतां खलु। तारकाणां च सर्वेषां निर्दोषाणां विमानिनां ॥ 60 ॥
निर्लिपाधिपनागेन्द्रखचरेन्द्रनरेन्द्रभि:। पूज्यपादारविंदानां गुणवतां गुणेष्वपि ॥ 61 ॥

अज्ञानी और संशयशील मनुष्यों का ज्ञान प्रमाणरूप नहीं होता है इसलिये मदोन्मत्त पुरुष के समान मूर्खता वश कहते हैं कि भगवान् समोसरण में कोटि पूर्व वर्ष पर्यंत बिना आहार के सजीवित नहीं रह सकते इसलिये गुप्त आहार ग्रहण करते होंगे। लुक-छिपकर देवगण या उनके भक्तगण आहार करा देते होंगे। एक साधारण पुरुष आहार के बिना एक वर्ष नहीं रह सकता तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यंत किस प्रकार सजीवित रह सकते हैं ?

केवली भगवान को रोग भी होता है। जब भोजन करते हैं तब उसका विकार कफ, वात और पित्त अवश्य ही रोगी की उत्पत्ति करेंगे और उसकी शांति देवगण करते हैं अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकार की औषधियों के द्वारा शांति करते हैं।

केवली भगवान के उपसर्ग भी होते हैं। क्योंकि अभी उनके पाप का कारण असाता वेदनीय कर्म का उदय मौजूद है। असाता कर्म के उदय से दुख ओर उपसर्गों: का होना स्वाभाविक बात है। पाप से क्या नहीं होता है। भगवान के असाता का उदय होना यह भी तो पाप है।

केवली भगवान यद्यपि नग्न हैं तो भी उनकी शोभा देवगण षोडश भूषण पहनाकर करते हैं क्योंकि भगवान त्रिलोक के प्रभु हैं और वे नग्न रहें तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुता ही महान कैसी मानी जावे ? क्योंकि महान् वही है जो उत्तमोत्तम पदार्थों से सुसज्जित रहता हो।

केवली भगवान् तुंबी-दंड और कंबल रखते हैं क्योंकि इसके बिना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करें। तथा भय का निवारण किस प्रकार करें एवं शीत आदि की बाधा से अपनी रक्षा किस प्रकार करें।

इत्यादिगुणयुक्तानां येऽधमाः कल्पयंत्यहो । असद्भूताभिधं दोषमनंतभवदायकम् ॥ 62 ॥
प्राप्नुवंति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिधम् । दोषं भो मगधाधीश भवाकूपारवर्द्धकाः ॥ 63 ॥
प्राशुकस्य पलस्यैव मधोः मद्यस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राप्ते नो दोषः किमपि खलु ॥ 64 ॥
मातृस्वस्त्रादिकस्यैव मैथुने कंदभक्षणे । रात्रिभोजनपानादौ अंहो नास्ति कदाप्यहो ॥ 65 ॥
कामबाधा यदा साधोः उत्पद्यते तदैव हि । सेवनीयं च वित्तस्य स्त्रियं दासींच कन्यकाम् ॥ 66 ॥
वा साधोः सेवका नूनं स्वयैयावृत्यसिद्धये । अर्पणीयाश्च स्ववामाः कामार्तायैव साधवे ॥ 67 ॥

केवली भगवान का ज्ञान भी कम बढ़ (न्यूनाधिक) हो जाता है। कालभेद से केवली भगवान के ज्ञान में हीनता प्रकट होती है। भगवान के शयन समय ज्ञान ठीक ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्था में वे सावधेत रहते हैं।

इस प्रकार केवली भगवान में अनेक प्रकार की असत् कल्पना अपने मनोनीत भावों से कितने ही अज्ञानी करते हैं। परंतु केवली भगवान में उक्त प्रकार की असत् कल्पना किसी प्रकार भी संभावित हो नहीं सकती है। जब कि केवली भगवान ने समस्त कर्मों का प्रचंड राजा मोहनीय कर्म का ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है। समस्त दोष मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। उसके अभाव में दोषों की सत्ता रह नहीं सकती।

इसलिये भगवान में दोष नहीं होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवली का अवर्णवाद है। इससे मोहनीय कर्म का आश्रव होता है। जिससे अनंत संसार का बंध हो।

अर्थ—मांस पकाकर प्राशुक होता है। उसका भक्षण करने में धर्म शास्त्र की आज्ञा है। इसी प्रकार मद्य-मधु (शहद) और नवनीत के सेवन करने में कोई भी हानि नहीं है। दोष नहीं है। इस प्रकार मलिन और त्रसहिंसा से निरंतर परिपूर्ण पदार्थों का सेवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्र की आज्ञा बतलाना यह श्रुत (शास्त्र) का अवर्णवाद है।

माता बहिन पुत्री आदि परस्त्री के सेवन करने में मूलकंद के भक्षण करने में रात्रि में भोजन पान करने में पाप की प्रवृत्ति नहीं मानना इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थों का सेवन करना और उसको उत्तम समझ धर्मशास्त्र की आज्ञा मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

अर्पणं न करोत्येव स्वस्त्रिया: साधवे च य: । सैव स्वधर्मतो बाह्यो मतो नास्त्यत्र संशय: ॥ 68 ॥

इत्याद्ये ये व्रजंत्येव उन्मार्गे वाक्षपोषका: । केचित् पृच्छंति तानेवं ह्यहो कुमार्ग पोषका: ॥ 69 ॥

काचार सर्वनिंद्यं च भवद्भि: ह्यघकारकम् । इदं कस्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ 70 ॥

अंगीकृतं च अस्माभि: यन्नूनं सकलं बुधा: । आचरणं तद्धि शास्त्रोक्तं तद्वते न: किमपि नो ॥ 71 ॥

इमे सर्वे च संप्रोक्ता: आगमेषु न संशय: । स्त्रीसेवनादिका: कार्या नो निंद्यातो भजामहे ॥ 72 ॥

शास्त्राद्वते किमप्येव नास्त्येवाचरणं खलु । अस्माकं शास्त्रमर्यादात्सर्वमस्ति क्रियादिकम् ॥ 73 ॥

जिस समय साधु (मुनिजन) को कामपीड़ा उत्पन्न हुई हो। तो वह अपनी पीड़ा को वेश्या दासी और किसी की भी कन्या का सेवन कर शांत कर सकता है। इसमें कुछ भी पाप नहीं है। यहां साधु का धर्म है कि पीड़ा को किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे ऐसी आज्ञा धर्मशास्त्र की बतलाना इस प्रकार अपने मन की मलिनता से धर्मशास्त्र में मिथ्या दोष लगाकर कहना सो श्रुत का अवर्णवाद है।

अथवा साधु की काम पीड़ा को शांत करने के लिये उनके भक्तगणों को अपनी-अपनी सुंदर स्त्रियों का दान कर देने में विशेष वैयावृत्य होता है। जो भक्त इस प्रकार अपनी सुंदर स्त्री को साधु की काम पीड़ा को शांत करने के लिये प्रदान करता है वह धर्म को स्थिर करने वाला वैयावृती है। कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार काम पीड़ा की शांति के लिये अपनी स्त्री को साधु के लिये नहीं प्रदान करे तो यह अपने धर्म से बाह्य है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये महान से महान् भयंकर पाप को भी उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्र की आज्ञा बतलाना यह सब श्रुत का अवर्णवाद है।

अर्थ:—इस प्रकार धर्मशास्त्र में मिथ्या अवर्णवाद लगाने वालों से कितने ही विचारशील मनुष्यों ने पूछा कि हे नीति और सदाचार की पवित्र मर्यादा को अपने स्वार्थ से नष्ट करने वाले हो और इसी लिये पवित्र धर्मशास्त्र को बदनाम कर अपना मतलब सिद्ध करने वाले हो, यह निंद्य पापकारक मलिन आचरण कौन से आगम से कहते हो और आचरण करते हो ?

यह श्रवण कर पापी ने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं वे सब धर्मशास्त्र से ही करते हैं। धर्मशास्त्र की

इत्युक्तेन गुणवतो महतो हि श्रुतस्य च । असद्भूतं च दुर्दोषं ददाति यो हि मानव: ॥ 74 ॥
श्रुतावरणवादाव्हं सो हि दोषं कुदु:खदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शास्त्रदोषप्रदानत: ॥ 75 ॥
यथा हि पर्वतो विप्र: गतो हि सप्तमावनौ । कथयित्वैवं जी वौघा घातयोग्या इमे खलु ॥ 76 ॥
तथा हि किं न यास्यंति ग्रंथदोषस्य कारणात् । ते मूढा इन्द्रियाणां च पोषका: शास्त्रनिंदका: ॥ 77 ॥
धूर्ता: पशूपमाश्चेमे शूद्रा दिगंवरा: खलु । तथा त्रयीवहिर्भूता: शुचित्वकर्मवर्जिता: ॥ 78 ॥
निर्लज्जा मललिप्तांगा: अत्रैव दु:खभाजना: । परत्रापि भविष्यंति महादु:खस्य भाजना: ॥ 79 ॥

आज्ञाविरुद्ध कुछ भी नहीं करते हैं। ''काम पीड़ित साधु को स्त्री देना'' मांस मधु नवतीत आदि का भक्षण करने में हानि (पाप) नहीं बतलाना इत्यादि जितने कार्य हैं वे सब शास्त्र में बतलाये हैं। इसमें संदेह नहीं मानना चाहिये। शास्त्र विरुद्ध चलने में हम भी पाप समझते हैं। परंतु हमारे शास्त्रों में उक्त समस्त क्रिया करने की आज्ञा दी है। इस प्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्र में असद्भुत दोषों को लगाना सो श्रुतका अवर्णवाद है।

हे राजन् यह श्रुतावर्णवाद महान् पाप का आश्रव करने वाला है। पर्वत ब्राह्मण समान सातवें नरक में ले जाने वाला है। पर्वत ने भी जीव हिंसा को धर्म बतलाया था और वह शास्त्र में लिखा है गुरूजी ने धर्मशास्त्र इसी प्रकार बतलाया है इस प्रकार श्रुत में मिथ्या स्वकल्पित दोषों का लगाना सो सब श्रुतका अवर्णवाद है।

अर्थ:—संघ का अवर्णवाद क्या है ?

हे राजन् पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचार को पालन करने वाले कुल और जाति से अतिशय विशुद्ध त्रिवर्ण में से किसी एक वर्ण की अपने शरीर से धारण करने वाले शांत मन और इन्द्रियों को विजय करने वाले समस्त दोषों से मुक्त ऐसे दिगंबर साधुओं को धूर्त पशूसम शूद्र कहना मलिन बतलाना निर्लज्ज कहना दु:ख के पात्र मानना सो यह सब संघ का अवर्णवाद है। संघ में असद्भूत दोषों की कल्पना कर मिथ्या निंदा करना है।

अर्थ:—धर्म का अवर्णवाद किस प्रकार होता है ? हे मगधेश्वर ! श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित (अहिंसा परमो धर्म) अहिंसा स्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट इन्द्र नरेन्द्र विद्याधरादि त्रिलोक के उत्तम पुरुषों से सेवनीय ऐसे पवित्र जैन धर्म को निगुर्ण बतलाना अधर्म स्वरूप बतलाना उसके धारण करने वाले मरकर असुर-राक्षस आदि होंगे ऐसा असद्भूत दोष

महतां कथयत्येवं यः पुमान् सैव निह्नयात्। संघावरणवादाख्यं दुर्दोषंच लभत्यहो ॥ 80 ॥
निर्गुणोयं खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जितः। वर्तते ये हि लोकेस्मिन् पुरुषाः तद्विघायकाः ॥ 81 ॥
तेहि सर्वेपि वाह्येहि भविष्यत्यसुराः खलु। अतोयं सर्वतो वाह्यः संप्रोक्तो वेदधारिभिः ॥ 82 ॥
वेदधर्म्मेण सर्वेहि लोकाः तरंति चान्यतः। नो तरंति कदाप्येवं अस्माद्वह्याः परे मताः ॥ 83 ॥
महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम्। ईदृशे सर्वदेवेन्द्रैः पूज्ये धर्मेच्युतोपमे ॥ 84 ॥
केवलज्ञानसंपन्नैः प्रणीते दोषवर्जिते। यः पुमान् स्थापयत्येवं दोषं पूर्वोक्तसंज्ञाकम् ॥ 85 ॥
धर्मावरणवादाख्यं दोषं प्राप्नोति सैव वै। अनंतभवदुःखानां कारकं मगधाधिप ॥ 86 ॥
सर्वज्ञोक्तसमं धर्मं नो परं भुवनत्रये। मोक्षदं पापहंतारं मताऽन्ये दुःखदायकाः ॥ 87 ॥
पिबंत्येव इमे सर्वे निर्जरा नात्र संशयः। मद्य अदंति मांस च मधु वा चामृतोपमम् ॥ 88 ॥
होमस्य सकलांते हि सामग्रीं स्वात्मतोषदाम्। स्वीकुर्वंत्येव रक्तंच सद्योजातं च निह्नयात् ॥ 89 ॥

लगाना जैन धर्म वेद को नहीं मानता है अतएव नास्तिक है धर्मबाह्य है संसार के समस्त जीव वेद से ही तरेंगे। अन्य धर्म से नहीं। इस प्रकार अपने अज्ञान भावों से हिंसा (पशुबलि) करने वाले वेद के धर्म को सत्य समझकर परम दयामयी सत्य जैन धर्म में असद्भूत दोषों की कल्पना करना और असत् दोषों को अपनी मनोनीत कल्पना से पवित्र जैन धर्म में लगाना सो समस्त धर्म का अवर्णवाद है।

अर्थः—देवों का अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

हे श्रेणिक देवों का शरीर वैक्रियक होता है इसलिए उनके शरीर में मद्य मांस आदि का कुछ भी संबंध नहीं है। देव स्वयं पवित्र होते हैं। ये मद्य मांस का सेवन नहीं करते हैं। परंतु मिथ्यात्व कर्म के उदय से ऐसे पवित्र देवों को मद्यपायी बतलाना मांस भक्षी कहना मधुसेवी कहना सो देवों का अवर्णवाद है।

—कितने ही मत मांस सेवनादिक अपने धर्म शास्त्रों में बतलाते हैं तथा कितने ही साधुओं को अपनी स्त्री प्रदान करने में पुण्य की प्राप्ति बतलाते हैं।

एषामर्थं च सर्वेहि रचिता जंतवोखिला: । स्वयंभुवा अतो नूनं होमविधिरपि तथा ॥ 90 ॥
देवार्थं मारयंत्येव ये जीवा: तेहि सत्पदम् । प्राप्नुवंत्यत्र संदेहो नास्त्येव तद्धि शर्मणात् ॥ 91 ॥
होमाग्नौ पतिता येहि वामा वा पुरुषोत्करा: । हस्त्यश्वा:सौरभेयाश्च अजावृंदा नपुंसका: ॥ 92 ॥
तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्माब्धिसंभृते । एषां मांसं च देवाहि स्वीकुर्वंति सदैव हि ॥ 93 ॥
होमकाले अतो यज्ञ विधि: प्रोक्त: स्वयंभुवा । नास्त्यत्र संशयो नूनं नानाशर्मप्रदायकम् ॥ 94 ॥
इत्यादि उक्तितो येहि ब्रुवति तेहि निश्चयात् । लभंते दु:खदं दोषं देवस्यावर्णवादजम् ॥ 95 ॥
अदोषे दोषकथनादस्य नुरेभि: कर्मभि: । मिथ्यात्वाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवंत्यहो ॥ 96 ॥

इसी प्रकार (देवों के विषय में) होम के समय देवगण तत्काल काटे हुए बकरा आदि पशुओं का रक्तपान करते हैं। उनका मांस भक्षण करते हैं। इसी के लिए समस्त जानवर प्राणी बनाए गए हैं।

जो देवों को प्रसन्न करने के लिए जीवों को मारकर बलिदान देते हैं वे सत्पथ के गामी हैं। उनको स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं। इसलिए देवों के सामने पशुओं को मारकर चढ़ाना यह उत्तम धर्म है।

स्त्री-पुरुषों के हाथ से होम में पड़े हुए हाथी घोड़े कुत्ते बकरे नपुंसक मनुष्य और दूसरे प्राणि मरकर नियम से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

होम में बलि चढ़ाए हुए जीवों का मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते हैं। इसीलिए ब्रह्मा ने ऐसे जीवों की सृष्टि निर्माण की है।

इस प्रकार ब्रह्मा ने जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति के लिये होम विधि बतलाई है और होम में जीवों को मारकर बलि चढ़ाना बतलाया है।

यदि देवों को जीव मारकर नहीं चढ़ाये जावें तो देवगण कुपित हो जांयगे। इसलिये उनकी प्रसन्नता के लिये जीवों की बलि देना चाहिये।

इस प्रकार पवित्र देवों में असद्भूत दोषों की अपने स्वार्थ के लिये मिथ्या कल्पना कर अवर्णवाद लगाना सो देवावर्णवाद है। यह अनंत दु:खों को प्रदान करने वाला है, इसमें संदेह नहीं है।

श्रृणु चारित्र मोहस्य कारणं कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कषायोदयतो ननु ॥ 97 ॥
यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बंधो भो मगधाधीश सर्वदुःखप्रदायकः ॥ 98 ॥
व्र'तिनां शीलयुक्तानां मुनीनां ब्रह्मचारिणाम् । वृथैव दूषणं दुःखं दत्वात्येवापवादकम् ॥ 99 ॥
स्वस्य वा हि परस्यैव करोत्युत्पादनं वृथा । कषायस्यैव यो नूनं तथा हि धर्मध्वंसकम् ॥ 100 ॥
मात्सर्यं चैव पैशुन्यं निंदा हास्यं च धर्मिणाम् । शीलव्रतस्य त्यागं हि विभ्रमोत्पादकं तथा ॥ 1 ॥
अंतरायं च सद्धर्मकार्ये क्रोधादिकं तथा । संन्थासिजंगमादीनां सेवां वा व्रतधारणम् ॥ 2 ॥
इत्यादिभिर्नराधीश अस्य जीवस्य निश्चयात् । बंधश्चारित्रमोहस्य भवत्यनंतदुःखदः ॥ 3 ॥

अर्थः—इस प्रकार केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव के सर्वथा निर्दोष स्वरूप में दोष कहना, असद्भूत कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्म का कारण है। अनंत संसार को बढ़ाने वाले मिथ्यात्व का आश्रव इससे होता है।

अर्थः—हे मगधेश्वर चारित्र मोहनी कर्म के आश्रव बतलाते हैं—कषायों के उदय से परिणामों में तीव्र कषाय पूर्वक संक्लेश भावों के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आश्रव होता है। कषायों का उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म के बंध के कारण हैं।

अर्थ—व्रती संयमी सदाचारी मुनि ब्रह्मचारी आर्यिका श्रावक–श्राविकाओं पर व्यर्थ दूषण लगा देना उनकी निंदा हो और धर्म का प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपवाद प्रकट कर देना धर्म को ध्वंस करने वाली हँसी या कथा कहकर जीवों को सन्मार्ग से हटाने का प्रयत्न करना धर्मात्मा पुरुषों से मात्सर्यभाव रखना उनकी चुगली कर उनको सन्मार्ग से गिराने के भाव रखना शीलव्रतों के धारक पुरुषों को शील का माहात्म्य घटाने के अभिप्राय से विभ्रम उत्पन्न कर देना धर्मकार्य में अंतराय कर देना संन्यासी पाखंडी कपाली और बाह्य पुरुषों की सेवा करना इत्यादि सर्व चारित्र मोहनीय के आश्रव हैं। हे श्रेणिक महाराज इस कर्म के उदय से चारित्र पालन करने की अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है।

1—कुशिक्षा और विषयों की अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उत्पन्न होती है उस समय मनुष्य की बुद्धि में कुत्सित स्वार्थ के वश दुर्वासना हो जाती है जिससे वह विवेक को भूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषों को अपने समान पापी बनाने का प्रयत्न करता है। उत्तम सदाचारी के गुणों को उनके सन्मान को उनके आदर्श चरित्र से उत्पन्न हुए निर्मल यश को देखने में असमर्थ होता है इसलिये किसी प्रकार मैं उनकी निंदा कर जगत में उनकी महिमा को न बढ़ने दूं इस प्रकार की धारणा से अनेक प्रकार के दोष असद्भूत दोष मनोनीत भावों से कल्पित कर जगत् के सामने रखता है। परंतु इससे संयमी या पवित्र चारित्र के धारक मुनिगणों की हानि नहीं होती है। उनका यश और अधिक उज्ज्वल होकर विश्वव्यापी बनता है। परंतु इस प्रकार कुत्सित कर्म से अपनी आत्मा को वह अवश्य ठगकर नरकादि दुर्गतियों का पात्र बनाता है।

अस्योदये हि अस्यैव नो भवत्येव श्रेणिक। चारित्र पालने शक्तिश्चाल्पमात्रापि नुर्ननु ॥ 4 ॥
बंधो भवति भो भूप तीव्ररागस्य कारणात्। परद्रव्यापहरणात् निश्चलवैरकारणात् ॥ 5 ॥
मिथ्यादर्शनसंसर्गात् शीलव्रतादिनाशनात्। अत्यैव कृष्णलेश्यत्वादत्यंतरौद्रध्यानतः ॥ 6 ॥
बालवृद्धपशूनांच बंधनान्मारणात्तथा। हिंसादिक्रूरकार्यस्य करणात्प्रेरणात्तथा ॥ 7 ॥
विषयाणामतिगृद्धत्वादनृतस्य च पोषणात्। सेवनात्परदारामाया निशाभोजनकारणात् ॥ 8 ॥
अगालितजलस्नानकरणात् कंद भक्षणात्। मधुमद्यादिमांसानामदनाज्जिननिंदनात् ॥ 9 ॥
नर्कगत्यायुषश्चास्य कर्मणः पुरुषस्यवै। इत्यादिकर्मतो नूनं सदा दुःखविधायकः ॥ 10 ॥
वंचनात्परमर्त्यस्य असत्यानंदधारणात्। नीलकापोतलेश्यत्वात् सदार्त्तध्यानकारणात् ॥ 11 ॥

अर्थ—नरक गति कौन-कौन से कार्यों से होती है ?

हे राजन् तीव्र राग का करना तीव्र मोह युक्त परिणामों को रखना दूसरों के द्रव्य का अपहरण करना निश्चल वैर बांधना मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग करना ब्रह्मचर्य का नाश करना अथवा दूसरों के ब्रह्मचर्य का नाश कराना कृष्ण लेश्यामय होना अत्यंत आर्त रौद्र ध्यान का सतत चिंतवन होना बाल वृद्ध पशुओं को कोडा आदि से पीटना अथवा क्षुद्र प्राणियों को मारना असमर्थ दीन पशुओं को मारना हिंसादि पाप कार्यों में सतत लगे रहना पाप कार्यों की तीव्र अभिलाषा रखना विषयों में अतिशय गृद्धता। विशेष अनुराग रखना पर स्त्री सेवन करना रात्रि में भोजन करना, बिना छाने पानी से स्नानादि समस्त क्रियायें करना, कंदमूल का सेवन करना, मद्य का पान करना-मांस भक्षण करना शहद का सेवन करना श्री जिनेन्द्र भगवान और उनके पवित्र शासन की निंदा करना, जिनवाणी में दूषण लगा देना इत्यादि कारणों से नरक गति (नरकायु) का आश्रव होता है।

अर्थ—तिर्यंच कौन-कौन से पापों से होता है।

हे मगधेश्वर मायाचारी रखना, दूसरों को ठगना, झूंठ वचन बोलना, नील कपोत लेश्या के परिणाम रखना आर्तध्यान के परिणाम बनाये रखना दूसरों के सद्गुणों का लोप करना और अपनी अपने आप प्रशंसा करना अनर्थकारी वचनों का बोलना दूसरों को पीड़ा देना कृत्रिम वस्तु का उत्पन्न करना, दूतकर्म करना, अन्य जीवों को ठगना, मिथ्या प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचार से ठगना इत्यादि पाप कर्मों से तिर्यंच गति का आश्रव होता है।

लोपनात् सद्गुणानांच इतराणांच कीर्तनात्। अनर्थवचनस्यैव कथनात्परपीडनात् ॥ 12 ॥
करणात् कृत्रिमवस्तोः दूतत्वाच्च परस्य वै। लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात् ॥ 13 ॥
मायाकुकर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भववृंददैः। तिर्यग्योनिसमं नूनं दुःकर्मान्यो नहि नृप ॥ 14 ॥
तैर्यग्योन्यायुषो बंधो भवत्यस्यैव प्राणिनः। अनंतानंतदुःखानां दायको वा भयप्रदः ॥ 15 ॥
विनीतप्रकृतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात्। स्वभावभद्रसंभावात् असूयत्वात्परस्य च ॥ 16 ॥
शोषणात्स्वतनोः व्रतध्यानाद्यैः शुद्धकर्मभिः। अंतकाले चासंक्लेशभावस्य करणात्तथा ॥ 17 ॥
भाषणान्मिष्टवाक्यानां त्रसजीवादिरक्षणात्। शिकतारेखसमानक्रोधस्य धारणात्तथा ॥ 18 ॥
षट्कर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात्। क्रयाणां विक्रयाणां च शुद्धानां कार्यकारणात् ॥ 19 ॥
मिश्रपरिणामतश्चैवाल्पसंक्लेशभावतः। जिनेन्द्रपूजनाच्चित्यं गुरूणां सेवनात्तथा ॥ 20 ॥
श्रवणाज्जिनशास्त्राणां लिखित्वा अर्पणाच्च वै। गुरवे स्वस्य हस्तेन वा धनेनोपदेशतः ॥ 21 ॥
भवभोगांगशर्मादौ उदासीनस्य कारणात्। कापोतपीतलेश्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ 22 ॥
मानाभावात् मृदुभावादल्पारंभस्य धारणात्। तथाल्पपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् ॥ 23 ॥
इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुषस्यैव आयुषः। बंधो भवति भो नूनं शर्माशर्मप्रदायकः ॥ 24 ॥

अर्थः—मनुष्य आयुका बंध कौन-कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् (नम्र स्वभाव रखने) सरल भाव रखने से दूसरों की द्रव्य की चोरी अपहरण आदि नहीं करने से स्वभाव से भद्रपरिणामी होने से अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रखने से मनुष्य आयु का आश्रव होता है।

सब जीवों के साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिक के द्वारा अपने शरीर को कृश करना, उत्तम शुभाचरणों का पालन करना, अंत समय में असंक्लेश परिणामों का रखना मिष्ट हितकारी वचनों का प्रतिपाद न करना, त्रसजीवों की रक्षा करना बालू के समान क्रोध के परिणाम होना षट्कर्मों का पालन करना मिथ्यात्व का परित्याग करना व्यापार में नीति और श्रेष्ठ निष्ठ रखना परिणामों में असंक्लेशता को धारण करना जिनेंद्र भगवान का पूजन करना, गुरुओं की सेवा सुश्रुषा वैयावृत्य करना जिनवाणी

पालनात् द्वादशानां च व्रतानां धर्मसंग्रहात्। मूलादिगुणव्रतानां अंगीकारस्य कारणात् ॥ 25 ॥
धारणात् स्वेदमलानां बुभुक्षत्वस्य रोधनात्। सहनत्वाच्च तृष्णाया: भूशयनस्य कष्टत: ॥ 26 ॥
कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् वंदिदुर्गृहे। परितापादिकानां च सहमानादिहादृते ॥ 27 ॥
एकदंडी त्रिदंडीनां संन्यासितापसां पुन:। तथा परमहंसानां परिव्राजादिकां पुन: ॥ 28 ॥
इत्यादीनां च बालानां सदाहिंसादिकारकाम्। परमिथ्यादृष्टीनां तपस: सेवनादपि ॥ 29 ॥
कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात्। तथाहि शुद्धसम्यक्त्वात् नित्येज्याकर्मकारणात् ॥ 30 ॥

शास्त्रों का उद्धार करना अपने द्रव्य का जिनशासन की वृद्धि में उपयोग करना संसार भोग और देह से विरक्त भावों का धारण करना पर पदार्थों से उदासीन रहना कापोत पीत लेश्या के परिणाम होना समस्त जीवों की दया पालना निरहंकार भाव से सरस परिणाम व कोमल भावों का होना गुरुजनों का विनय करना इत्यादि कार्यों से मनुष्य आयु का आश्रव होता है।

अर्थ:—देवगति का आश्रव कौन-कौन से भावों से होता है ?

हे राजन् बारह प्रकार के व्रतों का पालन करना धर्म का सेवन करना अठाईस मूलगुणों का पालन करना आदि उत्तम चारित्र के धारण करने से देव आयु का आश्रव होता है। स्वेद मल को धारण करने वाली दीक्षा लेना भूख प्यास आदि बाधाओं को सहन करना पृथ्वी पर शयन करना बंदीगृह आदि के निमित्त से ब्रह्मचर्य पालना अकाम निर्जरा के कारण उत्पन्न करना परिताप धूप गर्मी शीत आदि बाधाओं का सहन करना एकदंडी त्रिदंडी संन्यासी बाबा आदि के अज्ञान भेषों को धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना परमहंस परिव्राजक बनकर नग्न होकर तपश्चरण करना बाल तप-बाल चारित्र और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना हिंसादि क्रूर भाव वाली दीक्षा को धारण कर कष्ट सहना मिथ्या दृष्टियों के मलिन आचरणों को धारण कर कष्ट सहन करना काय क्लेश का सहन करना कष्ट पूर्वक व्रतों का धारण करना इत्यादि कारणों से देवगति का आश्रव होता है।

शुद्ध सम्यग्दर्शन शुद्ध चारित्र का पालन नित्य भगवान की पूजादिक शुभ कर्मों का पालन शुभ भाव कषायों की शांतता ध्यान की प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतों का पालन इत्यादिक कारणों से उत्तम देवगती का आश्रव होता है।

इत्यादिहेतुतश्चास्य देवानामायुषो नृप ! प्राप्तिर्भवति नुर्नूनं सदाशर्मप्रदायकः ॥ 31 ॥

केचिदेषांच मध्येहि कर्मबंधा नरेश्वर। कुदेवयोनिकर्त्तारः केचित्सुदेवदायकाः ॥ 32 ॥

पराधीनस्य मृत्यत्वात् बालादितपससस्तथा। अयं जीवः प्रयात्येव कुदेवयो निषु सदा ॥ 33 ॥

महावृताणुव्रतत्वात् सम्यक्त्वशुद्धभावतः। यात्येव शुद्धदेवानां पदेषु वार्चनादितः ॥ 34 ॥

शुद्धभावेन संप्राप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात्। परमशांतभावस्य इतरेणेतरस्य हि ॥ 35 ॥

सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्ध्याहि अस्य नुः। तथाहि इतरत्वेन श्वभ्रनिकोतकस्यवै ॥ 36 ॥

मत्वेति सकला भव्या दानेज्याव्रतसंचयम्। परिणामस्य संशुद्ध्या कुर्वीध्वं च सदैव हि ॥ 37 ॥

अर्थ—देवों के भवनत्रिक और कल्पवासी ऐसे दो भेद हैं। भवनत्रिक सर्व कुदेव कहलाते हैं और कल्पवासी सुदेव (सम्यग्दृष्टि) कहलाते हैं। पराधीन और परवश से व्रतों का पालन करने से या बालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों का)तपश्चरण करने से कुदेव गति का आश्रव होता है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावों के धारण करने से और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत अणुव्रत आदि धारण करने से उत्तम देवायुका बंध होता है। विशुद्ध भावों से उत्तम देवगति का बंध होगा और मलिन भावों से कुदेवगति का बंध होगा।

अर्थ:—इस जीव को मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धि से होती है। जिनके ऐसे चित्त की शुद्धि प्राप्त नहीं हुई है और मिथ्यात्व के उदय से चित्त की मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है ऐसे जीवों को नरक या निगोद गति का बंध होता है। इसलिये जिस प्रकार हो भावों की शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये। जिनके भाव निर्मल नहीं रहते हैं वे व्रत तप करने पर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं कर सकते हैं और जिनके भाव निर्मल हैं वे बिना व्रत तप के भी सुगति का लाभ संपादन करते हैं। इसलिये हे भव्यजीवों अपने अपने भावों को भगवान की पूजा दान अभिषेक प्रतिष्ठा महोत्सव जिन धर्म की प्रभावना आदि से विशुद्ध बनाओ जिससे भव-भव में उत्तम सुख की प्राप्ति होती रहे।

भावशुद्धया च यो मर्त्यश्चाल्पमात्रमपि बुधाः । दानपूजादि सत्कार्यं करोति सैव निश्चयात् ॥ 38 ॥
लभत्येव वरां पंक्तिं शर्मणांच फलस्य हि । अंतरेण विनाचाग्रे जन्मनि जन्मनि सदा ॥ 39 ॥
योगानां वक्रत्वाच्चैव विसंवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवत्येव अस्याश्रवाश्च कर्मणः ॥ 40 ॥
संक्षेपतश्च एतेषां शृणु व्याख्यानमंजसा । त्याज्यं संसारभीतैश्च दयार्द्रचित्तधारकैः ॥ 41 ॥
कायेनाऽन्यत्करोत्येव वचसान्यद्ब्रवीत्यहो । अन्यद्धि चिंतयत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ 42 ॥
एवंहि त्रिविधानां च योगानां यस्य वक्रता । भवत्येव हि तस्यैव योगवक्रत्वमुच्यते ॥ 43 ॥
मता आत्मगतत्वाच्च अस्यैव योगवक्रता । तथा परगतत्वाच्च विसंवादोहि संमतः ॥ 44 ॥
स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि यः पुमान् । बध्यते कुटिलान्येव स्यात्पुनः खकराण्यहो ॥ 45 ॥

कुनाम कर्म का आश्रव कौन कौन से कारणों से होता है ?

हे राजन् ! मन वचन काय की कुटिलता साधर्मीभाइयों के साथ विसंवाद करना इत्यादिक कार्यों से कुनाम कर्म का आश्रव होता है। आगे इसका विशेष खुलासा करते हैं।

अर्थ—काय से कुछ अन्य कार्य करना वचन से कुछ अन्य ही भाषण करना और मन में कुछ अन्य ही भाव रखना—(अर्थात् मन, वचन और काय की कुटिलता रखना-मायाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना) सो योगों की वक्रता कहलाती है। इस प्रकार योगों की वक्रता से कुनाम कर्म का आश्रव होता है।

(मन वचन काय की कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगों की वक्रता कही जाती है और वही दूसरों के लिये उत्पादिका हो तो उसी को विसंवाद कहेंगे।

भावार्थ—अन्य मनुष्य के परिणामों में कुटिलता उत्पन्न कर वाद-विवाद करना या अन्य के लिये अपने परिणामों में कुटिलता लाकर वाद-विवाद करना सो विसंवाद है।

अपने मन वचन काय अपने ही (आत्म कार्य के लिये) कार्य के लिये कुटिलता को धारण करे, मायाचार पूर्ण मन वचन काय की प्रवृत्ति बनी रहे वह योगों की वक्रता है। इस प्रकार योगवक्रता से कुनाम कर्म का आश्रव होता है।

अब शंका यह होती है कि दूसरा भेद विसंवाद है वह जुदा क्यों बताया है ? इसलिये आगे विसंवाद का स्पष्टार्थ करते हैं:—

सैव प्राप्नोति दोषं च योगवक्रत्वमंहदम्। विसंवादस्य भेदोत्र कथं प्रोक्तो द्वितीयक: ॥ 46 ॥
सम्यक् प्रवर्त्तते कश्चित् क्रियासु मनुजोत्तम:। परमाभ्युदयदायकेषु हि भद्रभावयुक् ॥ 47 ॥
पुमांसं वर्तमानं तं तत्रैव कोपि दुर्मति:। दृष्ट्वा हि मानव: स्वस्य विपरीतस्य तैस्त्रिभि: ॥ 48 ॥
मिथ्या प्रेरयति ह्येवं माकार्षी: भो नरोत्तम। त्वमेव च इदं कार्यं मयोक्तं त्वं कुरु सदा ॥ 49 ॥
इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो। कुर्वाणाश्च त्वया नूनं मया प्रोक्ता: हि शर्मदा: ॥ 50 ॥
इत्येवं नाहि यो भूप मोचापयति यन्नरम्। शुभकार्यातथा तं च दुर्मार्गे पातयत्यहो ॥ 51 ॥
सैव तत्कर्मतो नूनं विसंवादाभिधं नृप। प्राप्नोत्येव महादोषमशुभनामकारकम् ॥ 52 ॥
मिथ्यादर्शनतश्चैव परशून्यत्वतस्तथा। धारणात्कूटमानानां तुलकायाश्च कूटत: ॥ 53 ॥
कूटेन परद्रव्यस्य हरणान्मानकारणात्। वंचनार्थं परेषां च वेषोज्वलत्वधारणात् ॥ 54 ॥

अर्थ:—एक भद्रपरिणामी भव्य जीव श्री जिनागम की आज्ञानुसार सम्यक् प्रकार से एक शुभ क्रिया में प्रवृत्त हो रहा है और शुभाचरणों को पालन कर रहा है। उसकी इस शुभ प्रवृत्ति को देखकर कोई दुष्ट जीव विपरीत भावों को धारण कर अपने वचन काय की कुटिलता से कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्या मार्ग में (स्व मनकल्पित असन्मार्ग में) ले जाने के लिये मीठी बातों से समझावे कि, आप यह काम क्या करते हो ? यह तो ठीक नहीं है। इससे आपकी हानि होगी। इस कर्म के करने से लाभ नहीं है। इस (पूजाभिषेक ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये दान देने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। यह मत करो और मैं बतलाऊ वह कार्य करो जिससे सुख मिले लाभ हो। इस प्रकार उस भव्यजीव को शुभ कार्य से छुड़ाकर कुमार्ग में पात करा देवे पाप कार्यों में लगा देवे सो विसंवाद कहलाता है।

भावार्थ—विसंवाद का यह अभिप्राय है कि मायाचार को धारण करने वाले मनुष्यों की मन की दुष्टता से जो स्वार्थ सिद्धि के लिए वचन की मीठी-मीठी प्रवृत्ति और कार्य की मोहक चेष्टा जिससे सामने वाला अपने अभिप्राय को नहीं जानकर अपनी बातों में और चेष्टा में फँस जावे और इससे सन्मार्ग को छोड़कर पाप मार्ग में लग जावे वह विसंवाद कहलाता है।

अर्थ—मिथ्यादर्शन के प्रभाव से अशुभ नाम का सदैव आश्रव होता है। चुगली करना झूंठे माप करने के गज पाली

दु:मंत्रतंत्रयोगेन तथा चूर्णरसेन वै। सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्यत: ॥ 55 ॥
दावानलप्रदानाच्च इष्टकोद्वयपाचनात्। तदोपदेशानुमोदात्तत्कर्तु: व्यवहारत: ॥ 56 ॥
आरामखंडनाच्चैव वृक्षांना लूयनातथा । वापिकाकूपकासारकरणाद्वास्य कारणात् ॥ 57 ॥
देवागमगुरूणांच पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुतूहलोत्पादनात्परेषां विडबनात् ॥ 58 ॥
क्रोधाद्यानां चतुर्णांच वर्द्धनात्परपापदात्। पापकर्मोपजी वित्वान्महाआक्रोशधारणात् ॥ 59 ॥
इत्यादिकार्यतो भूप भवंत्यस्यैव आश्रवा: । दुर्नामवारकर्तार: अशुभनामकर्मण: ॥ 60 ॥
कारणान् त्वं श्रृणु भूप शुभनाम्नश्च कृर्मण:। तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रवा: हि भवंत्यहो ॥ 61 ॥

मानी आदि माप रखना कमती-बढ़ती तोलना मायाचार से दूसरों की द्रव्य हर लेना दूसरों को ठगने के लिये ऐसी सोसायटी बनाना कुशिक्षा के अभिमान से दूसरों को पीडाकारक मंत्र-तंत्रों की रचना करना दूसरों को ठगने के लिये ऊंचा भेष धारण करना। झूंठे मंत्र-तंत्र प्रयोग कर पाप कर्म की चेष्टा करना पुत्र-पौत्र का लोभ देकर दूसरों की स्त्रियों को वश करना दावानल लगाकर बतलाना ईंधन का ढेर लगाकर जलाना (होली बनाकर जलाना) अथवा ऐसे ही पापिष्ट कार्यों की अनुमोदना करना ऐसा पापिष्ट उपदेश देना, कुमार्ग या पापमार्ग में ले जाने वाले मिथ्या लेख लिखना। ऐसे व्यवहार करना कि जिससे कुमार्ग की वृद्धि हो जीव हिंसा के कार्य करना, बाग बगीचा करवाना, वृक्षों के जंगल के काटने का ठेका लेना, कूआं बावड़ी तालाब आदि खोदने का पापारंभ करना या कराना और उसमें धर्म मानना। देवशास्त्र गुरु संबंधी द्रव्य का भक्षण करना दूसरों को कौतूहल उत्पन्न करने वाले वचन कहना दूसरों की विडंबना करना क्रोधमान माया लोभ कषायों को बढ़ाना या ऐसे भावों से कषायोतपादक कार्य करना पाप मार्ग का उपदेश देना मिथ्या मार्ग की प्रशंसा कर उपदेश देना पाप कर्म की आजीविका बतलाना आक्रोश को धारण कर कुचेष्टा करना काम वासना से मन वचन काय की कुचेष्टा करना काम के राग से हसना विभ्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्यों से अशुभ नाम कर्म का आश्रव होता है।

अर्थ:—हे राजन्! शुभनाम कर्म के आश्रव को सुनो। जो जो कारण अशुभ नाम कर्म के आश्रव के बतलाये हैं। उसके विपरीत कारण शुभ नाम कर्म के आश्रव हैं। तो भी विशेषता से स्पष्ट बतलाते हैं। मन वचन काय योगों की सरलता परिणामों

त्रयाणां चैव योगानां ऋजुभावस्य कारणात्। परेषां सज्ञनानां हि अविसंवादनात्तथा ॥ 62 ॥
साधर्मिजनसंमिलनादत्यंतहर्षधारणात्। अभ्युत्थानस्य करणात् अत्यादरप्रजल्पनात् ॥ 63 ॥
मायाभावस्य संत्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा। परपैशून्यसंत्यागात् स्थिरचित्तस्य धारणात् ॥ 64 ॥
परप्रशंसनत्वाच्च आत्मनिंदनकारणात्। जल्पनात्सयवाक्याना कूटसाक्षित्ववर्जनात् ॥ 65 ॥
वर्जनात्परद्रव्यस्य अल्पारंभपरिग्रहात्। संतोषाच्च परेषां वै परदुःखविमोचनात् ॥ 66 ॥
रूपादिमदनिर्नाशात् उज्वलवेषधारणात्। सदस्य जल्पनाचैव मृदुवचनभाषणात् ॥ 67 ॥

की कोमलता सज्ञन पुरुषों के साथ अविसंवाद साधर्मी भाइयों के मिलने पर अतिशय हर्ष भाव संयमी जनों के संयोग होने पर खड़ा होना अत्यंत आदर के साथ नम्र भावों से वचनालाप करना, मायाचार परिणामों का परित्याग करना प्रमाद का परित्याग करना चुगली और निंदा का परित्याग चित्त की स्थिरता का धारण करना धैर्य से धर्म सेवन करना दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना अपनी आत्मनिंदा करना सत्य वचनों का संभाषण, कूट कर्कश गुह्य-हास्य- और कामोत्पादक वचनों का परित्याग झूंठी साक्षी का परित्याग करना दूसरों की द्रव्य का अपहरण नहीं करना अल्प आरंभ और परिग्रह रखना संतोष पूर्वक शांत भावों से रहना दूसरों के वैर भाव का परित्याग करा देना जीव मात्र के साथ मैत्रीभाव प्रकट करना। अन्य जीवों को दुःखों से छुड़ाना। अपने स्वरूप का अभिमान नहीं करना। अभिमान का परित्याग करना। ब्रह्मचर्यादि उत्तम भेष का धारण करना सत्य भाषण करना, मृदु वचनों का उच्चारण करना चतुर्विध संघ की सेवा करना धर्मकार्य में अत्यंत हर्ष सहित उत्साहित रहना। तीर्थ यात्रादि धर्म कार्यों में तत्पर रहना श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा आदि का प्रतिष्टा महोत्सव करने में समुत्सुक होना। श्रीजिनेन्द्र भगवान के शासन की वृद्धि के लिये सत्य धर्म का उपदेश करना दूसरों को ठगने के लिये वशीकरण आदि प्रपंच नहीं करना समस्त जीवों को सुखी करने का प्रयत्न करना। हास्य और कौतूहल का त्याग करना, वन में अग्नि नहीं लगाना, होली इत्यादि हिंसक क्रिया का परित्याग करना, जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठा पूर्वक श्रीजिनालय में विराजमान करना, जैन चैत्यालय बनवाना, श्री जिनमंदिर की स्थापना करना, श्री जिनागम की वृद्धि और रक्षा के लिये सरस्वती भवन खोलना, गुरुओं की सेवा, के लिये वसतिका (मठ) गुफा आदि का बनवाना, प्राचीन जीर्णशीर्ण श्री जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करना, भगवान का रथ महोत्सव करना, जलयात्रा विधान करना, अष्टोत्तर कलशों से प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना। अनेक प्रकार के गीत

संघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा। जिनयात्राप्रतिष्ठानां जिनधर्मोपदेशनात् ॥ 68 ॥
अवशीकरणाद्यैव परसौभाग्यवर्द्धनात्। हास्यत्यागात्परेषां च अकूतूहलकारणात् ॥ 69 ॥
इष्टकापाकदावाग्नेः वर्जनात् धनरक्षणात्। निर्मापणात्तथा जैनबिंबानां धातुवस्तुभिः ॥ 70 ॥
तत्प्रसादादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा। भ्रामणात्तद्रथस्यैव पुरवाह्यवने शुभे ॥ 71 ॥
तन्नामस्तवनाद्यैव अविडंबस्य धारणात्। चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्यानां सदैव हि ॥ 72 ॥
अपापकार्यजीवित्वात् परवस्तुविवर्जनात्। परापवादसंत्यागात् पुरुषवाक्यलोपनात् ॥ 73 ॥
बुभुक्षुसत्वदानाद्य जिनगुणस्य गायनात्। मृगादिपशुजातीनां बंधनिर्नाशतात्तथा ॥ 74 ॥
अस्यैव आश्रवाश्चैते भवंत्येव नरेश्वर। इत्यादिशुभसंभावात् शुभनाम्नश्च कर्मणः ॥ 75 ॥
सदैव शुभनामं च प्राप्नोत्येव अयं पुमान्। एभिः सुकर्मभिर्नूनं सदा शर्मप्रदायकैः ॥ 76 ॥
तीर्थंकराभिधो गोत्रः अस्यैव परमेश्वरः। बध्यते कर्मभिः कैश्च निलिंपाधिपवंदितः ॥ 77 ॥

नृत्यों के द्वारा भगवान के गुणों का स्मरण करना। रात्रि जागरण कर प्रभु के गुणों का गान स्तुति भक्ति के द्वारा करना। हिंसादि पंच पापों का परित्याग करना क्रोधादि कषाय भावों को छोड़ना। पाप कार्यों की आजीविका नहीं करना। पशुओं के बंधन छुडाकर अभयदान करना, दूसरों का अपवाद नहीं करना भूखों को अन्नदान देना, दीन, अपंगु, अंधा, कोढ़ी, दुःखी जीवों की रक्षा करना, जीवों को पापमार्ग से बचाना, श्री जिनेंद्र भगवान के भक्त साधर्मी भाइयों की सेवा सुश्रुषा विनय तथा आदरभाव करना, भोजन पानादिक से संतुष्ट करना, स्थिरभाव करना वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्ग की प्रभावना प्रकट करना इत्यादिक शुभ कार्यों से शुभनाम कर्म के आश्रव होते हैं।

अर्थः—तीर्थंकर प्रभु का गोत्र कौन से शुभ कार्यों से होता है ?

हे मगधेश्वर इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवों से सदैव पूजित पंचकल्याणकों के द्वारा जगत में परमाश्चर्य को प्रकट करने वाले ऐसे श्री तीर्थंकर प्रभु का गोत्र षोडश भावना से बंध होता है। उनका स्पष्टीकरण विशेष स्वरूप के द्वारा बतलाते हैं, उसको हे राजन् ! एकाग्र मन से सुन जिससे पापों का नाश हो।

षोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै। श्रीतीर्थंकरगोत्रस्य बंधो भवित भूपते ॥ 78 ॥

तेषां नामानि त्वं भूप श्रृणु एकाग्रमनसा। अनंतशर्मसंदानि सर्वपापाग्नितोयदैः ॥ 79 ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धिमहनिकर शैलेति वज्रोपमा-माद्यां सर्वव्रतेषु मोक्षसुखदां भव्यैर्नरैः संधृताम् ॥ 80 ॥

दोषैः सर्वविवर्जितां मुनिवरो यो धारयत्येव भो। नूनं सैव लभत्यहो वरमतिः सद्भावनां भूपते ॥ 81 ॥

यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यंतहर्षात्सदा। कुर्यादेव विनाकषायसुहृदा निर्वाणशर्मप्रदम् ॥ 82 ॥

नानाशर्मप्रदायकंच विनयं प्राप्नोति सैव ध्रुवं। सर्वेषु विनयाभिधां मुनिनुतां सद्भावनां श्रेणिक ॥ 83 ॥

सर्वेषु योहि धत्ते असमगुणनिधिः शीलव्रतेषु मौनी। अनतीचारत्वमेवानुदिनं सचवैत्र्यैवशुद्धया नरेन्द्र ॥ 84 ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतों के नाश करने के लिये वज्र के समान, समस्त व्रतों में मुख्य भव्यजीवों से सदैव आराध्य समस्त दोषों से रहित समस्त जीवों का उपकार करने वाली यह दर्शनशुद्धि भावना है। जो मुनीश्वर इस पवित्र भावना को परिणामों की विशुद्धता से धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर गोत्र का बंध अवश्य ही करता है।

पच्चीस दोष रहित आठ गुणों सहित निर्मल परिणामों से श्रीजिनदेव, जिनागम और श्रीजिनगुरू का श्रद्धान पूर्वक सम्यग्दर्शन को धारण करना सो दर्शन विशुद्धि है।

अर्थ—हे श्रेणिक ! रत्नत्रय और रत्नत्रय को पालन करने वाले मुनिजनों की अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यंत हर्ष के साथ निष्कषाय शुद्ध भावों से विनय करना उनके गुणों में आसक्त होना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना अंतरंग परिणामों से अतिशय पूज्य मानना लोकोत्तम शरणभूत और मोक्ष मार्ग के हितकारी समझना सो विनय नाम की भावना है। इससे सर्व सुख की प्राप्ति होती है।

देव शास्त्र और गुरु को सत्य सत्य प्रमाणित मानकर आत्महित के लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना चाहिये। इसी जिन धर्म, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय धर्म को धारण करने वाले भव्यजीव आदि की यथा योग्य विनय करना चाहिये।

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव समस्त व्रतों में अतीचार नहीं लगाता है। मन, वचन और काय की विशुद्ध भावना से सम्यक् श्रद्धा पूर्वक पालन करता है और अपने व्रतों को सर्वोत्कृष्ट समझकर निर्मल भावों से निस्पृह (निर्वांछा) पूर्वक पालन करता है वह समस्त उत्तम सुखों को प्रदान करने वाली देवों से पूजित शील व्रतेषु अनतीचार नाम की भावना को धारण करता है।

अनतीचारत्वसंज्ञां परमपददां भावनां धर्मबीजां। वंद्यां इन्द्रादिदेवैः सकलमलहरां पालयत्येव नूनम् ॥ 85 ॥
ज्ञानं दोषविवर्जितं जिनमुखादुत्पन्नमेव शुभं। पापापापविभेदकं रविप्रमं त्रेधा विशुद्धया मुनिः ॥ 86 ॥
काले काले सदैव सुपठति यः ईदृशं धर्मबीजं। शुद्धां सैव सुभावनामघहरां ज्ञानाभिधां शंप्रदाम् ॥ 87 ॥
संसारं दुःखमूलं बुधजननिकरैः सर्वकालेषु हेयं। निस्सारं शर्महीनं सकलविधिकरं पारहीनं अभव्यैः ॥ 88 ॥
एवं चित्ते विचारं सकलविधिहरं यो मुनिर्भावशुद्धया। सैव संवेगसंज्ञां सुभजति नृपते भावनां कुर्वते हि ॥ 89 ॥
शक्त्यनुसारतोवै सकलसुखकरं पुण्यबीजं सुदानम् । पात्राय यच्छति यः सकलमतिप्रदं शुद्धभावाद्यतेन्द्रः ॥ 90 ॥

अर्थ—हे श्रेणिक जो भव्यजीव दोष रहित श्रीजिनेंद्र भगवान के मुख कमल से उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान का मन वचन काय की विशुद्धि से काल में पठन-पाठन मनन स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावना को धारण करता है।

श्रीजिनागम के श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावों से पठन-पाठन करना सो ज्ञानभावना है। जिनागम ही धर्म का बीज है। पापों का नाश करने वाला है और आत्मा आदि अमूर्तीक अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रकाशने के लिये सूर्य के समान हैं। कल्याण मार्ग इससे ही प्रकट होगा। वस्तु का यथार्थ परिज्ञान जिनागम से ही प्राप्त होगा। इस प्रकार के भावों से श्रीजिनागम का अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञान को संसार का मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है। अपने बालक बालिकाओं को भी जिनागम का अभ्यास सबसे प्रथम कराना चाहिये। अन्य ज्ञान के अभ्यास से बुद्धि मलिन और संस्कार मलिन होते हैं।

अर्थ—संसार दुःखका मूल है। विचारशील भव्यजीव इस संसार को सर्वथा हेय और निस्सार समझते हैं। इसमें रंच मात्र भी सुख नहीं है। समस्त उत्तम कार्यों का नाश करने वाला है। उसका पार पाना अभव्यों से कठिन है। ऐसे संसार को अपना हितरूप न समझकर संसार संबंध भोगोपभोगों पर ममत्व भाव का त्याग करना और संसार की चाहना मन वचन काय की शुद्धि से नहीं करना सो संवेग भावना है। संसार से विरक्तता और आत्मभावना सो संवेग भावना है।

अर्थ—हे राजन् अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक भावों की विशुद्धि से मन, वचन, काय और द्रव्य की शुद्धि से पात्र में दान देना सो त्याग भावना है। इस प्रकार नित्य ही पात्र में दान देना सो त्याग भावना है। इस प्रकार नित्य ही पात्र में दान देने की उत्कट भावना और अत्यंत हर्षित परिणाम त्यागभावना के उत्पादक हैं। इस प्रकार की भावना से समस्त सुख प्राप्त होते हैं।

त्यागाख्यां सैव नूनं लभति च नृपते भावनां भावशुद्ध्या। अंहानां वारनाशे ह्यसुखप्रवहरां वज्रतुल्यां सदैव ॥ 91 ॥
प्रोक्तं श्रीजिननाथवैर्मुनिनुतं संसारपारप्रदम्। नानाकर्मविनाशकं मुनिवरो यः शक्तिलोपादृते ॥ 92 ॥
पालत्येव विशुद्धितो हि अमलं द्विषट्प्रमं सतपः। सैव भो मगधाधिप सुतपजां तां भावनां सेवते ॥ 93 ॥
साधूनां साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदां यः करोति नरेन्द्रः। तेषामुत्पन्नविघ्नेनशनतपबलात् शीलसंपद्युतानाम् ॥ 94 ॥
योगानां धारणाद्वै अतिकठिनशिलातिष्ठना नाद्यौपसर्गात्। दुष्टानां योगतो वै व्रतयमनिवहपालकानां सदैव ॥
राद्धांतालापबोधैः परमसुखप्रदैः पापसंतापहारैः। वान्योपायैर्मुनीन्द्रः। तदुपशमनं भो वाहि विघ्नस्य नाशं ॥ 95 ॥
वंद्यां पूज्यां मुनीन्द्रैः शुभगगुणप्रदां भावनां मोक्षबीजां। साधुसमाधिसंज्ञां परमहितकरां सैव प्राप्नोति नूनम् ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर श्री जिनेंद्र भगवान ने संसार का नाश करने के लिए और समस्त कर्मों का विध्वंस करने के लिए अत्यंत पवित्र बारह प्रकार का तप प्रतिपादन किया है। उसको जो यतीश्वर भावों की विशुद्धि से अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर धारण करते हैं वे तपोभावना का पालन करते हैं।

अर्थ— हे मगधेश्वर शील संयम व्रत तपयुक्त साधुगणों के व्रत नियम तपादि अनुष्ठान में आने वाले विघ्नों का दूर करना, अतिशय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करने पर आये हुए दुस्सह उपसर्गों के विघ्नों को दूर कर रत्नत्रय की रक्षा करना। आधि व्याधि और दैवी उपसर्ग आ जाने पर संयम और रत्नत्रय की रक्षा करना दुष्ट मनुष्य तिर्यंच और देव आदि से होने वाले उपद्रवों से रत्नत्रय की रक्षा करना मरणादिक भयंकर उपद्रव उपस्थित होने पर शास्त्रों का उत्तम धर्मोपदेश–सम्यग्ज्ञान का सदुपदेश संसार की निस्सारता आदि का प्रदर्शन कर रत्नत्रय की रक्षा करना समाधिमरण समय संक्लेश परिणामों से सद्बोध द्वारा रक्षा करना सो सब साधु समाधि है। इस भावना से आत्मा स्थिर शांत और आत्म भावना में लवलीन रहता है।

अर्थ—हे राजन्! वृद्ध बाल असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरों की हृदय से भक्तिपूर्वक सुश्रुषा पाद मर्दन आदि अनेक प्रकार से वैयावृत्य करना सो वैयावृत्य भावना है। रोगी मुनियों को औषधी (प्रासुक और रोग को नाश करने वाली) प्रदान करना असमर्थ और शीतादिसे पीड़ित मुनियों को वसतिकादि प्रदान कर वैयावृत्य करना बाल मुनियों को जिस प्रकार धर्म में दृढता प्राप्त हो वैसे वैयावृत्य करना चाहिये।

वृद्धाद्यानां मुनीनां: परमगुणवतां क्रियते यो मुनीन्द्र: । पादादिमर्दनाद्धि सकलासुखप्रदां सैव भूपेन्द्र नूनम् ॥ 96 ॥
वैयावृत्यं च सैव लभतिच शिवदां सर्वव्रतेषु सारां । वैयावृत्याख्ययुक्तां सकलविधिहरां भावनां भव्यवंद्याम् ॥
विधीयते यत्स्नपनादिजाप्यं स्तवं तथा तद्गणचिंतनंच । श्रीमदर्हतां शुभभावशुद्धया सदैव काले मुनिसत्तमोहि ॥ 97 ॥
सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धां भक्तिं मन:पापविभंजकत्वनाम् । तन्नामजां तां शुभभावनांहि सत्सातदां भव्यनरै: प्रपूज्याम् ॥ 98 ॥
आचार्याणां करोति परमरुचिवशात्पादपद्मस्य पूजा-मभ्युत्थानं तदाप्ते सन्मुखप्रगमनं संभ्रमस्य विधानम् ॥
आज्ञादानंच तेषां पुन: प्रणतयो यतीन्द्र: त्रिशुद्धया । प्राप्नोति भावनां स: सकलमुनिनुतां सूरिभक्त्याख्ययुक्तां ॥ 99 ॥
शास्त्राब्धिपारगेषु सुमुनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुरागं । वचनालापैरनल्पै: गुणयश:कथनैरभ्युत्थानादिकैश्च ॥
सैव बहुश्रुतजां सदा सुखप्रदां भो भूपते भावनां । लभते सयमधी: सुभगगुणयुक् द्वापरो नात्र भव्य ॥ 100 ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो श्रीमान् जगत पूज्य अरहंत भगवान की प्रतिमा को साक्षात् अरहंत मानकर भक्ति पूर्वक विशुद्ध भावों से (मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक) पंचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना गुणगान करना स्तवन करना पूजन करना वंदन करना अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूप से श्री जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप का चिंतन करना सो सब अरहंत भक्ति है।

हे राजन् ! जो हृदय की विशुद्धि और भक्तिभावना से आचार्य परमेष्टी के चरणकमलों की पूजा करना आचार्य महाराज को सामने आतेही (देखकर) खड़े हो जाना हाथ जोड़कर विनय से नमन करना उनके पीछे-पीछे विनय से चलना उनकी आज्ञा को शिरसा वंद्य समझकर बहुत सन्मान पूर्वक धारण करना उनका योग्य सन्मान कर सदैव अर्चना करना उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा सुश्रुषा करना सो आचार्य भक्ति है।

अर्थ:—हे राजन् ! जो समस्त शास्त्र के पारगामी और आगम को जानने वाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करता है, उसके बहुश्रुत भक्ति होती है। उपाध्याय परमेष्ठी की आज्ञा को शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा सुश्रुषा करना, हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, मधुर वचनालाप से संतोषित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकार से भक्ति की जाती है।

जिसके आगम पर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्य जीव अपना हित आगम से ही मानकर आगम के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा भक्ति कर समस्त सुख को प्राप्त होते हैं।

शुद्धे श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरगणैर्माननीये प्रपूज्ये। भव्यानां तारके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ॥
भूपेदृक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्धयानुराग-। माप्नोति शर्मदां यः प्रवचनसुनामजां वरां भावनां सः ॥ 101 ॥
आवश्यकानि मुनिसत्तमानां यो विभृते षट् शिवदायकानि। काले च काले सकलांहहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्तमश्च ॥ 102 ॥
सो भावनां संभजते हि आवश्यकापरिहाण्यभिधां विशुद्धाम्। सामायिकाद्यानि सुशुद्धकानि तेषांच चितस्य अतो हि कार्या ॥ 103 ॥
शुद्धैव ज्ञानयोगात्पुनः जिनस्नपनाद्वा चतुर्दानदानात्। विद्यामंत्राश्च तंत्रादतितपकरणात्तीर्थयात्रा विधानात् ॥
इत्यादिहेतुतोवै परममतिप्रयुक्तयः करोति त्रिशुद्धया। श्रीमज्जैनेन्द्रधर्मस्यच खलु नृपते सुप्रभाव मनोज्ञम् ॥ 104 ॥

अर्थः—हे राजन् ! जैनागम समस्त देव, इंद्र, नरेंद्र और गणधरेंद्रों से पूज्य है। भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार करने के लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोष ज्ञान का प्रदान करने वाला है जगत उपकार करने वाला है, समस्त तत्वों का प्रकाश करने वाला है। ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागम की भाव शुद्धि से श्रद्धा कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है।

एक श्रुतभक्ति से जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर मोक्षसुख को प्राप्त होता है। देशना के बिना किसी जीव का हित नहीं हुआ है। इसलिये जिनागम पर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये।

अर्थ—हे राजन् ! षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन करना नितांत आवश्यक है। जो भव्यजीव शरीरादि के अस्वस्थ हो जाने पर और (गृहादिक के) आवश्यक कार्य उपस्थित होने पर भी षट् आवश्यक क्रियाओं के पालन करने में प्रमादी नहीं होता है वह इस भावना को पालन करता है।

सामायिकादि षट् आवश्यक कर्मों को जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्यों को छोड़कर समस्त प्रकार की क्रियाओं को रोककर मन वचन काय की एक भावना से षट् आवश्यक कर्मों का पालन करता है वह इस श्रेष्ट भावना का आराधक होता है। इसलिये जिस क्रिया का जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये।

अर्थ—हे राजन् जो भव्य जीव सर्वोत्कृष्ट जिनागम के ज्ञान के द्वारा समस्त मत मतांतर के असत् (मिथ्या) तत्वों को खंडन कर सत्य और प्रमाणित अनेकांत स्वरूप तत्वों का प्रकाश कर जैन शासन की दृढ़ता करता है वह मार्ग प्रभावना प्रकट करता है अथवा शास्त्रार्थ के द्वारा जैन मत की सर्वोत्कृष्टता का प्रकाशना सो मार्गप्रभावना है।

प्राप्नोति सैव नूनं शिवपदजनकां चित्तपापारिहंत्री। मार्गप्रभावनांच जिनवरपददां धर्मवृद्धेः प्रयोगात् ॥

वृद्ध्या धर्मस्य लोके विमपि न भवति दुःखपंक्तिः शरीरं। शक्त्यानुसारयोगात्सुमुनिवरगणैः सर्वदैव प्रकार्या ॥ 105 ॥

पुरुषे भूप करोति यः सुहृदा स्नेहं महानंददं। स्ववत्से हि यथा च श्रृंगिणि तथा सद्यःप्रसूता मुदा ॥

धर्मे जैनेन्द्रसंस्थे भजति प्रवचनवत्सलत्वाख्ययुक्तां। सैव सच्छर्मकारां परमगुणप्रदां भावनां भो मुनीन्द्रः ॥ 106 ॥

एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थंकरस्यैव। तानि षोडश कारणानि सुखदान्येवाहुः सुकर्मणः ॥

भगवान की प्रतिमा का विशुद्ध भावों से और उत्सव गीत नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक जलयात्रा प्रतिष्ठा महोत्सव रथमहोत्सव और चतुःसंघ को दान प्रदान के द्वारा महान प्रभावना की जाती है।

इसी प्रकार मंत्र की शक्ति से अनेक प्रकार के चमत्कार बतलाकर धर्म का प्रभाव प्रकट कर समस्त दुर्वादि और जड़ अज्ञानी जीवों को सन्मार्ग में लगा देने से भी प्रभावना होती है।

इसी प्रकार जप-तप-तीर्थयात्रा जिनमंदिर निर्माण आदि धार्मिक कार्यों की महिमा प्रदर्शन करने से मार्ग प्रभावना होती है।

अथवा चतुःसंघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) निकालकर धर्म का उद्योत करने से भी मार्गप्रभावना होती है।

जीवों को अभयदान प्रदान करने से और परोपकार के लिये करुणादान करने से भी प्रभावना होती है। इस प्रकार जैनधर्म की महिमा अन्य मिथ्यागतियों में प्रकट कर देने से धर्म का प्रभाव प्रकट होता है। अपनी शक्ति के अनुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना सो मार्गप्रभावना है।

धर्म की वृद्धि-धर्म की स्थिरता और धर्म की महिमा प्रकट होने से यह भावना सर्वोत्कृष्ट है। समस्त पापों के नाश करने वाली है और समस्त प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली है।

अर्थ—हे राजन् जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र देव के पवित्र धर्म को धारण करने वाला है और जिसके देव, शास्त्र और गुरु का पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना धर्मबंधु समझकर गाय और बछड़े के समान प्रेमभाव करना उसको साधर्मी भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है।

अस्यैवाश्रवकारणानि सकललेखादिवंद्यस्यवै। संसारातपघातकस्य सुमते हे हि भवंत्येवच ॥ 107 ॥
लोपनं सद्गुणानां च इतराणां प्रकाशनम्। एभिर्हि कर्मभिः सैव चतुर्भिः दुःखदायकैः ॥ 108 ॥
लभते नीचगोत्रंच श्रृणु त्वं वर्णनं ह्यथ। एतेषामेकचित्तेन प्रवक्ष्येहं पृथक्-पृथक् ॥ 109 ॥
परनिंदाभिधं दोषं भजतं परनिंदनात। अयं पुमान् न संदेहः अनंतभवदुःखदम् ॥ 110 ॥
विधीयते च यः स्वस्य प्रशंसा परमा सदा। प्रशंसाख्यं च दुर्दोषं सैव संप्राप्यते नृप ॥ 111 ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तस्य पूज्यस्य महतस्तथा। परोपकारकर्तुश्च जिनधर्मरतस्य च ॥ 112 ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशकस्य च। मुनेः वा श्रावकस्यैव वीतरागमतस्यच ॥ 113 ॥
इत्यादिसद्गुणानांच धारकस्य नरस्यहि। सद्गुणान् तस्य यो मर्त्यः पैशुन्यागुणदूषितः ॥ 114 ॥

अर्थ—हे राजन्! उपर्युक्त दर्शनविशुद्धयादि षोड़श कारणभावनाएं तीर्थंकर गोत्र के आश्रव करने वाली हैं। देवों से पूज्य और लोकोत्तम महिमा को प्रदान करने वाली हैं और संसार के समस्त पापों को नाश करने वाली हैं इसलिये भावों की विशुद्धि से नित्य ही भावना करनी चाहिये।

अर्थ—हे राजन्! दूसरों के सद्गुणों को ढक देना। अपने सद्गुणों का प्रकाश करना, दूसरों के मिथ्या दोषों को प्रकट करना और अपने दोषों को ढक देना इससे नीच गोत्र कर्म का आश्रव होता है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं सो एकाग्र मन से श्रवण करना चाहिये।

अर्थ—हे राजन्! दूसरों की निंदा करना दूसरे जीवों के परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना बुराई करना उसको निंदा कहते हैं। (समाचारपत्रों में भी यह निंदा की जा सकती है) मन की कुटिलता से दूसरों का अभ्युदय सहन नहीं होने के कारण उसको गिरा देने के भाव प्रकट करना सो निंदा है।

हे राजन्! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपने में गुण नहीं रहने पर मिथ्यारूप से करना अपनी प्रशंसा कीर्ति और बढ़ाई के लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान सम्यक्तप और सम्यक् चारित्र सहित महान पूज्य पुरुष तथा जगत के जीवों को सन्मार्ग में लगाने

आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बद्धिमंडितः । सद्गुणोच्छादनाख्यंच स दोषं भजते खलु ॥ 115 ॥
केनचित्कारणेनैव कस्यैव पुरुषस्य च । किमपि आगतं दोषं प्रकटं तं करोत्यहो ॥ 116 ॥
असद्गुणोद्भावनंच स दोषं भजते पुमान् । महादुःखस्य कर्त्तारं नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ 117 ॥
चत्वारि खलु कर्माणि एतानि मगधेश्वर । अस्य मलिनगोत्रस्य आश्रवकारणान्यहो ॥ 118 ॥
भवंत्येव पुनः त्वं च श्रृणु अन्यानपि नृप । कारणानस्य संक्षेपात् दुःगोत्रकर्मदायकान् ॥ 119 ॥
करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च । शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैश्वर्यकस्य च ॥ 120 ॥
परेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात् । वृथा हास्यैव करणात् परबंधस्य दानतः ॥ 121 ॥

वाले श्रेष्ट उपदेशक श्री जिनधर्म को पालन करने वाले मिथ्यामार्ग का परित्याग कराने वाले शील धर्म को बढ़ाने वाले ब्रह्मचर्य की महिमा को व्यक्त करने वाले धर्म का उपदेश देने वाले ऐसे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका जिनधर्म धारक भव्य जीवों के उन सर्वोत्कृष्ट गुणों को धारण करने वालों को मन के दुष्परिणामों से ढक देना उनकी प्रशंसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नाम का दोष है।

गुणों की प्राप्ति गुणों में और गुणीजनों में अनुराग करने से होती है। परन्तु जिस मनुष्य का मन दुष्ट है वह मन की दुष्टता से उन गुणीजनों का आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणों को धारण करने की भावना ही व्यक्त करता है बल्कि उन गुणों को ढांकता है। ऐसे समय वह सद्गुणोच्छादन नाम के दोष को प्राप्त होता है।

अर्थः—हे राजन्! किसी एक कारण विशेष से (अनिवार्य कारण विशेष से) किसी एक भव्य जीव को कोई भी दोष लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नाम का दोष है अथवा मिथ्या दूषण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नाम का दोष है। इससे नीच गोत्र कर्म का आश्रव होता है।

अर्थः—हे मगधाधिप उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्र के आश्रव करने वाले हैं। 1. कुलमद, 2. जातिमद, 3.रूपमद, 4. शिल्पिज्ञानमद, 5. बलमद, 6. तपमद, 7. ऐश्वर्यमद, 8. ऋद्धिमद आदि आठ प्रकार का अभिमान दूसरों का अपमान करना, दूसरों का तिरस्कार करना, वृथा हसना, दूसरों की हसी कर नीचा दिखाना, दूसरों का वधबंधन करना, गुरुओं के दोषों का

उद्घाटनादुरूणां च पराभवस्य कारणात्। दोषाणां कथनात्तेषां तथापमानकारणात् ॥ 122 ॥
निर्भर्त्सनं पुनस्तेषां भर्जत्ययोढनात्तथा। स्तुतेरकरणाच्चैव अनभ्युत्थानस्य कारणात् ॥ 123 ॥
इत्याद्या हि नरस्यास्य आश्रवाश्च भवंत्यहो। महादुःखस्य दातारो नीचगोत्रस्य दायकाः ॥ 124 ॥
आत्मनो निंदनाच्चैव परेषां च प्रशंसनात्। सद्गुणोद्भावनाच्चैवासद्गुणोच्छादनात्पुनः ॥ 125 ॥
तथा नीचैर्वृत्तित्वादनुत्सेकाच्च अस्यहि। भवंति आश्रवा उच्चगोत्रस्यैव इमे शुभाः ॥ 126 ॥
नीचवृत्तेस्तथा स्वामिन् अनुत्सेकस्य लक्षणम्। किं स्याद्धि तच्छृणु त्वंच महाशर्मप्रदं नृप ॥ 127 ॥
स्वात्मनो गुणवृद्धेषु ज्ञानाद्यैः यो हि मानवः। प्रह्वीभावं करोत्येव चित्तशुद्ध्या नरेषु हि ॥ 128 ॥

उद्घाटन करना, पराभव करना, गुरुओं की निंदा करना, गुरुओं को अवर्णवाद लगाना, अपमान करना, गुरु को देखकर खड़े नहीं होना, हाथ नहीं जोड़ना, नमस्कार नहीं करना, धर्म का अनुराग नहीं करना, धर्म की निंदा, मजाक और हसी करना, श्रेष्ट आचरणों की हसी करना, निंदा करना, चारित्र धर्म का लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्र के आश्रव हैं।

अर्थ—अपनी निंदा करना दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना अपने गुणों का आच्छादन करना और दूसरों के गुणों को प्रगट करना दूसरों के दुर्गणों को ढांकना अपने दुगुणों को निकालने का प्रयत्न करना इत्यादि कारणों से ऊंच गोत्र का आश्रव होता है।

अर्थ—हे भगवान् नीचवृत्ति नामक गुण का क्या लक्षण है ? हे राजन् जो अपने से अधिक गुणवान् चारित्रवान् और सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणों से संपन्न हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और संयमी देखकर प्रमोद भावना प्रकट करना धर्मात्मा भाई को देखकर हर्षित होना, मन की प्रफुल्लता प्रकट करना गुरुजन (गुणों से वृद्धिगत) को देखकर नमस्कार करना उच्चासन देना हाथ जोडना मिष्ट संभाषण कर उनके नीचे बैठना दृष्टि को नीचा कर विनयभाव से रहना उनकी आज्ञा को शिरसा वंद्य समझना भोजनपान दान-सन्मान आदि द्वारा उनकी पूजा करना-स्तुति करना प्रशंसा कर उनके गुणों को महान पूज्य मानना सो नीचवृत्ति नाम का गुण है।

नमस्कार तथा हर्षादभ्युत्थानं सुभाषणम् । उपवेशनं तस्माद्धि नीचस्थानेषु नंददम् ॥ 129 ॥

नीचैर्वृत्यभिधं सैव गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रत्वात्सर्वकार्याणां सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ 130 ॥

ज्ञानसत्तपोयुक्तोपि तथान्यगुणमंडितः । तथापि नो करोत्येव यो मदं स्वात्मनि नृप ॥ 131 ॥

सैव संभजते नूनमनु सेकाभिधं गुणम् । संसारवनदावाग्नेः सदृशं मोक्षशर्मदम् ॥ 132 ॥

एभिः षट्कर्मभिश्चास्य बंधो भवति भूपते । उच्चगोत्रस्य मर्त्यस्य नाकमोक्षस्य दायकः ॥ 133 ॥

अष्टानां मदसंत्यागात्परेषां मानवर्द्धनात् । अनहास्यैव करणात् मृदुवचनभाषणात् ॥ 134 ॥

अपरिवादनस्यैव करणाज्जिनपूजनात् । सुपूज्यानां नराणां च सत्कारादिककारणात् ॥ 135 ॥

अर्थ—अपने में निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होने पर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होने पर भी अभिमान नहीं करना और अपने परिणामों को सरल व कोमल रखना सो अनुत्सेक नाम का गुण है। इस प्रकार षट् कारणों से उच्चगोत्र का आश्रव होता है।

अर्थ—आठ प्रकार के मदों का परित्याग करना, गुणवान् व्यक्तियों का योग्य सन्मान करना उनका आदर भाव-प्रशंसा-गुणकीर्तनादिक करना दूसरों की हसी नहीं करना सदैव मीठे वचन बोलना दूसरों को तिरस्कार करने के भाव नहीं करना मुनिजन के स्वभाव से मलिन और रत्नत्रय से पवित्र ऐसे शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का नित्य पूजन अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन गुणकीर्तन करना पूज्य पुरुषों का सत्कार करना गुरुओं के साथ नम्र भावों से विनीत स्वरूप में रहना उद्धतता का परित्याग करना गुरुओं की पूजा सन्मान प्रभावना के साथ शुद्ध भावों से करना अभ्युत्थान प्रणामांजलि करना उच्चासन प्रदान करना उनके गुणों का यशोगान करना दूसरों के दुःखों को निवारण करना गुरुओं को योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओं के लिये योग्य औषधी बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्यों से ऊंच गोत्र का कर्माश्रव होता है।

गुरूणां सद्गुणाढ्यानामनुद्धतप्रवर्तनात् । तेषांच स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ 136 ॥
स्थानार्पणाच्च सन्मानविधानाद्गुणख्यापनात् । निवारणात्परेषांच पीडादिकर्मणस्तथा ॥ 137 ॥
इत्यादायोपि अस्यैव वध्यते आश्रवाश्च नुः । महागोत्रस्य कर्तारः शुद्धभावान्नराधिप ॥ 138 ॥
एभिः सुकर्मभिश्चाय षट्खंडपालकस्यच । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ 139 ॥
इत्यादिकस्य संशुद्धे नाना संपद्विभूषिते । नरोत्तमस्य भो नूनं सद्गोत्रे सुरवंदिते ॥ 140 ॥
उत्पद्यते महाशर्म तत्र भुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसंदोहं तपसा याति सत्पदम् ॥ 141 ॥
महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवंति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसंपन्नाः तेजसा भास्करोपमाः ॥ 142 ॥
चद्रप्रभसमाः कांत्या प्रान्पुर्वत्येव ते तथा । शिवशर्म निराबाधं कर्मातीतं च्युतोपमम् ॥ 143 ॥
पंचभिः कर्मभिश्चैव भवति आश्रवोऽस्य नुः । नानादुःखप्रदैर्नूनमंतरायस्य कर्मणः ॥ 144 ॥
दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्यच । वीर्यस्यैव करोत्येव विघ्नं स्वस्य कुबुद्धितः ॥ 145 ॥

अर्थः—इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्यों से चक्रवती बलभद्र नारायण कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषों के ऊंच गोत्र को प्राप्त होता है। जिस गोत्र में उत्पन्न हुए पुरुषों की देवगण भी नित्य सेवा करते हैं और जो लोक में उत्तम समझा जाता है। जिस ऊंच गोत्र को प्राप्त करने पर ही भव्यजीव मोक्ष मार्ग के योग्य होता है। ऊंच गोत्र के प्रभाव से ही जीव कर्मों का नाश कर मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। ऊंच गोत्र से जीव महान उत्तम कुल उत्तम जाति और उत्तम वंश को प्राप्त होते हैं। जिनको अतुल बल वीर्य प्राप्त होता है। जिसका प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है। जिस कुल में तेज कांतिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारी महिमा होती है और अंत में मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं।

अर्थः—हे राजन्! इस जीव को पांच प्रकार कारणों से अंतराय कर्म का बंध होता है।

दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यान्तराय। इस प्रकार पांच कार्यों में विघ्न करना सो इससे अंतराय कर्म का बंध होता है।

दातुः पात्रस्य भो भूपास्यैवहि वध्यते च यः । स्वत्मनि शर्महंतारमंतरायाभिधं विधिम् ॥ 146 ॥
यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसंज्ञकम् । वर्जयत्येव तं कोपि महाकृपणभावयुक् ॥ 147 ॥
केनचिद्वा कुबुद्धेन भ्रांतिमुत्पादयत्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दाने न जायते ॥ 148 ॥
दानांतरायदुःकर्म स लभत्येव मूढधीः । अनेन कर्मणा तस्य दानाग्निर्नो भवत्यहो ॥ 149 ॥
लाभाप्तिर्जायते कस्य विघातार्थं च तस्य वै । कुबुद्धया यः करोत्येव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ 150 ॥
बध्यते सैव दुःकर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । ह्यनेन विधियोगेन लाभाप्त्यस्यैव नो भवेत् ॥ 151 ॥
भोगवस्तोः करोत्येव वियोगं यो हि मानवः । कस्यैव पुरुषस्यैवासहमानस्तदोदयम् ॥ 152 ॥
भोगांतरायसंज्ञं च सैव दुःकर्म दुःखदम् । परजन्मनि प्राप्नोति संशयो नात्र भूपते ॥ 153 ॥

यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्यों में विघ्न करता है तो दाता को अंतराय कर्म का आश्रव होगा। यदि मात्र इस प्रकार विघ्न कराये तो उसको आश्रव होगा। इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है।

दानांतराय—

अर्थ:—हे राजन् ! कोई भव्य जीव किसी पात्र को आहार दान करने का भाव करता हो या देता हो उसको देखकर कृपणबुद्धि से या दुर्भावों से निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण बतलाकर दान करने से रोक देना या कुबुद्धि को धारण कर पात्र की अयोग्यता (मिथ्या कल्पनाकर) प्रकट कर दान देने में विघ्न कर देना इत्यादि कार्यों से दानांतराय कर्म का आश्रव होता है जिससे जीवों को सब कुछ साधन मौजूद होने पर भी दान देने के भाव नहीं होते हैं या दान देने का नियोग नहीं प्राप्त होता है।

अर्थ:—जिस किसी जीव को धनादिक वस्तु का लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिक के द्वारा धन प्राप्त होता हो तो कुबुद्धि या दुर्भावना से उसके लाभ प्राप्ति में विघ्न कर देना या उस लाभ को ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापार को किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभ से वंचित रखना सो इससे लाभान्तराय नाम का कर्म बंधता है। जिससे जीव को लाभ प्राप्ति का योग नहीं होता है।

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरों के भोग वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करे अथवा किसी को भोग प्राप्त होते हों तो उसको नष्ट कर देना भोगों को भोगने में विघ्न कर देना भोगने नहीं देना इससे भोगांतराय नाम का कर्म बंध का आश्रव होता है।

उपभोगस्य सद्वस्तोः नाशं करोति यः कुधीः । कस्यैव सैव भो नूनमग्रजन्मनि जन्मनि ॥ 154 ॥
लभते उपभोगांतरायाख्यं शर्मनाशकम् । कुकर्म मगधाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ 155 ॥
केनचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव भूपते । नाशं करोति वीर्यस्य नानादुःखप्रदायकम् ॥ 156 ॥
वीर्यान्तरायसंज्ञंच विधिंच वध्यते खलु । सैव संसारकांतारभवभ्रमणकारकम् ॥ 157 ॥
यात्रादिधर्मकार्येषु कृपणत्वान्नराधिप । कारणाद्दाननिंदाया देवनेवेद्यभक्षणात् ॥ 158 ॥
जिनकोशस्थवित्तस्य क्रयविक्रयकारणात् । तदशनाद्वोपनाद्वैव धारणाद्वाहि स्वापणे ॥ 159 ॥
छेदनाज्जिनधर्मस्य परविश्वासहापनात् । अधर्माचरणाद्वैव वंधनाद्वधनात्तथा ॥ 160 ॥
कर्त्तनाद्वैव जिह्वायाः विषस्यैव दापनात् । अंबकोत्पाटनाद्वैव तथातंकविवर्द्धनात् ॥ 161 ॥
इत्याद्या आश्रवा भूप अंतरायस्य कर्मणः । भवंति सर्वमर्त्यानां शर्मान्तरायकारकाः ॥ 162 ॥
सदैव एभिः भो भूप अस्य नुः चाष्टकर्मभिः । वध्यंते कर्मणो बंधाः शर्माशर्मप्रदायकाः ॥ 163 ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपभोग वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करना दूसरों को उपभोगों के भोगने में विघ्न कर देना उपभोगों को नष्ट कर देना सो इससे उपभोगान्तराय नाम का कर्म का आश्रव होता है।

अर्थ—किसी कारण से या दुर्भावों से किसी जीव के वीर्य का नाश करना उसकी शक्ति का ह्रास करना या लोप कर देना इससे वीर्यांतराय नाम का कर्मबंध होता है। यह वीर्यांतराय संसार के भ्रमण कराने में मुख्य सहायक है।

अर्थ—हे राजन् ! यात्रा-प्रतिष्ठा रथमहोत्सव जिनमंदिर निर्माण आदि धर्मकार्यों में विघ्न करना। कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना "अभी प्रतिष्ठा व प्रतिमा बहुत हो गई अब जरूरत नहीं" इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावों से उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्यों में विघ्न करना, कृपणता से धर्मकार्य नहीं होने देना, देव की पूजा के लिये अर्पण किया हुआ धन जमीन आदि द्रव्य का भक्षण करना। ये सब अंतराय के कारण है।

अर्थ:—तीर्थ, जिनमंदिर, जिनशास्त्र भंडार और जिनायतनों के भंडार का भक्षण करना। जिनधर्म का ध्वंस जिनमूर्ति का खंडन करना। जिनधर्म का विश्वास (सत्यता) का लोप करना पवित्राचरणों का नाश करना अधर्माचरणों को बढ़ाना बध

सातासिद्धैव दुःखासिः यत्तद्धि प्राणिनां नृप। जायते नात्र संदेहः शुभाशुभैककर्मणा ॥ 164 ॥
मृते भर्तरि या नारी व्यभिचारं करोत्यहो। तथा भरणवस्त्राद्यैः बहुमूल्यात्समुद्भवैः ॥ 165 ॥
नेत्राणां नंददैवैव भूषयत्येव स्वतनोः। नेत्रांजनं करोत्येव केशादिमंडनं तथा ॥ 166 ॥
गायति भंडरागं च ब्रह्मचर्यविनाशकम्। तथैव पोषयत्येव शरीरं च रसोत्करैः ॥ 167 ॥
परनिंदात्मशंसां च मायामानं च स्वात्मनि। कुकथां प्रकरोत्येव कुशिक्षां कामवर्द्धकां ॥ 168 ॥

बंधनादि हिंसा कार्यों की वृद्धि करना दूसरों की नाक काटना जिव्हा का छेदन करना, बिना प्रयोजन वृक्षों का छेदन कराना गुह्य अंगों का छेदन भेदन करना इत्यादिक बहुत से कारणों से अंतराय कर्म का आश्रव होता है।

हे राजन्! इस प्रकार आठ कर्मों के आश्रव बतलाये हैं इनमें कितनें ही पुण्योत्पादक हैं और कितने ही पापोत्पादक हैं। जीवों को शुभाशुभ कर्मों से सुख-दुःख प्राप्त होता है।

अर्थः—विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे। अथवा व्यभिचार सेवन करने के कारणों (पुनर्विवाह) को धारण करे। शरीर पर सुंदर मन को लुभाने वाले वस्त्राभूषण पहने बहुमूल्य साड़ी पहने । शरीर का श्रृंगार करे। केशों की रचना करे नेत्र में सुरमा आदि लगा कर कामोत्पादक वेश को बनावे। भंड राग को गान करे ऐसा कि जिससे ब्रह्मचर्य नष्ट हो जावे । पुष्ट रसों से अपने शरीर को कामोत्पादक योग्य बनाये रखे। या पुष्ट रस भोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे। दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा के गान करे। मायाचार और मान को धारण कर धर्म धारण करने का ढोंग बतलावे। कुकथा और कुशिक्षा का ऐसा पठन-पाठन और अभ्यास करे कि जिससे कामवृद्धि हो व्यभिचार की वृद्धि हो। अथवा मिथ्या शास्त्रों का पठन पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि बनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करने के मिथ्यामार्ग) की वृद्धि की वासना बढ़े इत्यादि कारणों से स्त्री मर कर भव भव में जन्म जन्मांतरों में विधवा होती है क्योंकि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षा का नाश किया।

विधवा स्त्री को वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है। धर्म शास्त्रों में विधवा के लिये वैधव्य दीक्षा का विधान बतलाया है। वैधव्य दीक्षा को धारण कर वह केश का उत्पाटन, श्रृंगार का त्याग और सुंदर वस्त्र जिसे सौभाग्यशाली स्त्रियां पहनती हैं उनका त्याग करना पड़ता है।

असल में जो स्त्री वैधव्य दीक्षा को धारणकर संयम से धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकार की घर में रहने वाली आर्यिका

पठति पाठयत्येव मिथ्याशास्त्रं कुबुद्धिदम्। इत्यादिकर्मभिः नारी निर्धवा च भवे भवे ॥ 169 ॥
भवति शोकसंयुक्ता धर्माचरणविघातनात्। अतिनिर्दयभावेन स्वपतिं मारयत्यहो ॥ 170 ॥
भुक्त्वा तं सेवते चान्यं जीवंत स्वपतिं खला। पापाचारं सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ 171 ॥
कर्मणामितरत्वेन एतेषां साहि भूपते । शीलव्रतान्विता चाग्रे जन्मनि जन्मनि तथा ॥ 172 ॥

के समान है परम साध्वी है। उससे समस्त कुटंब को शील की शिक्षा प्राप्त होती है वह सबको पवित्र आचरण सिखलाती है और शील की रक्षा और माहात्म्य का आदर्श जगत के सामने रखकर स्त्री समाज का और अपना कल्याण करती है। किंतु जो विधवा वैधव्य दीक्षा को स्वीकार न कर श्रृंगार करती है उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढ़े और धर्माचरण का लोप हो शील (ब्रह्मचर्य) व्रत नष्ट हो जावे। ऐसी ही विधवायें धर्म का लोप कर केवल व्यभिचार बढ़ाती हैं।

कुशिक्षा का फल—

असल में व्यभिचार की जड़ कुशिक्षा है, कुशिक्षा के प्रभाव से विधवा स्त्रियें ब्रह्मचर्य की मर्यादा का परित्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती हैं और उसको निर्भर्त्स कर तथा धर्म का लोप कर पुनर्विवाह के द्वारा व्यभिचार बढ़ाती हैं।

कुशिक्षा से सब कुछ हो जाता है कुशिक्षा से समस्त मार्ग खुले हैं। और कुशिक्षा का परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप तथा ढीट बनना है।

अर्थ—हे राजन् ! कुशिक्षा से स्त्री अपने पति को सजीवन अवस्था में अतिशय निर्दय भावों से मार डालती है। अथवा जीवित सुंदर पति को छोड़कर भग जाती है। दूसरों को पति बना लेती है। यह पापाचार कुशिक्षा के प्रभाव से धर्म का नाश करने वाला होता है।

अर्थ—ऊपर जितने कारण विधवा होने के बतलाये हैं उनसे विपरीत कारण सधवा होने के जानना चाहिये। जो स्त्री शीलव्रत का पालन करती है श्री जिनेन्द्र देव की आज्ञा का श्रद्धान कर अपना आचरण आगम के अनुकूल रखती है। वैधव्य दशा प्राप्त होने पर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर संसार देह भोगों से उदास रहती है। न श्रृंगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्यों को करती है वह भव भव में सधवा होती है। महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है।

भवति नात्र संदेहो नानाशर्मविमंडिता। अत्ययांत्येव सघवा महासौभाग्यमंडिता ॥ 173॥

वितांगनाश्च मृत्वाहि शीलहीना भवंत्यहो। सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धता: ॥ 174 ॥

म्लेच्छोत्प'न्ना नरा नार्य: मृत्वाहि मगधेश्वर। भवंति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा: ॥ 175 ॥

भूतं भांतमभूतमेव ह्यखिलं संसारतापापहं । वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृतांत्तमेवांजसा ॥

आयु:कायसुसारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान् मर्त्यानांच पृथक्-पृथक् जिनपति: त्रिषष्टिकानां शुभम् ॥ 176 ॥

पौराणांश्च तथाहि अन्यमनुजानां च चरित्रं महत् । तत्वातत्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूपं तथा ॥

कृत्वैत्थं च जिनेश्वरो ह्यघहरो व्याख्यानकं चोत्तमं । मोक्षं ह्याप दयार्द्रधी: जितरिपु: सर्वाधिपैर्वंदित: ॥ 177 ॥

अर्थ:—वेश्यायें जो व्यभिचार का धंधा फैलाकर शील से रहित होती हैं वे मरकर पर जन्म में शीलविहीन मदोद्धता अनंत पापों को सेवन करने वाली और संसार में परिभ्रमण करने वाली होती हैं।

अर्थ:— जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण हैं जिनको उत्तम व्रत धारण करने की योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ या शूद्र कहते हैं। शूद्रों को शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नहीं हो सकता है क्योंकि उनके यहां उनकी जाति में पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभिचार करने वालों के शीलव्रत हो नहीं सकता है। शीलव्रत के अभाव से अन्य व्रतों का पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।

अर्थ:—हे मगधेश्वर ! जो कुछ संसार में जितना वृत्तांत हो गया है, आगे होगा और वर्तमान काल में हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण यथार्थ रूप से जानते हैं। इसीलिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोक वंदित हैं। मुनिगणों से पूज्य हैं। जो मनुष्य वीर प्रभु के वचनों का श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयु: काय भोग संपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्री को प्राप्त कर महान् पुण्य का संपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषों के चरित्रादिकों का श्रवण करने से संपादित होता है।

1—म्लेच्छ व शूद्र जो स्त्री का पुनर्विवाह करते हों अतएव व्यभिचार जिनके सुतरां होता है व्रत होने की योग्यता उनको नहीं प्राप्त होती है। शीलव्रत धारण करने का जिनको अवसर ही प्राप्त नहीं होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन अनंत संसार के बढ़ाने वाले पापी होते हैं।

इत्थं कर्णसुखप्रदां मुनिवरैर्वंद्यांच मोक्षप्रदाम् । श्रीतीर्थंकरवक्त्रजामघहरां श्रुत्वा गणास्तेऽखिलाः ॥
वाणीमापुस्तदाच वै निरुपमां संदेहवृंदापहां । मोदं मोदकरां सुरासुरगणैः पूज्यांच पूज्योदयाम् ॥ 178 ॥
केचिद्भव्यास्तदा भीत्वां संसाराशर्मतः खलु । स्वीचक्रुः जिनमुद्रांच श्रावकाचारजं व्रतम् ॥ 179 ॥
दानेच पूजने केचित् मतिं चक्रुः शिवाप्तये । दिनाभिषेकनियमं पंचामृतरसोत्करैः ॥ 180 ॥
निशाया भक्षणस्यैव त्यागं चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियम केचित् पर्वण्यां ब्राह्मशर्मणे ॥ 181 ॥
अष्टान्हिकविधिं केचित् कर्मादिदहनं व्रतम् । रत्नत्रयव्रतं केचित् जग्रहुः कनकावलिम् ॥ 182 ॥
पंचकल्याणनामापि पंचकल्याणदायकम् । पल्याख्यं व्रतमुख्यंच केचिच जग्रहुस्तदा ॥ 183 ॥

अर्थ—श्री वीर प्रभु ने त्रिषष्टी शलाका पुरुषों का पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्वातत्व का विवेचन मोक्ष का स्वरूप आदि समस्त पदार्थों का व्याख्यान समोशरण में दिया। वे दयालु भगवान् सदैव जयवंत रहो।

अर्थ—इस प्रकार मुनिगणों से भी पूजित समस्त प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली समस्त पापों का नाश करने वाली निरुपम समस्त संदेहों को विध्वंस करने वाली समस्त जीवों को आनंद प्रदान करने वाली महान् पुण्योदय से प्राप्त होने वाली ऐसी वीर प्रभु की मनोहर श्री जिनवाणी को प्रभु के मुखकमल से श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नता को प्राप्त हुए।

अर्थ:—वीर प्रभु की दिव्यध्वनि श्रवणकर कितने ही भव्यों ने संसार के दु:खों से भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण कर ली। श्रावकाचार के व्रतों को धारण किया। कितनों ने दान करने की प्रतिज्ञा ली कितनों ने जिनपूजन का नियम ग्रहण किया। कितनों ने पंचामृत से नित्य जिनाभिषेक करने का नियम लिया। रात्रि में भोजन का त्याग कितनों ने किया। स्वदारा संतोष नियम पालन करने की प्रतिज्ञा बहुतों ने ली। ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया। कितने ही जीवों ने अष्टान्हिक रत्नत्रय-कर्मदहन पल्यव्रत-पंचकल्याणव्रत कनकावलि द्विकावलि मेरुपंक्ति आदि व्रतों को पालन करने का नियम लिया। श्री संमेदाचल की यात्रा चतुर्विध संघ सहित करने का पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवों ने स्वीकार किया।

इस प्रकार शुद्ध भावों से मंडित भव्यजीवों ने श्री वीर प्रभु की दिव्य ध्वनि को श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मों को नाश करने के लिये विविध प्रकार का चारित्र धारण किया।

संमेदाचलयात्रार्थं मतिं चक्रुश्च केचन। दुष्टाष्टविधिनाशार्थं शुद्धभावेन मंडिता: ॥ 184 ॥

श्रेणिकोपि नराधीशो भावितीर्थंकराग्रणी:। शुद्धसम्यक्त्वभूषाढ्य: वीरनाथस्य भक्तिक: ॥ 185 ॥

महाधीरस्तदाकाले भावयामास भावनाम्। तेषां यात्राव्रतादीनां स्वहृदि शुद्धभावत: ॥ 186 ॥

इत्याद्यं धर्मसंदोहं स्वस्वशक्तयनुसारत:। गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ 187 ॥

चेलनाद्या: प्रियास्तस्य वारिषेणादय: सुता:। नागरा भव्यभावाढ्या: तेषां वामाश्च नंदना: ॥ 188 ॥

इत्याद्या: सकला भव्या: व्रतं तं कर्मनाशकम्। यथोक्तविधिना चक्रु: कर्मादिदहनाभिधम् ॥ 189 ॥

राज्ञ: संजायते भव्या धर्मोत्पत्तिर्न संशय:। यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन प्रजापिच ॥ 190 ॥

अर्थ—भावी तीर्थंकर ऐसे श्रेणिक महाराज ने श्री वीर प्रभु की भक्ति से शुद्ध सम्यक्त्व से अपने को विभुषित किया और जो देशना (धर्मोपदेश) वीर प्रभु ने दिया था उसकी भावना की तीर्थ यात्रादिकों की भावना की। इस प्रकार धर्म श्रवणकर समस्त भव्यलोक अपने-अपने स्थान को गये।

अर्थ—श्रेणिक महाराज की चेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगर के समस्त नरनारी गण ने इस कर्मदहन व्रत को यथोक्त विधि से धारण किया।

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराज की धर्म भावना को देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई। नीति है कि राजा धर्मात्मा होने से प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजा के भले बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है।

धर्म की वृद्धि और धर्म की मर्यादा राजाओं से ही स्थिर रह सकती है। क्योंकि राजगण दंड आदि के द्वारा प्रजा को अनीति और असदाचार (अधर्म) से रोक सकते हैं। राजाओं की आज्ञा समस्त प्रजा को पालन करनी ही पड़ती है। राजा की आज्ञा धर्मरूप-नीति से पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति वही धर्मव्यवस्था सांगोपांग स्वीकार करेगी।

वर्तमान में वर्ण व्यवस्था लोप, विधवा विवाह, स्पर्शास्पर्श लोप, समान हक्क-आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध-बातों को धर्म नीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है यह सब राजा और राजा की ऐसी ही कुशिक्षा का फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजा:।

इमां च महिमां मत्वा बुधा व्रतस्य चास्य वै। कुर्वीध्वं सहतं चेमं तूर्णमेव शिवप्रदम् ॥ 191 ॥
जिनवक्त्रोद्भवा वृत्ता इमे सर्वे नरोत्तमाः । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मप्रदायकाः ॥ 192 ॥
शास्त्रोक्तविधिना व्रतमेकमप्येव ये नराः। करिष्यंति भजिष्यंति मोक्षसौख्यं न संशयः ॥ 193 ॥
मातंगाद्याश्च ये मर्त्याः शुद्धैकव्रतपालनात्। सुखमाप्ता ह्यतो भव्या बहुभिः कारणं च किम् ॥ 194 ॥
कर्तव्यं यच्च भो भव्याः निरारंभेण तद्धतम्। आरंभेणैव संयुक्ता इमे हि भवदायकाः ॥ 195 ॥
कृत्वा चैवोपवासं च आरंभं यः करोत्यहो। गजस्नानसमं शर्म प्राप्नोति सैव मानवः ॥ 196 ॥
अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः। विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनरैर्भृते ॥ 197 ॥
तर्पयतिस्म तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणैः। मिथ्यातमो हि तेषांच वाग्मयूखैर्विधट्टयन् ॥ 198 ॥
स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्मं मोक्षदायकम्। उत्थापयन् कुधर्मंच भवसंततिदायकम् ॥ 199 ॥

अर्थः—हे राजन् कर्मदहन की महिमा अपरंपार है। इस प्रकार जो भव्य जीव इस महिमा को सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते हैं वे मोक्ष को प्रदान करने वाले इस व्रत को भावों की विशुद्धि से करें। हे भव्य जीवों ! यह व्रत श्री जिनेन्द्र देव भगवान के मुखकमल से प्रकाशित है। इसलिये जो भव्य जीव शास्त्रोक्त विधि से इस व्रत का पालन करते हैं वे मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं।

अर्थः—हे भव्य जीवों, मातंग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रत के माहात्म्य से सुख को प्राप्त हुए हैं तो आप लोगों को भी निःसंदेह भाव से शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये।

अर्थः—समस्त प्रकार के हिंसक और मोहोत्पादक आरंभों का परित्याग कर व्रतों का परिपालन करना चाहिये। जो उपर्युक्त प्रकार का आरंभ कर व्रतों का पालन नहीं करता उसके संसार के मार्ग की वृद्धि होती है।

अर्थः—इस प्रकार जो मनुष्य आरंभ सहित उपवास करते है उनके व्रत सुख प्रदायी नहीं होते हैं। गजस्नान के समान उनकी क्रिया हैं।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु श्री वीर भगवान ने अपने वचनामृत से समस्त भव्य जीवों को परम संतोष करते हुए अपने वचन किरणों से जगत के निबिड मोहांधकार को नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देव के अनादिनिधन जैन धर्म को समस्त

एवं कृतेच भव्यौधा:तद्वदनेन्दुजं वरम्। राद्धान्तामृतसत्पानमितरेषांच दुर्लभम् ॥ 200 ॥
जहुरनादितो लग्नं भवाकूपारवर्द्धकम्। मिथ्या विषं महाक्रूरं शर्मलेशदिनाशकम् ॥ 201 ॥
ततश्च जगृहु: शुद्धसम्यक्त्वं भवनाशकम्। यस्यैव धारणात्सर्वे तरंति भवतो नरा: ॥ 202 ॥
याता: यांति तथा भव्या: यास्यंति शिवसत्पदे। अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपायो हि नो बुधा: ॥ 203 ॥
एवं संबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिन:। प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्भोजैर्विमंडिते ॥ 204 ॥
तन्मध्ये रचिते देवैबन्द्रकांतिमये शुभे। शिलापट्टे निरौपम्ये सर्वदेवाधिपै: सह ॥ 205 ॥
आययौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चित:। तस्योपरि तदा दधे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ 206 ॥
अंत्यशुक्लासिना हत्वा कर्मारातीन् ततो जिन:। बाहुलाभिधसन्मासे दर्शे च शर्वरीक्षये ॥ 207 ॥

जगत में स्थापन करते हुए तथा कुधर्मों का नाश करते हुए भारत क्षेत्र के आर्यखंड में विहार किया और अगणित भव्यों को ससांर से पार कर परमसुख धाम में पहुंचाया।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकबंधु श्री भगवान् महावीर प्रभु के मुखकमल से विनिगर्त वचनामृत का पानकर अनेक भव्यों ने अनादि काल से संलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हलाहल का परित्याग किया।

अर्थ—हे राजन्! श्रीवीर प्रभु के वचनामृत के पान से बहुत से भव्यजीवों ने शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की। जिस सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर अनंतभव के समस्त पाप एक क्षणमात्र में नाश हो जाते हैं और भव्यजीव संसार समुद्र से पार हो जाते हैं।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही भव्यजीव संसार से पार हुए, होते हैं और होंगे। इसके सिवाय मोक्षपद प्राप्त करने का अन्य उपाय नहीं है।

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवों को संबोध (रत्नत्रय का परिज्ञान) कराते हुए पावापुर के तलाव के मध्यभाग भूमि पर आये। देवगणों ने कमलों से विभूषित उस तलाव के मध्य भाग में चन्द्रकांतिमणि की दिव्य और परम सुंदर एक शिला स्थापन की। देवगणों से पूज्य श्रीवीर प्रभुने उस रत्नमयी शिलापर प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम समय स्वाति नक्षत्र के उदय में वे अंत्य शुक्ल ध्यान के प्रभाव से समस्त कर्मशत्रुओं का समूल नाश कर निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

मोक्षमाप सुखाङ्गंच नक्षत्रे स्वातिकाभिधे। महावीरो गुणैः पूर्णः तारको भव्यप्राणिनाम् ॥ 208 ॥

चतुर्निकायदेवेन्द्राः तदैवासनकंपनात्। आजग्मुः तस्य पूजार्थं ज्ञात्वा निर्वाणसद्गतिम् ॥ 209 ॥

महदानंदसंपन्नाः सैन्यसप्तविमंडिताः। नानाशोभाभिसंपन्नाः सांगनाः सहवाहनाः ॥ 210 ॥

पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रुः देवा मुदान्विताः । नाकरत्नोद्भवानां च प्रकाशं तमनाशकम् ॥ 211 ॥

सुराधिपाः विभोः देहं दृष्ट्वा वस्त्वंगतस्तदा। नत्वाच स्थापयामासुः शिबिकायां सुरैः कृताम् (?) ॥ 212 ॥

अग्नीन्द्रमुकुटोद्भूतपावकेन पुनः शुभैः। काश्मीरागुरुकपुरैरन्यैर्द्रव्यैः सुरोद्भवैः ॥ 213 ॥

भव्य जीवों को संसार से पार करने वाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणों से परिपूर्ण ऐसे वीर (महावीर) प्रभु पावापुर के तलाव के मध्यभाग से मोक्ष को पधारे ।

अर्थ—वीर प्रभु के मोक्ष पधारने के समय देवों के आसन कंपायमान हुए। जिससे चतुर्निकाय देव प्रभु के निर्वाण के समय को जानकर भगवान की निर्वाण पूजा करने के लिये वहां पर आये।

अर्थ—महान् आनंद और हर्ष से प्रफुल्लित सात प्रकार की सेना से विभूषित अपनी अपनी देवांगनाओं सहित अपने अपने वाहनों पर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभा के साथ वहां पर आये।

अर्थ:—उस समय हर्ष से प्रफुल्लित देवगणों ने अंधकार नाश करने वाले और अपूर्व प्रकाश को प्रकट करने वाले ऐसे स्वर्ग के रत्नमयी दीपक स्थान स्थान पर रखे। अगणित दीपकों से दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवस से यह उत्सव दीपावली के नाम से दिवाली आज तक प्रचलित है।

अर्थ:—देवगणों ने त्रिलोकपूज्य वीर प्रभु के उस परम औदारिक दिव्य देह को एक सुंदर पालकी में विराजमान कर महान उत्सव प्रकट किया।

अर्थ:—पावापुर के उस तलाव के मध्य भाग में ही अग्निकुमार के देवों के मुकुटों से प्रज्वलित अग्निके द्वारा अत्यंत सुगंधित केशर, अगर, चंदन, कपूर आदि स्वर्ग की पवित्रतम दिव्य वस्तुओं से वीरप्रभु के परम पुनीत उस दिव्य देह को देवेंद्रों ने पर्यायांतर किया।

पर्यायांतरमेवाशु चक्रुस्ते सुरनायकाः। तं कायं अतिहर्षेण शिवशर्मकरं वरम् ॥ 214 ॥

तदग्रे मृतपिंडेज्यां शुभां चक्रुः शिवाप्तये। महामंत्रेण सौधर्मप्रमुखाश्च सुरेश्वराः ॥ 215 ॥

मोक्षाभिधेहि कल्याणे मोदकेन मता बुधाः। गणाधीशैर्जिनेन्द्रस्य इज्या मोक्षप्रदायिका ॥ 216 ॥

प्रपेठुः शांतिसत्पाठं सर्वशांतिप्रदायकम्। सर्वेन्द्राश्चातिहर्षेण महदानंद संभृताः ॥ 217 ॥

तद्भस्म भुजयोः भाले नेत्रेच हृदये सुराः। तथा सर्वशरीरेषु विभोः कायसमुद्भवम् ॥ 218 ॥

संधृत्वा धेति दधुस्ते इयमस्तु हि नो शुभा। शिवदा स्वामिनो नूनं मतिर्नास्त्यत्र संशयः ॥ 219 ॥

आनंदनाटकं चक्रे सौधर्मेन्द्रो हि हर्षतः। अग्रे निर्वाणसद्भूमेः सह शच्या तथा सुरैः ॥ 220 ॥

अर्थः—सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेन्द्रों ने भगवान के उस (पर्यायांतर अवस्था को प्राप्त हुए) शरीर को मोक्ष की प्राप्ति के लिये महान मंत्रों के द्वारा पूजा की (मृतपिंड की पूजा की)।

अर्थ—मोक्ष कल्याण की कल्याणक पूजा गणधर देवों ने मोक्ष को प्रदान करने वाली बतलाई है इसलिये प्रत्येक भव्यजीव को अति हर्ष भाव से करना चाहिये।

देवगणों ने अति हर्षभाव से मंत्र पूर्वक विधिक्रम से निर्वाण कल्याणक पूजा को कर अंत में शांतिपाठ जगत की शांति के लिये किया।

अर्थ—भगवान के शरीर की भस्म को देवगणों ने अतिशय पूज्य भावों से उस भस्म को अतिशय पूज्य समझकर सुख की प्राप्ति के लिये अपने भुजों पर हृदय में भाल नेत्र और समस्त शरीर में लगाई और अपने को पवित्र माना।

अर्थ—देवगणों ने उस पवित्रतम और मोक्ष को प्रदान करने वाली भगवान के शरीर की भस्म को उत्तम और शुभवस्तु को अत्यंत संरक्षणीय समझकर अपनी अपनी रत्नों की पिटारियों में बडे यत्न से गोप्य कर रखी और उससे देवों ने अपने को मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया।

अर्थः—सौधर्म इन्द्र ने उस समय निर्वाण भूमि पर अपनी इन्द्राणी और देवगणों के साथ आनंद नाटक अत्यंत हर्ष से किया।

आतोद्यानां तदा श्रुत्वा ध्वनिं कर्णसुखप्रदम्। श्रेणिकाद्याश्च भव्यौघाः प्रचेलुः सह भीरुभिः ॥ 221 ॥
इज्याद्रव्येण संयुक्ता मोदवारविमंडिताः। एवं सर्वे च संप्रापुः यत्र देवेश्वराश्च ये ॥ 222 ॥
तमुत्सवं च संदृष्ट्वा चितां तै भूमिपादयः। मुदमापुश्च संचक्रुः प्रणतिमचलां च ताम् ॥ 223 ॥
सुनासीरकृतानंदनाटकं नंददायकम्। विभोः भूमे पुरस्तं च ददृशुस्ते नरोत्तमाः ॥ 224 ॥
परिपूर्ण विधायाशु सुनृत्यं नृत्यागमार्थवित्। मघवा सह देवौघैः सर्वेषां वकनंददम् ॥ 225 ॥
सुनासीरस्ततश्चाह शृणु श्रेणिक भूपते। षष्टिसहस्रप्रश्नानां कर्तारं मगधाधिपं ॥ 226 ॥
अद्य प्रभृतितो जाताः वृषभाद्याः जिनेश्वराः। तेषां निर्वाणसत्पूजा अस्माभी रचिता वरा ॥ 227 ॥

अर्थः—वीर प्रभु के निर्वाण हर्ष में देवों ने दुंदुभि बाजे त्रिलोक को शब्दायमान करने वाले बजाये। जिनकी ध्वनि को श्रवण कर श्रेणिक प्रमुख राजाओं ने वीर भगवान का निर्वाण महोत्सव जान लिया और उस महोत्सव की पूजा करने के लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजा सहित सुंदर-सुंदर पूजा की द्रव्य को साथ लेकर पावापुर के तलाव पर वीर प्रभु की निर्वाण भूमि पर आये।

प्रभु के शरीर की चिता को देखकर अतिशय हर्ष को प्राप्त हुए और भक्तिभाव से मोक्ष की प्राप्ति के लिये उस चिता की पूजा की। नमस्कार किया और देवों के उस निर्वाण महोत्सव को देखकर हर्षित हुए। देवेंद्रों के उस आनंद नाटक को समस्त राजाओं ने देखा और वीर प्रभु की महिमा को अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया।

अर्थ—नृत्यकला में प्रवीण ऐसे इन्द्र ने नृत्य की विधि को समाप्त किया।

अर्थ—आनंद नाटक को समाप्त कर इन्द्र ने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणों से कहा। श्री वृषभादि पार्श्वनाथ पर्यंत तेबीस तीर्थंकर प्रभु की निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावों से उत्तम की और आज ही श्री वीर भगवान की निर्वाण पूजा की है। इस महान महोत्सव के स्मरणार्थ प्रत्येक वर्ष (रात्रि के अंतप्रहर) इसी समय में घृतों के उत्तमोत्तम दीपसमूह को प्रज्वालित कर और महा सुंदर-दिव्य रस से परिपूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करने वाले ऐसे लाडू से निर्वाण पूजा करनी चाहिये।

अद्यैव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत्। अस्यैव चिंतनार्थंच मोक्षसौख्याप्तये नृप ॥ 228 ॥

प्रत्यब्दं मोदकेनैव दीपव्रातैर्घृतोद्भवैः। रात्र्यंते वीरनाथस्य इज्या कार्या सुभावतः ॥ 229 ॥

इत्युक्त्वा तं च नाकेन्द्रः सहलेखैः सुरास्पदं। जगाम वीरनाथस्य चिंतयन् सदुणोत्करान् ॥ 230 ॥

सह भव्यैस्तदा भूपो मोदकेन शुभेनच। कृत्वेज्यां सिद्धभूमेश्च आयातवान् स्वमास्पदम् ॥ 231 ॥

तदा प्रभृतितो भव्याः आर्यवर्षे च सद्विधिः। अयं विख्याततां जातः सर्वकार्यकरावहः ॥ 232 ॥

कृत्वा सुरघनां तत्र का सारे जलसंभृते। तदालयस्य स भूपः प्रतिष्ठां तस्य स्थापनां ॥ 233 ॥

अंतकाले च त्यक्त्वा हि रौद्रध्यानस्य भावतः। प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वभ्रस्य गतिबंधभाक् ॥ 234 ॥

इस प्रकार कहकर वीर प्रभु के गुणों को स्मरण करता हुआ इंद्र अपने स्थान पर गया।

अर्थ—इन्द्र की आज्ञा से श्रेणिक महाराज ने अनेक भव्य राजगणों के साथ सुंदर लाडू से श्री वीर भगवान की निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्ध भूमि की (पावापुर के तलाव मध्य जहां से श्री वीर प्रभु मोक्ष धाम को पधारे) पूजा मुख्यता से की। इस प्रकार समस्त प्रजा के समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धभूमि पूजा को यथाविधि से परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए अपने स्थान को गये।

अर्थ—श्रीवीर भगवान की निर्वाण पूजा भारतवर्ष में सर्वत्र उत्तमोत्तम लाडू और घृतों की सुंदर दीपावली से भव्यजीव तब से आज पर्यंत करते आ रहे हैं, कर रहे हैं और जब तक जिन शासन है तब तक करते रहेंगे।

दिवाली के दिवस लाडू चढाने की विधि की प्रवृत्ति उसी समय से हुई है।

अर्थ—श्रेणिक महाराज ने (जल से परिपूर्ण) उस पावापुर के तलाव के मध्यभाग में (जहां से श्रीवीर प्रभु निर्वाण पद को प्राप्त हुए थे।) श्री वीर प्रभु का जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूम धाम से की। उस जिनालय में श्री वीर प्रभु के स्मरणार्थ वीर प्रभु की चरण पादुका स्थापित की।

प्राणान् जगाम दुःखाढ्ये तत्र भुक्त्वाघ आयुषम्। मित्राष्टसहाब्दांतं पश्चान्निर्गत्य तत्रतः ॥ 235 ॥

अत्रैव कोशले देशे अयोध्यायां भविष्यति। महापद्माख्यसंयुक्तः आद्यस्तीर्थंकराग्रणीः ॥ 236 ॥

क्व भूपः नारकी चैव क्व पुनः तीर्थनायकः। अहो भव्याश्च पश्यध्वं चरित्रं कर्मणोद्भुतम् ॥ 237 ॥

के के न कर्मणा प्राप्ताः दुःखवृंदं बुधोत्तमाः। देवमानवसंसेव्या भरताद्या नरोत्तमाः ॥ 238 ॥

मत्वेत्थं सकला भव्याः कर्मारातिविहानये। एकं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं कुर्वीध्वं धर्ममुत्तमम् ॥ 239 ॥

अर्थ—श्रीवीर प्रभु से साठ हजार प्रश्नों को करने वाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि भव्य श्रेणिक महाराज ने रौद्रपरिणामों से नरक आयु का बंध किया था और इसीलिये अंत समय में संक्लेश परिणामों से प्राणों का परित्याग कर श्रेणिक महाराज का जीव प्रथम नरक के प्रथम पाथडे में चौरासी हजार वर्ष की आयु पाकर उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर कोशल देश अयोध्या नगर में महापद्मनाम के प्रथम तीर्थंकर का महान पद प्राप्त करेगा।

अर्थ:—कहां तो महा मंडलीक राज्यपद और कहां पर नारकी अवस्था तथा कहां पर फिर तीन जगत से पूज्य तीर्थंकर पद ! ये सर्व बातें एक से एक आश्चर्य करने वाली हैं। हे भव्य जीवो ! परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सब कर्म के चरित्र हैं। कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटना को कराता है। संसार में कर्मों से कौन-कौन जीवों को दुःख प्राप्त नहीं हुए। अरे भरत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी कर्मों के द्वारा दुःख को प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवों की क्या बात ? इसलिए समभव्य जीवों को कर्मों के नाश करने के लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित दयामयी पवित्र जैनधर्म का पालन करना चाहिये।

अथ श्री गिरनारि सिद्धक्षेत्र प्रकरण

अथ श्रृणुथ भो भव्या: वृत्तांतमपरं शुभम्। संक्षेपत: प्रवक्ष्येहं जिनमार्गस्य सूचकम् ॥ 240 ॥
श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन। पादारविंदेन मनोहरेण। यदूर्जयंतामिधभूधरोहि। पवित्रतां भो गतनिंजराद्यै: ॥ 241 ॥
यस्याद्रता: मोक्षपुरे मुनीन्द्रा:। द्विसप्ततिकोटिप्रमात्मध्यानात्। जायाशतै: सार्धमहो सुराद्यै। वंदाम्यहं तान् सकलान् त्रिकाले ॥ 242 ॥
तस्य गुहायां बसनैर्विहीनो धरादिसेन: सुरपूज्यपाद: । तपोदयालंकृतगात्रमूर्ति: वासं चकार मुनिराट् शिवार्थं ॥ 243 ॥

अंगांशधारी तपदीप्तिधारी ध्यानाधिकारी सकलार्थधारी। श्रीजैनधर्माब्धिसुसोमकारी पुनातु न: स: वसुभावधारी ॥ 244 ॥

अर्थ—हे भव्यजीवों समस्त जीवों के कल्याण के लिये अब एक दूसरा वृत्तांत संक्षेप से कहते हैं। जिससे जैनमार्ग की महत्वता प्रकट होगी।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान के पवित्र चरण कमलों से पवित्र तीर्थ अवस्था को प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ भगवान की निर्वाण भूमि श्रीगिरनार पर्वत सोरठ देश में प्रसिद्ध है। जहां से बहत्तर कोडि मुनीश्वर मोक्ष धाम को पधारे हैं। उस पर्वतराज को मैं त्रिकाल भाव विशुद्धि से नमस्कार करता हूं।

अर्थ:—गिरनार पर्वत की गुफा में नग्न दिगंबर धरसेन नाम के एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे।

श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणों से साक्षात् पूजित थे। दया, तप, संयम आदि उत्तमोत्तम गुणों से विभूषित अंग के कुछ अंश पर्यंत महान ज्ञान के धारक, तप से तैजस, ऋद्धि को प्राप्त, ध्यान क्रिया में अतिशय निपुण, समस्त तत्व के वेत्ता, श्रीजिनधर्म रूपी समुद्र को बढाने के लिये चंद्र समान प्रभुता को धारण करने वाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी रक्षा करो।

अर्थ:—श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्य ने अंग को अपने हृदय में धारण कर जैन मार्ग की प्रवृत्ति के लिये ग्रंथों की रचना की।

तेन मुनीन्द्रेण विचारितेयं अंगाश्च पूर्वाः ह्यखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ह्योवदिने शुभाख्ये श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्तनार्थम् ॥ 245 ॥
शास्त्रदृते नैव नराखिलाश्च । धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठनं च ॥ ज्ञास्यंति नैवात्र श्रुतार्णवं च । अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ 246 ॥
जयादिशुभ्रं प्रथमं चकार । ग्रंथं ह्यकूपारसमं मुनीन्द्रः ॥ अनेकभेदार्थभृतं मनोज्ञं । श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुल्यं ॥ 247 ॥
प्रमाणं तस्य ज्ञारब्यं सहस्रसप्ततिं खलु । बुधैर्नमाम्यहं तंच शिरसा समये त्रिके ॥ 248 ॥
विचित्रशब्दं गहनार्थयुक्तं महादि अंते धवलंच ग्रंथम् । ततः परं भो मतिराट् चकार बुद्ध्याबलेन द्वितीयं शुभंच ॥
चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानमस्य बुधैर्मतम् । तस्मै ग्रंथाय शुद्धाय नमोस्तु समयं प्रति ॥ 250 ॥
विजयादिअंते धवलंच ग्रंथं । गूढार्थयुक्तं तृतीयं वरंच । मतांतराः यच्छ्रवणात्प्रयांति विखंडिता ह्युत्तरवर्जिताश्च ॥ 251 ॥
षष्टिसहस्रसंख्याढ्यं भणयजीवैश्च पूजितम् । साष्टांगेन सदा तेच वंदे कर्मारिनाशकम् ॥ 252 ॥
एषां त्रयाणां रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभध्यानयोगात् । तेन मूनीन्द्रेण दलेषुमध्ये शुक्लाभिधे पंचमीवासरेच ॥ 253 ॥

श्रीधरसेनाचार्य ने विचार किया कि अब आगे जीव मंदज्ञानी धारणा शक्ति विहीन होंगे। इसलिये वे धर्ममार्ग व श्रुतका पठन-पाठन नहीं जान सकेंगे। इसलिये मैं श्रुत को पत्रों पर लिखकर जगत में प्रकाश करू ?

श्री धरसेनाचार्य ने सबसे प्रथम समुद्र के संमान गंभीर अनेक शब्दार्थों से मनोज्ञ जगत के हित कारक श्रीवीर भगवान की ध्वनि समान परम पूज्य जयधवलादि ग्रंथ निर्माण किये।

अर्थ:—जयधवल ग्रंथ की श्लोक संख्या सत्तर हजारश्लोक प्रमाण है। उस ग्रंथराज को मैं शिर नमाकर त्रिकाल वंदना करता हूं।

अर्थ:—विचित्र शब्द रचना से गुंफित और गंभीर अर्थ का प्रतिपादक ऐसा महाधवल ग्रंथ बनाया जिसके श्लोकों का प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रंथ को मैं त्रिकाल नमस्कार करता हूं।

अर्थ:—विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढार्थ बनाया जिसको श्रवण करते ही मतांतर खंडित हो जाते हैं और बड़े-बड़े प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्ग को ग्रहण करते हैं। यह ग्रंथ साठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया। उस ग्रंथराज को त्रिकाल मैं वंदना करता हूं।

मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकौघैश्चतु: प्रकारै: महतै: सुसंघै:। इज्या कृता वै अभिषेकमुख्या तेषांच गानैर्वरदानमानै: ॥ 254 ॥

सद्धर्मध्यानेन हाशून् प्रत्यक्त्वा धरादिसेनो यतिराट् गतश्च। स्वर्गोन्चभूत् शर्मतर्ति शुभाच किं कि न यात्येव शुभोदयाद्धि ॥ 255 ॥

त्रयाणां धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयब्धिपारगा:। भूतबल्यादयो जाता योगीन्द्रा वसनोज्झिता: ॥ 256 ॥

ग्रंथप्रवर्तनां कृत्वा गतास्तेपि दिवं खलु। मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा प्राणान् शिवाप्तये ॥ 257 ॥

ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वर:। आसीत् क्षितौ प्रविख्यात: तत्रयाणां च वाचनात् ॥ 258 ॥

तदनुसारतस्तेन ग्रंथानां स्वस्य बुद्धित:। कृता च रचना लोके ग्रंथवर्द्धनहेतवे ॥ 259 ॥

अर्थ:—उक्त तीन ग्रंथों की ज्येष्ट सुदी 5 को ताड़पत्र पर लिपिरूप स्वामी श्री धरसेनाचार्य ने रचना की।

अर्थ:—श्री धरसेनाचार्य की चार प्रकार के संघ ने (मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपूर्वक अभिषेक पूर्वक पूजा की।

श्री धरसेनाचार्य शुभ ध्यान से प्राणों का परित्याग कर स्वर्ग में उत्तम सुखों को प्राप्त हुए। शुभ ध्यान से क्या क्या नहीं होता है।

अर्थ:—उक्त तीनों ग्रंथराजों को धारण करने वाले आगम के पारगामी श्रीभूतबली आदि अनेक दिगंबर योगीश्वर उत्पन्न हुए।

अर्थ—श्रीमान् भूतबली आदि आचार्यगण भी उन ग्रंथों की प्रवृत्ति समस्त संसार में कराकर शुभध्यान से उत्तम सुख को प्राप्त हुए।

अर्थ:—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियों के बाद अनुक्रम से श्री निखिल परमागम के वेत्ता श्रीदिगंबर योगीश्वर सूरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए। जिनने उक्त तीनों ग्रंथों को पढ़कर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखंड रूप से व्याप्त कर दी थी।

संस्कृतापि कृता ग्रंथा: प्राकृतापि कृता: पुन: । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ 260 ॥
त्रयाणां रचना तेन महाधवलग्रंथत: । ग्रंथानांच कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ 261 ॥
अनागतप्रकाशाख्यमाद्यमानन्ददं खलु । सर्वक्रियादिकथकं मतांतरविघातकम् ॥ 262 ॥
द्वितीयं मोक्षदं तत्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रंथं सकलतत्वानां प्रकाशकरणे रविम् ॥ 263 ॥
मुनीनां वा गृहस्थानां सद्धर्मोत्पादकं शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञं च नाकशिवप्रदायकम् ॥ 264 ॥
इमे च निर्मिता: शुद्धा: त्रयो ग्रंथाश्च तेन वै । संभृताश्च विवेकाद्यै: कलाभि: शिवदायका: ॥ 265 ॥
अनागतप्रकाशस्यानुसाराच्च प्रनिर्मित: । सूर्यप्रकाशसन्नामा अय मय[1] बुधोत्तमा: ॥ 266 ॥

श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने उन ग्रंथों को (जय धवल महा धवलादि) पारंगत कर उन ग्रंथों के अनुसार प्राकृत संस्कृत के बहुत से ग्रंथ बनाये। प्राकृत के ग्रंथ गोमटसार आदि प्रसिद्ध हैं। कितने ही ग्रंथ संस्कृत भाषा में भी बनाये। जिससे जैनधर्म की महिमा बढ़े और अपनी आत्मा का कल्याण हो।

महाधवल ग्रंथ से उनने तीन ग्रंथों की संस्कृत भाषा में रचना की। उसमें अनागत प्रकाश नाम का ग्रंथ निर्माण किया, जो समस्त मत-मतांतरों का खंडन करने में एक अद्वितीय श्रेणि (छटा) को धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओं का स्वरूप वर्णन किया है।

दूसरा ग्रंथ तत्वप्रकाश नाम का बनाया जो समस्त तत्वों को प्रकाश करने के लिय सूर्य समान है और समस्त पापों का नाश करने वाला है।

तीसरा ग्रंथ धर्मप्रकाश बनाया जिसमें मुनि और गृहस्थों के धर्म का पूर्ण रूप से वर्णन है। जिसको पढ़ने से स्वर्ग और मोक्ष के सुख प्राप्त होते हैं। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने उक्त ग्रंथों की रचना की जिनमें विविध प्रकार की कलाएं गुंफित की।

1—सूर्यप्रकाश यह स्वतंत्र ग्रंथ है। परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के बनाए हुए अनागत प्रकाश नाम के ग्रंथ से की है।

इस ग्रंथ का अवतरण

अनेकनयसंयुक्तो मिथ्यांधरविसदृशः। सज्जनैर्भव्यभावाढ्यैः सदा मान्यो न दुर्जनैः ॥ 267 ॥

अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नराः। मूकवत् यैत्र स्थास्यंति यथा नागाश्च कीलिताः ॥ 268 ॥

सार्थनामयुतं चेदं सकलार्थप्रकाशकम्। सुमत्या दायकं भव्याः पठध्वं शिवसिद्धये ॥ 269 ॥

अस्मिन् ग्रंथे धृताः केचित् संबंधाश्चान्यग्रंथतः। केचिद्धि मूलग्रंथाश्च जैनमार्गप्रकाशकाः ॥ 270 ॥

ग्रंथोऽयं सज्जनानां च महद्धर्षप्रवर्द्धकः। दुर्जनानां पुनश्चायं महत्क्रोधस्य वर्द्धकः ॥ 271 ॥

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती से बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रंथ के आधार से यह सूर्य प्रकाश नाम का ग्रंथ मैंने हे विद्वानों बनाया है।

यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्यांधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है और भव्य भावों से सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते हैं और सदैव मान्य करते हैं परंतु दुर्जन इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे।

अर्थः—इस ग्रंथ के श्रवण मात्र से कुमार्ग को पुष्ट करने वाले मनुष्य मूंक के समान स्थगित रह जायंगे। जैसे सर्प मंत्र से कीलित होकर स्थगित हो जाते हैं।

अर्थः—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथ का नाम सार्थक है। समस्त अर्थ को प्रकाश करने वाला और सुमति का प्रदान करने वाला यह ग्रंथ है। इसलिये इसका पठन पाठन मोक्ष की सिद्धि के लिये करना चाहिये।

अर्थः—इस ग्रंथ में कितने ही संबंध अन्य ग्रंथों से लेकर किये हैं। कितने ही मूलग्रंथ का प्रबंध जैसा का तैसा रख दिया है।

अर्थः—यह सूर्य प्रकाश नामक ग्रंथ सज्जनों को महान हर्ष को बढाने वाला है और दुर्जन पुरुषों को क्रोध को उत्पन्न करने वाला है।

सज्जना दुर्जना लोकं हिताहितकरा घना:। संति ह्यनादित: अस्मिन् गोपन्नगसमा बुधा: ॥ 272 ॥

तत्क्षणे सज्जना नैव परकाव्यं गुणोज्वलम्। दूषयंत्येव तं दृष्ट्वा मुदमेव प्रयांत्यहो ॥ 273 ॥

चरत्यहो तृणानेव यथा गौ: पयसंततिम्। ददात्येव न रक्तं च कदापि तद्धि द्वेषत: ॥ 274 ॥

तथा हि सज्जनानां च सदा प्रकृति निर्मला। स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ 275 ॥

दह्यमानोपि भो भव्या: पावकेनैव चंदन:। तथापि नैव दुर्गंधं ददात्यहो न संशय: ॥ 276 ॥

तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जनै:। मुंचति सज्जनत्वं च शत्रुमित्रसमानधी: ॥ 277 ॥

शर्करामिश्रितं दुग्धं पिबंत्येव भुजंगमा:। तथापि गरलं येहि मुंचंत्येवामृतं न च ॥ 278 ॥

तथाहि दुर्जनानां च स्वभावोयं न संशय:। दोषाणां ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता: ॥ 279 ॥

अर्थ:—सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्प के समान हिताहित करने वाले अनादि से ही हैं।

अर्थ:—सज्जनों का यह स्वभाव ही है कि दूसरों के निर्माण किये हुए काव्य को गुणसंपन्न देखकर प्रसन्न होते हैं।

अर्थ:—जिस प्रकार गाय तृणों को भक्षण कर दूध देती है परंतु कभी भी द्वेष से रक्त नहीं देती है। ऐसे ही सज्जन पुरुष सदैव गुणग्राही ही रहते हैं।

अर्थ:—सज्जन पुरुषों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे सबको आनंद ही प्रदान करते हैं परंतु किसी से भी द्वेष नहीं करते हैं।

अर्थ:—चंदन जिस प्रकार जलाने पर भी अपनी सुगंधी को नहीं छोड़ता है और कभी किसी अवस्था में दुर्गंध नहीं देता है। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार सज्जनों का भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणों को ग्रहण करते हैं।

अर्थ—चंदन के समान सज्जनों का भी यही स्वभाव है कि दुर्जनों के त्रास को सहन कर भी सज्जन पुरुष अपनी सुजनता का परित्याग नहीं करते हैं और शत्रु मित्रपर एक समान हित रखते हैं।

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांप को पिलाने पर भी सांप विष ही उत्पन्न करता है अमृत नहीं। वैसे ही दुर्जनों का यह स्वभाव ही है कि वे दोषों को ग्रहण करते हैं और गुणों का परित्याग करते हैं।

दर्शने परदोषस्य खलाश्चात्येवचातुरा:। स्वदोषदर्शने ते हि जन्मांधसदृशा: खलु ॥ 280 ॥

रुच्यते नैव दुष्टानां परोदय: कदाप्यहो। स्वस्तेजो यथा लोके दिवांधानां तथैव हि ॥ 281 ॥

परोदयं च दृष्ट्वा हि वृथा कोपं भजंत्यहो। ये ते च दुर्जना नूनं धिक् वृथा कोपकारिण: ॥ 282 ॥

परकीयं महाकाव्यं निंदयत्येव दुर्जना:। मनोहरंहि तेषांच स्वभावोयं सनातन: ॥ 283 ॥

सज्जनानां गुणानांच गृह्णार्थं निर्मिता इमे। सज्जना अत्र लोके वा स्वयंभुवा बुधोत्तमा: ॥ 284 ॥

गृह्णार्थं दोष वस्तूनां इमेच निर्मिता: खला:। ब्रह्मणा चात्र संदेहो नो खलु सज्जनोत्तमा: ॥ 285 ॥

सुज्ञानधारका लोके कुज्ञानधारका: खलु। माहेषीसदृशा येहि ज्ञेया: पन्नगसदृशा: ॥ 286 ॥

वचनाडंबरै: किं स्यात् सज्जना गुणपोषका:। भो बुधा दुर्जना नूनं दोषपोषणसंरता: ॥ 287 ॥

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरों के दोष देखने में ही अतिशय निपुण होते हैं परंतु कभी भी अपने दोषों को जन्मांध पुरुष के समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं।

अर्थ—दुष्ट पुरुषों को दूसरों का अभ्युदय (उन्नति) रुचकर नहीं होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश उल्लू नाम के जीव को नहीं रुचता है। दुष्ट पुरुष दूसरों को देखकर वृथा ही क्रोध करते हैं इस प्रकार बिना कारण क्रोध करने वाले दुर्जनों को धिक्कार है।

अर्थ—दुर्जन पुरुष दूसरों के बनाये हुए काव्य की निंदा करते हैं यह उनका सनातन स्वभाव ही है।

अर्थ—सज्जन पुरुषों का निर्माण गुणों को ग्रहण करने के लिये ही हुआ है परंतु दुर्जन पुरुषों का निर्माण दुर्गणों (दोषों) को ग्रहण करने के लिये हुआ है। इसमें हर्ष विषाद नहीं करना चाहिये। जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है।

अर्थ—इस विशाल संसार में सुज्ञान और कुज्ञान के धारक अनेक मनुष्य हैं। कितने गाय के समान सुजन हैं और कितने ही सांप के समान दुर्जन हैं। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है। परन्तु सबका सारांश मात्र यही है कि सुजन गुणों का पोषण करते हैं और दुर्जन दोषों को पुष्ट करते हैं।

मे काव्योपरि कोपंव मा कुरुध्वं वृथाच भो। कोपोहि सर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय: ॥ 288 ॥

हृदिहि भवतां नैव रुच्यते भो नरोत्करा: । ग्रंथोयं भजथ नूनं माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ 289 ॥

आत्मनिंदां च कुर्वंति परेषां सज्जनाश्च न। परकाव्यं च ते दृष्ट्वा हर्षोल्लासं भजंत्यहो ॥ 290 ॥

वातातंकप्रयुक्तश्च यद्वत् कञ्चित् ब्रुवति ना। वचसां संततिं नूनं शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ 291 ॥

तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रंथेच वचनावलि: । यां दृष्ट्वा सज्जनास्तां च मा भजध्वं क्षमापहम् ॥ 292 ॥

अभिमानेन अस्यैव नो कृता रचना बुधा: । मया केवलधर्मस्योद्योतनार्थं शिवप्रदा ॥ 293 ॥

आलस्ययोगाद् बुधसत्तमा हि। अस्मिन् धृतादित्यप्रकाशग्रंथे ॥

शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै। क्षमध्वमेवाखिलसज्जनार्च्या: ॥ 294 ॥

मा यांतु ज्ञानसंपन्ना: बालकोपरि मे खलु । रोषत्वं सज्जनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ 295 ॥

अर्थ—मेरे इस काव्य के लिये वृथा ही क्रोध किसी को नहीं करना चाहिये क्योंकि क्रोध समस्त पापों का मूल कारण है।

अर्थ:—हे सज्जनों ! जो आपको यह मेरा बनाया हुआ सूर्यप्रकाश नाम का ग्रंथ रुचिकर न हो तो आप मध्यस्थ भाव को धारण करें।

अर्थ:—सज्जन पुरुष दूसरों की निंदा नहीं करते हैं और दूसरों के काव्य को देखकर वे अतिशय हर्षित होते हैं।

अर्थ—जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा बकवास करता है कुछ भी शब्दाशब्द का बोलने न बोलने का विचार नहीं करता है। ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रंथ में गुंफित की है। सज्जन पुरुष इससे दुर्भाव को धारण नहीं करेंगे।

अर्थ:—मैंने यह ग्रंथ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थ की सिद्धि के उद्देश्य से नहीं बनाया है। केवल धर्म का उद्योत हो एक इसी सद्भावना से प्रेरित हो यह ग्रंथ निर्माण किया है।

अर्थ:—इस सूर्यप्रकाश ग्रंथ में प्रमाद से कोई अशुद्ध शब्द रखे हों। उस पर सज्जन पुरुष क्षमा भाव धारण करें। ज्ञान से विभूषित सज्जन पुरुष मुझे बालक समझकर क्रोध भाव का प्रकाश नहीं करें।

वीरः शर्मप्रदायको मुनिनुतो वीरं श्रिता ज्ञानिनो । वीरेणैव समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नमः ॥ 296 ॥
वीरान्नस्त्यपरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणाः । वीरे चित्तमहं दधे ह्यनुदिनं हे वीर मेघं जहि ॥ 297 ॥
देवेशः पूज्यपादः हतसकलमलब्बिन्मयः शांतरूपः । यीरेशः स्वात्मसंस्थो गणधरमहितो लोकभागाग्रसंस्थः ॥
पापाना वारनाशे अतुलपविसमः काममातंगसिंहः । ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो मंगलाय शिवांते ॥ 298 ॥
शेषास्ते जिननायकाः शिवप्रदाः संसारविच्छेदकाः । देवेन्द्रैः खचरेश्वरैर्मुनिवरैः सेव्याः सदा शंप्रदाः ॥
पापातंकविघातकाः सुविमला नानागुणैः संभृताः । कुर्वंतु मम मंगलं शिवप्रदं वंद्या मया संस्तुताः ॥ 299 ॥
सिद्धाः कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभागाग्रसंस्थाः । वंद्या नेमीन्दुनाम्ना शिवपदजनकाः सर्वपापाद्रिभेधाः ॥
निष्कायाः निर्विकल्पा गुणगणनिलयाः सर्वकालेषु संस्थाः । ते मे कुर्वंतु नित्यं सकलसुखकरं मंगलं पावनं च ॥ 300 ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखों को प्रदान करने वाले हैं। श्री वीर प्रभु का ही शरण सज्जन पुरुष स्वीकार करते हैं। श्री वीर भगवान् के प्रसाद से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये श्री वीर प्रभु को मस्तक नमाकर नमस्कार है। श्री वीर भगवान् के सिवाय अन्य कोई इस जगत में देव नहीं है। वीर भगवान् के शुद्ध गुण हैं। मैं वीर भगवान् में अपने चित्त को लगाता हूं। हे वीर प्रभो मेरे पापों को दूर करो।

अर्थ:—देवाधिदेव पूज्यपाद समस्त कर्ममल कलंक को नाश करने वाले चिन्मय परमशांत अपने स्वरूप में स्थिरीभूत गणधर देवों से पूजित लोक के अग्रभाग में विराजमान पापों के नाशक, काम रूपी हाथी का नाश करने के लिये सिंह समान और विमल ज्ञान के प्रदान करने वाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमे मंगल प्रदान करें।

अर्थ—मोक्ष को प्रदान करने वाले संसार का नाश करने वाले देवेन्द्र विद्याधर और मुनीश्वरों से सदैव पूज्य, पापों का नाश करने वाले अनंत गुणों को प्रदान करने वाले ऐसे चतुर्विंशति वृषभादि देव हमे मंगल प्रदान करो।

अर्थ:—आठ कर्मों से सर्वथा रहित गणधर देवों से पूज्य लोक के अग्रभाग में विराजमान मोक्षपद को प्रदान करने वाले समस्त पापों को नाश करने वाले शरीर रहित समस्त प्रकार के संकल्प विकल्पों से रहित गुणों के स्थानभूत सब काल में अनादिनिधन रूप से विराजमान और नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ता का नाम) आचार्य से वंदनीक ऐसे सिद्ध परमात्मा परम पवित्र मंगल प्रदान करो।

आचार्या धर्मतीर्था मुनिवरनिवहैः पूजिताः सत्पदाब्जाः । रामःशत्रुर्गुणानां सुधरणकुशलाः सर्वपापारिहीनाः ॥
धीरा वै धीरसेव्याः सुरअसुरनुता पूर्णज्ञानाब्धिचंद्राः । नो वो यच्छंतु शुद्धं शिवपथ जनकं मंगलं सत्तपाढ्याः ॥ 301 ॥
वंदेहं पाठकानां पदद्वयमनिशं पावनानां त्रिशुद्ध्या । येषां शक्तास्ति नित्यं अवगमपठने पाठने लेखपूज्यम् ॥
शिष्यानां तेच दध्युः परममतियुताः पापसंतापहाराः । ये शुद्धं मंगलौघं कविमतिजनकाः शुद्धभावाय शुद्धाः ॥ 302 ॥
पक्षे वा मासमध्ये सुनिघसकरणे विद्यतेनल्पशक्तिः । मूले वृक्षस्य चापि गिरिशिरसि तथा वा तटे चैव नद्याः ॥
साधूनां सर्वकाले पदयुपलमहं वा त्रिशुद्धया च येषां । ते मे हि साधुवर्गाः परमसुखप्रदाः मंगलाय भवंतु ॥ 303 ॥
एतेषां परमेष्ठिनां बुधजना गात्रस्थपापोत्कराः । नानादुःखप्रदायका ह्यतिदृढाश्चैव प्रयांत्येव वै ।
नाशत्वं अमलाशये शुभहृदः संस्मरणत तत्क्षणे । कुर्वीध्वं शिवशर्मदं हृदि सदा स्मरणं ह्यतः पापहम् ॥ 304 ॥
आधिव्याधिहराः सुशर्मजनकाः पापविनाशंकराः । वंद्याः पूज्याः सुरैंद्रैः सकलगुणधराः पापसंतापहीनाः ॥

अर्थः—धर्मतीर्थ के नायक मुनिवरों से पूज्यपाद छत्तीस गुणों से विराजमान समस्त पंचाचार के धारण करने में कुशल समस्त पापों के नाशक सुधीर वीर पूर्ण ज्ञान के समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमे मोक्ष पथ में जाने के योग्य मंगल प्रदान करो।

अर्थः—जिनमें समस्त द्वादशांग के पठन-पाठन की अपूर्व शक्ति विद्यमान है देवों से पूजित समस्त संताप का नाश करने वाले और परम बुद्धि के प्रदान करने वाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मंगल प्रदान करो। मैं सतत वंदना करता हूं।

अर्थः—पन्द्रह दिवस अथवा एक मास पर्यंत प्रोषध (उपवास) धारण करने की जिनमें अपूर्व शक्ति होती है। जो वृक्ष के मूल या पर्वत के शिखर अथवा नदी के किनारे पर योगासन लगाकर अपने आत्मध्यान में लवलीन होते हैं ऐसे साधु परमेष्ठी के चरण कमलों को त्रिशुद्धि से नमस्कार करता हूं। वे साधु परमेष्ठी परम सुख को प्रदान करने वाला मंगल प्रदान करो।

अर्थः—ये अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी भव्यजीवों के समस्त प्रकार के पापों का नाश करने वाले हैं और जिनके स्मरण से अमल गुणों की प्राप्ति होती है। वे पंचपरमेष्ठी हमे मंगल प्रदान करो और हमारे पापों का नाश करो।

चेमे वंद्या: ययावै भवभयहतका: ते दिशंतु च नो व: । शर्म मोक्षस्य नूनं गुणनिवहकरा: तारकाहि भवाब्धे: ॥ 305 ॥
तं वंदे सर्वकाले परमसुखप्रदं श्रीजिनेन्द्रै: प्रणीतम् । भव्यानां तारणेशं सकलसुरगणै: सेव्यमानं सदास्थम् ॥
निर्दोषं सत्प्रपूज्यं विपथनगपविं धीरवीरैर्गणेन्द्रै: । सेवाद्यस्यैव भव्या अमलगुण (युता:) यांति मोक्षे सदा हि ॥ 306 ॥
यो धर्मोऽधर्महंता जिनवरपददो वंदनीयो मुनीन्द्रै: । यावन्मुक्तयंगनाया: परमतपवशान्नैव प्राप्तिर्भवेन्मे ॥
तावन्मे शुद्धचिते दुरितनगपवि: तिष्ठतु सर्वपूज्य: । दु:प्राप्यो दुर्जनानाममलमतिप्रद: सो हि संसारहंता ॥ 307 ॥
वंदे तं धर्मनाथं नरसुरखचरै: सेव्यमानं गणेशं । प्राच्यायां ब्रह्मरूपं सकलमुनिगणै: सद्दिशायां च संस्थम् ॥
श्रीमंतं मुक्तिकांतं सकलभयहरं वंदनात्सेवकानां । भक्त्या सीमंधरार्हं हरतु मम हृद: सो जिन: पापशत्रुम् ॥ 308 ॥
नरसुरपतिवंद्य पापदावाग्निमेघं - । मसमगुणनिधानं सर्वतत्वार्थसारं ॥

अर्थ—समस्त प्रकार की आधिव्याधियों को दूर करने वाले पापों के संताप को हरने वाले देवेंद्रों से पूज्य समस्त गुणों को धारण करने वाले संसार के समस्त दु:खों का नाश करने वाले संसार समुद्र से तारने वाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्ष सुख प्रदान करो।

अर्थ:—परम सुख को प्रदान करने वाली भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार करने वाली समस्त देवगणों से पूज्य समस्त दोषों से विमुक्त, कुमार्ग का नाश करने वाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणों से पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवान के मुख कमल से विनिर्गत श्री शारदा देवी को मैं त्रिकाल वंदना करता हूं।

अर्थ:—अधर्म का नाश करने वाला, श्री जिनेन्द्र भगवान का उत्तम पद प्रदान करने वाला, मुनिगणों से वंदनीय, परम तप से प्राप्त, समस्त पापों को नाश करने वाला, संसार का विध्वंस करने वाला, विमल बुद्धि का प्रदान करने वाला और दुष्ट जीवों को अप्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जब तक मोक्षसुख की प्राप्ति न हो तब तक मेरे हृदय में विराजित रहो।

अर्थ:—धर्म के ईश, नर सुर विद्याधरों से पूज्य, गणधरों से सेव्यमान, पूर्व दिशा में ब्रह्मा का स्वरूप धारण करने वाले, मुक्ति के वल्लभ, समस्त भयों को हरने वाले ऐसे देवाधिदेव श्री सीमंधर स्वामी मेरे पापशत्रुओं का नाश करो।

अर्थ—नर देव इन्द्र चक्रवर्ती आदि त्रिलोक के जीवों से पूज्य पापरूपी दावाग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान

जिनवरमुखंजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं। सकलमुनिपसेव्यं हि इदं भो भजध्वम् ॥ 309 ॥

अस्यैव श्रवणाद्भवेन्नरवरः ज्ञानं क्रियाणां तथा। धर्मस्यैव फलस्य शर्मजनकं मुक्तेः स्वरूपस्य वै ॥

अन्यस्यापि सदैव भो हृदि खलु एवं च ज्ञात्वा हृदि। कुर्वीध्वं हृयघहान ये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै ॥ 310 ॥

अस्य प्रयोगात्सकलाश्च अंहाः। प्रयांत्यहो दूरतरा जनानां ॥ खगेश्वरदर्शनतो यथा हि। पवनाशना दुर्जनरूपयुक्ताः ॥ 311 ॥

पठंतु चैमं बुधसत्तमास्ते ग्रंथं मनःपापविभंजकं हि। वादस्य कर्तुः गजसिंहतुल्यमनेकभेदार्थभृतं मनोज्ञम् ॥ 312 ॥

समस्त गुणों का निधान सर्व तत्वों का सारभूत ऐसी दिव्य ध्वनिरूप (जिनवाणी) को नमस्कार करता हूं।

यह वाणी श्रीगौतम स्वामी ने प्रतिपादन की है और क्रम से गुरु परंपरा द्वारा वैसी ही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है।

अर्थ—इस ग्रंथराज के श्रवण करने से मनुष्य समस्त क्रियाओं के ज्ञाता हो जाते हैं धर्म और धर्मफल के स्वरूप को जानने लग जाते हैं। जो इस ग्रंथराज का स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्वों के ज्ञाता होंगे। इसलिये पापों के नाश के लिये इस ग्रंथराज का स्वाध्याय नित्य प्रतिदिवस करना चाहिये।

अर्थ—जिस प्रकार गरुड के दर्शन मात्र से सर्प भाग जाते हैं। उसी प्रकार इस ग्रंथ के पठन-पाठन, स्वाध्याय और श्रवण करने से समस्त पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

अर्थः—इस ग्रंथ का पठन-पाठन हे भव्यगणों अवश्य ही करिये इससे मन के समस्त पाप शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जायंगे। यह ग्रंथ वाद-विवाद करने वाले को सिंह के समान है और अनेक भेदार्थ को प्रकट करने वाला है।

सूर्य प्रकाश ग्रंथ प्रशस्तिः

श्रीमूलसंघे विदिते धरायां गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये। तस्मिन् बलात्कारगणेतिरम्ये श्रीकुंदकुंदाख्यसुवंशयुक्ते ॥ 313 ॥
तपर्द्धियुक्ते वरनंदिनाम्नः आम्नायेषु तस्य ह्यभून्मुनेश्च। स्वर्णादिकीर्तिर्वरसूरिनाम्ना चंपावतीनामपुरे प्रशस्ते ॥ 314 ॥
सूरेः हि तस्य वर बोधयुक्तः। ह्यभूत् सुनाम्ना विदुषांच मान्यः ॥ विद्वद्वरः श्रीयुतराजमाल्लः। शिष्यो नृपैः पूजितपादपद्मः ॥ 315 ॥
नाम्ना फतेचंद्र सुरूपयुक्तः। शिष्यो ह्यभूत्तस्य मनोभिरामः ॥ शास्त्राब्धिपारंगतचित्तवृत्तिः। रवीव दैगंबरधर्मकारी ॥ 316 ॥
तस्याप्यभूच्छ्रीवरबोधवान् वै। वृंदावनाख्यः सुरपूज्यपादः ॥ प्रतापवान् शुभ्रगुणांकितश्च ॥ जिनेन्द्रपादाब्जद्विरेफतुल्यः ॥ 317 ॥
स्मरारिहंता सकलार्थवेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्तः। धराधिपैः सेवितपादपद्मः धर्माव्धिइन्दुसमभावयुक्तः ॥ 318 ॥
कलाकलापांकितविग्रहश्च पंचाक्षशर्माद्विमुखः सदा वै। मायाभिमानेन विवर्जितांगः निःक्रोधरूपश्च्युतलोभशत्रुः ॥ 319 ॥

अर्थः—संसार मात्र में प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघ में भारतीय नामक गच्छ में बलात्कारगण में और श्रीकुंदकुंद आम्नाय में तप ऋद्धि से विभूषित-पद्मनंदी मुनि की आम्नाय में स्वर्णकीर्ति नाम के प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे।

अर्थ—स्वर्णकीर्ति आचार्य के पट्ट पर विद्वानों से मान्य श्रेष्ठ विद्वद्वर्य श्रीयुक्त राजमलजी हुए। जिनके अनेक राजा शिष्य थे।

श्री राजमलजी के फतेचंद्रजी नाम के सुजन शिष्य थे। फतेचंद्रजी समस्त शास्त्रों में पारंगत सरस्वती को अपने चित्त में धारण करने वाले और धर्म को प्रकट करने वाले थे।

अर्थ—फतेचंद्रजी के वृंदावन नाम के शिष्य थे। वे प्रतापी गुणवान् श्रीजिनधर्म के प्रेमी देवताओं से पूजित ज्ञानकला में अतिशय निपुण थे।

अर्थ—श्रीवृंदावन का वर्णन ऊपर कहा जा चुका है। फिर भी तीन श्लोकों में विशेष दिखलाते हैं।

कामदेव को नाश करने वाले समस्त तत्व को जानने वाले परोपकार करने में विशेष लवलीन राजाओं से सदैव मान्य

मतांतरपालकमिश्च पादौ सद्वंदितौ यस्य प्रतापतेजसा। तस्यापरां कि कथयामि शोभां धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्तिः ॥ 320 ॥
वृन्दावनस्यापि ह्यभूद्धरेण्यः सीतादिरामाभिधशिष्य वाग्मी। भव्यैः नृभिः सेवितपादपद्मो मृद्वाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ॥ 321 ॥
विवेकधर्ता वररूपयुक्तः दयाव्रतपालनचंचु शुद्धः। श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी विद्वज्जनानां मनमोदकारी ॥
षट्कर्मधर्ता विहतांहवारः श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा। सच्छीलव्रत्तेन विभूषितांगो मानापमाने समधीः सदैव ॥
श्री राम ह्यंते शिवजीहि आदौ शिष्यो धरायां विदितः कृपालुः। अभूच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो विपश्चिदोधेषु सुमुख्यमूर्तिः ॥
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी सद्धर्मध्याने धृतधीः निशान्हि ॥ सिद्धांत पौराणविचारदक्षः सद्धीः सदासेवितधर्मवर्त्मा ॥ 322 ॥

धर्म को वृद्धिगत करने के लिए चंद्रमा के समान अनेक कलाओं से जगत में चमत्कार प्रकट करने वाले पांच इन्द्रियों को जीतने वाले विषयों से विरक्त मान माया लोभ आदि कषायों से रहित क्रोधादि दुर्भावना से विरक्त परमशांत अनेक मतांतरों का खंडन कर समस्त वादियों से पूजित परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृंदावन के गुणों का कौन से शब्दों से वर्णन करें। उनके समस्त गुण कह नहीं सके।

अर्थ:—वृंदावन के शिष्य सीताराम थे। सीतारामजी वाग्मी भव्य जीवों से पूजित, सरल परिणामी, पुण्यमूर्ति, विवेकी, सुरूपवान, दयाव्रत के पालने में विशेष उपयोग लगानें वाले, अंत:करण की शुद्धता को धारण करने वाले, श्री जैनधर्म के प्रभावक विद्वानों से मान्य, आनंद स्वभाव वाले, षट्कर्म में प्रवीण, पापों को नाश करने वाले, सिद्धभूमि की यात्रा करने वाले, शील और व्रत से विभूषित, मानापमान में चित को सावधान रखने वाले, परम शांत थे।

अर्थ:—सीताराम के शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए। शिवजीराम कृपालु, गुणगणों से विभूषित, विद्वानों में सबसे अग्रेश्वर, विज्ञान को प्रकट करने वाले, धर्मध्यान में अपनी बुद्धि को लगाने वाले, धर्म के सूर्य सिद्धांत समुद्र के पारंगत श्रेष्ठ वाणी को प्रकाश करने वाले और धर्म मार्ग की सदैव सेवा करने वाले थे।

अर्थ:—शिवजीरामजी चंपापुर नगर में विशेष रहे और धर्म की महिमा चंपापुर में विशेष रूप से प्रकट की। फिर वहां से तक्षाभिध नगर में कुछ समय सुख से रहे और यहां पर भी धर्म का उद्योत करते रहे।

शिवजीराम ने अपनी पर्याय में अपनी शक्ति से असीम धर्म की महिमा प्रकट की और स्थान स्थान पर धर्म के प्रकाशन के लिये विहार करते थे।

कियत्प्रमाब्दैर्विहिताच तेन तत्रैव चंपावति सत्पुरे हि ॥ सद्धर्मयुक्तेन गुणाकरेण भव्याब्जभानुसदृशेन येन ॥ 323 ॥
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार। कियन्समैर्वा सुखतश्च वाग्मी श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ॥
आगत्य तस्मादपि सोहि भव्यः द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि ॥ अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे सत्खातिकाशालविमंडिते च ॥
तस्मिन् विभात्येव मनोहरोहि जिनेंद्रसद्मो वरभूतियुक्तः । संशोभते तस्मिन् पापहता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेवः ॥
मृगारिपीठोपरि संस्थितं हि दर्विकरांकं मनमोददंच। छत्रादि शोभाभि विराजमानं पद्मासनस्थं वरसौम्यमूर्तिम् ॥ 327 ॥
आतंकमातंगमृगेन्द्रतुल्यं। सुरेन्द्रपूज्यंच नरेन्द्रवंद्यं ॥ चित्तस्थपापालिविनाशकं तं। हंतारमेवाखिलदुःखकानां ॥ 328 ॥
इत्यादिशोभाभिः विमंडितं तं दृष्ट्वाच नत्वा हृदि ह्याप्य मोदं। वासं चकार विदितो धरित्र्यां धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥ 329 ॥
तत्रैव तस्यापि अभूद्य शिष्यो। नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्तः। श्रीशारदासेवन चित्तवृत्ति तस्याः प्रसादाच्च अयं कृतोवै ॥ 330 ॥
ग्रंथेऽस्मिन् जिनवऋजे तनुधिया किंचिद्विरुद्धंच यत् । मात्राशब्द पदाक्षरादिरहितं आलस्यसंयोगतः ॥

अर्थ—श्रीयुक्त शिवजीरामजी वहां से (तक्षनगर से) कुछ दिवस बाद चले आये और द्रोणी नामक ग्राम में रहे। उस समय द्रोणीपुर समस्त संसार में प्रसिद्ध था। खातिका कोट सरोवर आदि से विशेष शोभायुक्त और व्यापार का केन्द्र था। द्रोणीपुर में एक पार्श्वनाथ भगवान् का दिगंबर जैन मंदिर था। यह जिन मंदिर बड़ी-बड़ी भारी विभूति से सुशोभित था। उस मंदिर में समस्त पापों का नाश करने वाले स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणियों को आनंद के देने वाले छत्र, चमर और भामंडल से अनुपम आत्मा को धारण करने वाले पद्मासन विराजमान सौम्यमूर्ति परम शांत मुद्रा के धारक समस्त रोग शोक आदि व्याधि को दूर करने वाले देवगणों से पूजित व भव्य जीवों से वंदनीय सबसे मन के पापों को शांत करने वाले समस्त प्रकार के कष्टों को नष्ट करने वाले सातिशय चमत्कार को धारण करने वाले इत्यादि बहुत सी शोभा से विभूषित श्री पार्श्वनाथ भगवान् देवाधिदेव विराजमान थे।

शिवजीरामजी ने यह स्थान धर्मसाधना के लिये सुयोग्य समझा और यहां पर वही धर्मोपदेश देकर (धर्म का प्रकाश कर) धर्म की महिमा को बढ़ाने के अभिप्राय से निवास किया।

अर्थ—द्रोणी नगर में शिवजीराम के शिष्य नेमिचंद्रजी ने अनेक शास्त्रों का पठन-पाठन किया था और सरस्वती माता की विशेष सेवा की थी जिसके प्रसाद से इस ग्रंथ की रचना हुई।

राद्धांतागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासंभृते। प्रोक्तंच क्षमता सुतद्धि विमले सर्व ममागं खलु ॥ 331 ॥
यस्याः प्रसादाद्रचयंति ग्रंथान् कवीश्वराः धर्मप्रकाशकान् हि। श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् ईडे हि तां सन्मतिसिद्धयेहं ॥
पूजार्थं ख्यातितार्थं ननुच बुधजना नो कृतोयंच ग्रंथः। द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥
बोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनानां। संबोधार्थं पुनातु ममच खलु हृदं वा शरीरंच वाक्यम् ॥ 332 ॥
बुधाश्चेमे ग्रंथं प्रवरगुणदं धर्मजनकम्। अघा नाशं यांति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ॥
ततो नूनं दुःखनिवहविषमाः दुर्जनसमाः। सदाकाले शुद्धे अमलमतिभा भो पठथ वै ॥ 333 ॥

अर्थ—इस ग्रंथ में (सूर्य प्रकाश में) श्रीजिनवर भगवान् के मुख कमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम) के विरुद्ध जो हो और अक्षरपद मात्रादि दोष तथा व्याकरण के दोष सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान भव्य मेरे अपराधों को क्षमा करे। शास्त्र समुद्र में कौन नहीं भूल खाता है।

अर्थ—जिस सरस्वती के कृपाकटाक्ष से कवीश्वर धर्म की महिमा को प्रकट करने वाले ग्रंथों की रचना करते हैं। उस सरस्वती माता को मैं भाव विशुद्धि से सन्मति की प्राप्ति के लिये पूजा करता हूं।

अर्थ:—मैंने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धि के लिये या मान बढ़ाई प्राप्त करने के अभिप्राय से नहीं बनाया है या द्वेष और राग भाव से अभिमान के वश होकर नहीं बनाया है। मैंने केवल अपनी आत्मा को बोध करने के लिये और सज्जनों को संबोध करने के लिये पवित्र भावों से बनाया है। इसलिये यह ग्रंथ मेरे हृदय, वचन और शरीर को पवित्र करो।

भावार्थः—ग्रंथकार का अभिप्राय है कि इस ग्रंथ की रचना किसी दुष्ट बुद्धि से अभिमान की रक्षा के लिये राग-द्वेष के विकार भावों से या किसी भी स्वार्थ बुद्धि से नहीं की है। जिससे इस ग्रंथ में जिनागम के विरुद्ध वर्णन लिखा जाय। जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागम का स्वरूप ही है। मात्र शब्द योजना मैंने की है।

अर्थ:—हे विद्वज्जन हो यह ग्रंथ अनेक गुणों को प्रदान करने वाला और धर्म का बीजभूत है। इसके श्रवण करने और पढ़ने से पाप नाश को प्राप्त होते हैं परंतु दुर्जनों को यह न रुचेगा। सुजन जन तो सदा काल इसका पठन-पाठन करेंगे।

नो संति सज्ञनात्र परममुनिनुता: पंचमज्ञानिनो हि। लोकानां तारणेशा: सकलसुरनुता: संपदासारयुक्ता: ॥
एषु हि संमतात्र बुधजननिकरा: तेपि शास्त्रेषु नूनम्। तत्तुल्या: संति भव्या: कलियुगभव ने नो खलु संशयोत्र ॥ 333 ॥
ग्रंथो बुद्धिप्रद: सदा सुखकरो ग्रंथं श्रिता ज्ञानिनो। ग्रंथेनैव समाप्यतेऽमलपदो ग्रंथाय तस्मै नम: ॥
ग्रंथान्नास्त्यपरो हितोत्र भवने सच्छर्मद: सज्ञना: । ग्रंथस्यैव शुभा गुणा: शुभप्रदे तस्मिन् हि ग्रंथे सदा ॥ 334 ॥
नानासारकथाश्रिते बुधजनैर्वंद्येच देवेश्वरै: । प्रोक्ते श्रीजिनदेवमिश्च महति सर्वत्र ग्रंथा: खलु ॥
चित्तं मोक्षपदे दधेच शुभगं भो ईदृशे नंदते। मां त्वं चोद्धर शीघ्रमेव भवत: ईहाहि नो चापरा ॥ 335 ॥
ग्रंथेमं बुधसत्तमा: शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै । प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सद्बुद्धिदं पावनम् ॥
सारं सिद्धांतसिन्धो: सकलमन: प्रियं नेमिचंद्रेण धीरा: । बुद्ध्यब्धे: पारप्राप्ता: सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयंतु ॥ 336 ॥
जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन ग्रंथ: कृतोयं शुभचेतसा वै। तेन मुदा भव्यप्रबोधनार्थं शिवाय वोस्तु ननु नोपि शुद्ध: ॥ 337 ॥

अर्थ:—इस विषम पंचम काल में, मुनियों से पूज्य, समस्त जगत के तारक, अनंत चतुष्टय और समोसरणादि विभूतियुक्त ऐसे तीर्थंकर केवली भगवान् साक्षात् नहीं हैं। परंतु उनके वचन ही गणधरों ने तीर्थंकर केवली भगवान माने हैं। केवली और उनके वचनों में भेद नहीं है। इसमें कुछ संदेह नहीं करना चाहिये।

ग्रंथ ही बुद्धि के प्रदाता हैं सुख को करने वाले हैं। ज्ञानी पुरुषों ने ग्रंथों का आश्रय ग्रहण किया है। ग्रंथों से ही अमलपद की प्राप्ति होती है। ग्रंथ के लिये मेरा नमस्कार हो। ग्रंथ के सिवाय अन्य कोई इस संसार में सुख का प्रदाता नहीं है। ग्रंथ के शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं ग्रंथ में शुभ गुण रहते हैं।

अर्थ—अनेक कथाओं से विभूषित बुध जनों से मान्य श्रीजिनराज के मुख कमल से प्रतिपादित समस्त प्रकार के आनंद को प्रदान करने वाले मोक्ष को देने वाले और संसार का नाश करने वाले ऐसे शास्त्रों को भव्य जीव अपने हृदय मंदिर में विराजमान करते हैं।

अर्थ—समस्त पापों का नाश करने वाला बुद्धि का प्रदाता मोक्ष के सुख को देने वाला परम पवित्र सिद्धांत का सार भूत समस्त जनों को प्रिय यह सूर्य प्रकाश ग्रंथ श्री विद्वद्वर्य श्री नेमिचंद्र ने बनाया है। इसका निरभिमानी विद्वानगण शोधन करें।

कराच स्वस्यैव लिखंति चेदं वित्ताच स्वस्यैव च लेखयंति। श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्थं तेऽग्रे भविष्यंति सुबोधयुक्ताः ॥ 338 ॥

ग्रंथः सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जनैर्वंदितः। सूर्याचंद्रमसा उडुपनिकरा अभ्रे महानिर्मले ॥

स्थास्यंत्येव ह्ययं यथाक्षितितले मिथ्यामतध्वंसनो। मान्यो भव्यनृभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिरं नंदतु ॥ 339 ॥

अयंच ग्रंथः पठकस्य नित्यं करोतु पापालिविनाशनंहि। सन्मंगलं बुद्धिवरां तथाहि हृद्वांछितं शर्मततिं पुनश्च ॥ 340 ॥

समाधिमृत्युं सुगतिं तथैव सद्दर्शन ज्ञानं तथाच वृत्तम्। पुत्रादिवृद्धिं जिनधर्मसिद्धिं जिनपादद्वयसत्स्तुतिंच ॥ 341 ॥

ममापि सर्वं सुगुणा भवंतु इमेहि मोक्षपददायकाश्च। दुःपापसंदोह विनाशकाश्च नाकादि स्यात् तस्य कथाहि नास्ति ॥ 342 ॥

अंकाभ्रनंदेंदुप्रमेहि चाब्दे मित्राद्रिशैलेन्दु सुशाकयुक्ते। मासे नभाख्ये शुभनंदयघस्रे विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ 343 ॥

अर्थः—श्री जिनराज के पवित्र चरणों की सेवा करने में तत्पर, विशुद्ध भावों से विभूषित ऐसे नेमिचंद्र ने भव्य जीवों के प्रबोध के लिये तथा अपने आत्म कल्याण के लिये यह ग्रंथ बनाया है।

अर्थः—जो सज्जन इस ग्रंथ को अपने हाथों से लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी संपत्ति से लिखायेंगे और इसका विस्तार करेंगे वे जैन धर्म की वृद्धि करेंगे उनको भविष्य में श्रेष्ठ ज्ञान संपादन होगा।

अर्थः—विद्वज्जनों से वंदनीक भव्य जीवों से सदैव मान्य और मिथ्या मत का ध्वंस करने वाला यह सूर्य प्रकाश नामका ग्रंथ संसार में जब तक सूर्यचंद्र या ग्रह नक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो। चिरकाल तक जैनधर्म का प्रकाश करो।

अर्थः—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथ पढने वाले भव्य जीवों के पापों का नाश करो, मंगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मन के मनोरथ सफल करो।

अर्थः—यह ग्रंथ पढने वालों को समाधि मरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्रकलत्र आदि की प्राप्ति और जिनधर्म की सिद्धि प्रदान करो।

अर्थः—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथ ग्रंथकर्ता श्रीनेमिचंद को भी समस्त गुणों की प्राप्ति करो जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति हो और पापों का नाश हो। स्वर्ग के सुखों की आवश्यकता नहीं है।

द्रोणीनगर्यां विदितेऽचलायामनेकशोभाविमंडिते च। मध्यान्हकाले अरुणस्य शुद्धे। राधानक्षत्रे शुभनामयोगे ॥ 344 ॥
श्रीपार्श्वनाथायतने हि तस्मिन् संपूर्णतां हि अगमदयं च। सदा पुनातु प्रवरो हि ग्रंथो नो वश्च चित्तं जयति धरित्र्याम् ॥ 345 ॥
ज्ञानी ध्यानी मुनीन्द्रो मुनिगणमहितो नेमिचंद्रश्च नाम्ना। सिद्धान्तावारकर्ता सकलमुनिगणेषुच मुख्यत्वमाप ॥
योहि देवैः प्रपूज्यः सुरगुरुप्रतिमः द्वंद्वनिर्वर्जितांगः। सैव संपातु नो वः शिवपदसुखदं मंगलं वा करोतु ॥ 346 ॥

अर्थ:—यह सूर्यप्रकाश ग्रंथ संसार में प्रसिद्ध विचित्र शोभा से सुशोभित द्रोणी (दूनी) नगर में मध्यान्ह के समय राधा नक्षत्र शुभयोग में विशुद्ध भावों से श्रीपार्श्वनाथ दिगंबर जैन चैत्यालय में पूर्ण किया। यह ग्रंथ चिरकाल पर्यंत संसार में जैनधर्म की वृद्धि करो, हमारे चित्त को पवित्र करो।

अर्थ:—अनागत प्रकाशादिक के कर्ता और गोमट्टसार आदि महान ग्रंथों के निर्माता श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती मुनीश्वर का आभार (नेमिचंद्र ग्रंथकार) मानने के लिये विनय से श्री नेमिचन्द्र मुनीश्वर का गुणानुवाद करता है क्योंकि उनके अनागत प्रकाश से ही यह ग्रंथ निर्माण किया है। अतएव जिसने उपकार किया है उनका आभार मानना परमावश्यक है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ज्ञानी ध्यानी तपस्वी व समस्त मुनियों से मान्य थे जिन्होंने सिद्धांत ग्रंथ बनाये हैं जो देवों से पूज्य समस्त प्रकार के द्वंद्व से रहित मुनियों के स्वामी वृहस्पति के समान ऐसे श्री नेमिचन्द्र आचार्य ग्रंथकर्ता नेमिचन्द्र को मंगल प्रदान करो।

इति श्री मुनिनेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तिना कृतः अनागत प्रकाश ग्रंथस्तदनुसारतोविद्वद्वर श्रीनेमिचन्द्र
विरचिते श्री सूर्यप्रकाशनामग्रंथे श्रीकुंदकुंदस्वाम्गाद्युत्पत्तिवर्णनो नाम
प्रथमोध्यायः ॥
श्रीरस्तु-कल्याणमस्तु। श्री